UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182815
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 81.09 T62H P.G.H Acc No. 2287
Author : त्रिपाठी भोलानाथ
Title :

Osmania University Library

Osmania University Library

Call No. H 891.09 T 62H P.GH

Accession No. 2287

Author तिवारी भोलानाथ

Title हिन्दी गीत - काव्य

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी नीति-काव्य

(प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्० की उपाधि
के लिए स्वीकृत प्रबन्ध)

भोलानाथ तिवारी

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक :
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण, मई १९५८

मूल्य दस रुपए

मुद्रक :
नरसिंह नाथ भार्गव, बी० एस-सी
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स,
दरेसी ०२ आगरा।

उन पुनीत भावों के साथ
जिन्हें
व्यक्त करने में
भाषा
सदैव असफल रहेगी,
माता
यमुना देवी
और
पिता
रामजी तिवारी
को

निवेदन

हिन्दी कविता की नीतिधारा बड़ी लोकप्रिय रही है, पर हमारे अध्येताओं का ध्यान अभी तक इधर नहीं गया था। प्रस्तुत पुस्तक के रूप में इस धारा का प्रथम अध्ययन हिन्दी-संसार के समक्ष रखा जा रहा है।

वस्तुतः यह अध्ययन प्रारम्भिक-सा है। चाहते हुए भी एक प्रबन्ध की सीमा को देखते हुए बहुत-सी बातें नहीं ली जा सकी। दो-तीन प्रमुख बातों की ओर यहाँ संकेत किया जा रहा है—

(१) संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होते नीति-काव्य की धारा आधुनिक भाषाओं के साहित्यों में आई है, और उनका अधिकांश प्रायः वही है जो संस्कृत आदि में है। ऐसी स्थिति में गुजराती, मराठी, बंगला आदि के नीति-काव्य के साथ हिन्दी नीति-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है।[1]

(२) धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक या अन्य नीतियों के निर्धारण में किन-किन सामाजिक, आर्थिक या मनोवैज्ञानिक कारणों ने काम किया है, यह बात भी ध्यान देने की है।[2]

(३) मध्य-युग में फारसी का भी अध्ययन पर्याप्त होता था और फारसी के शेख सादी आदि बहुत से कवियों ने पर्याप्त नीति-काव्य लिखा है, अतएव हिन्दी नीति-काव्य पर फ़ारसी के प्रभाव की भी पूरी सम्भावना है।

उपर्युक्त बातें प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं आ सकीं इसका दुःख है। इधर

प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट—जो 'हिन्दी नीति-काव्य संग्रह' नाम से अलग छप रहा है—की भूमिका में इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित परिणाम दिए गए हैं।

मेरे एक परीक्षक ने अपनी रिपोर्ट में संकेत किया था कि इस प्रबन्ध में सत्य, धन, लोभ, वासना, धर्म आदि अनेकानेक विषयों को लेकर यह बतलाया गया है कि इनके सम्बन्ध में नीति-काव्य में क्या कहा गया है, पर लेखक ने यह नहीं बतलाया है कि ऐसा क्यों कहा गया है या समाज में इन बातों की मान्यता के पीछे कौन-से कारण काम कर रहे हैं। सत्यतः इस प्रकार के विषयों के साथ न्याय तभी हो सकता है, जब उनमें से प्रत्येक को चार-चार पाँच-पाँच पृष्ठ दिए जायँ, किन्तु ऐसा करने पर यह प्रबन्ध प्रस्तुत आकार के चौगुने में भी शायद समाप्त नहीं होता। इसीलिए इस प्रकार के अध्ययन को आवश्यक समझते हुए भी छोड़ देना पड़ा।

पंजाब, दिल्ली तथा आगरा विश्वविद्यालय से तीन अनुसंधित्सु इसी विषय पर डॉक्टरेट के लिए काम कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि मेरे प्रबन्ध की कमियाँ उनके प्रबन्धों में दूर हो जाएँगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए लिखे गए इस प्रबन्ध का शीर्षक था "हिन्दी नीति साहित्य", पर अध्ययन केवल "नीति-काव्य" तक ही सीमित रखा गया था।[1] अब नाम और विषय को सम्बद्ध करने की दृष्टि से इस प्रकाशित रूप में इसका नाम "हिन्दी नीति-काव्य" कर दिया गया है।

प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है।

पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमे नीति शब्द के धात्वर्थ, व्यापक अर्थ, संकुचित अर्थ तथा ग्रंथों में दिये गये अर्थों के परीक्षणोपरान्त उसकी सम्भावित परिभाषा के निर्धारण का प्रयास है। आगे नीति के देश, काल, पात्र तथा विषय आदि के अनुसार वर्गीकरण की ओर अंगुलि-निर्देश है। साथ ही नीति-काव्य के काव्यत्व आदि पर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय मे इस अध्ययन की आधार-सामग्री भी दी गई है, और उसे वर्गीकृत भी किया गया है।

दूसरे अध्याय मे हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—मे वर्णित नीति की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। वैदिक संस्कृत मे चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, वेदांग तथा उपवेद के नीति-अंश का सिंहावलोकन है और लौकिक सस्कृत में महाकाव्य, स्मृति, पुराण-उपपुराण, कथा तथा स्फुट काव्य आदि वर्गो को अलग-अलग लेकर सक्षेप में नीति की दृष्टि से देखा गया है। अन्त मे सस्कृत साहित्य मे नीति कथन के विकास की पाँच सीढ़ियाँ—निर्देश, उपदेश, सूक्ति, अन्योक्ति तथा औपदेशिक कथा—स्थिर की गई है। पालि साहित्य के अन्तर्गत पिटक (सुत्त, विनय तथा अभिधम्म) तथा अनुपिटक दोनों ही के नीति अंश पर प्रकाश डाला गया है। इसमें नीति की दृष्टि से धम्मपद तथा जातक विशेष महत्वपूर्ण है, अतएव उन पर स्वतन्त्र रूप से अपेक्षाकृत कुछ विस्तार से विचार किया गया है। प्राकृत साहित्य में नीति की दृष्टि से गाहासत्तसई तथा बज्जालग्ग ही प्रमुखतः

---

१ प्रस्तुत विषय पर कुछ दिन कार्य करने के बाद इन पंक्तियों के लेखक का ध्यान इस ओर गया कि शीर्षक 'साहित्य' है और अध्ययन का आधार है काव्य' मात्र—यह समस्या मैंने डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के समक्ष रखी। दोनों ही व्यक्तियों ने राय दी कि विषय का शीर्षक बदलने की आवश्यकता नहीं; भूमिका में इस बात को स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा। नीति की बातें प्रमुखतः काव्य तक ही सीमित है और साथ ही नीति-काव्य अपने में प्रबन्ध-लेखन के लिये पर्याप्त है, अतएव इसमें कोई गड़बड़ी नहीं है।

उल्लेख्य हैं। यों कुछ प्रबन्ध-काव्यों में भी यत्र-तत्र नीति की सामग्री मिल जाती है। समवेत रूप से प्राकृत का साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं है, इसी कारण संक्षेप में ही इस पर विचार किया जा सका है। अपभ्रंश साहित्य की धाराओं में शैव धारा को छोड़कर शेष तीनों ही (जैन, बौद्ध तथा ऐहिकतापरक) मे नीति की थोड़ी-बहुत बातें मिल जाती हैं। इस दृष्टि से विशेष महत्व की सामग्री पाहुड़-दोहा, सावयधम्म दोहा, सिद्ध-साहित्य तथा हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत छन्दो मे मिलती है। प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश की सामग्री भी प्रचुर नहीं है, अतः इस पर भी संक्षेप में विचार करके ही सन्तोष करे लेना पड़ा है।

तीसरे अध्याय में पूर्ववर्ती साहित्यों का हिन्दी नीति साहित्य पर प्रभाव दिखलाया गया है। आरम्भ में प्रभाव के सम्भाव्य स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। ये स्रोत प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो हैं। प्रत्यक्ष स्रोत का अर्थ है ग्रन्थों या उनके अनुवादों से सम्पर्क। परोक्ष स्रोत के साहित्यिक परम्परा सम्बन्धी एवं सांस्कृतिक दो उपभेद किये गये हैं। इन साहित्यों ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराओं एवं सांस्कृतिक स्रोत से परोक्षतः भी हिन्दी नीति साहित्य को प्रभावित किया है। प्रभाव प्रधानतः परम्परा, शैली, छन्द, अलङ्कार तथा भाव इन पाँच क्षेत्रों में सम्भव है, अतएव इन पर अलग-अलग विचार किया गया है। भाव के अन्तर्गत सामान्य विवेचन के अतिरिक्त सस्कृत-हिन्दी, पालि-हिन्दी, प्राकृत-हिन्दी तथा अपभ्रंश-हिन्दी के कुछ समानार्थी छन्द भी उदाहरणस्वरूप दिये गये है।

चौथे अध्याय मे हिन्दी साहित्य पर युग-प्रभाव का अध्ययन है। युग-प्रभाव विषय तथा दृष्टान्त दोनों ही क्षेत्रों में दिखलाया गया है।

पाँचवाँ अध्याय 'हिन्दी नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय' शीर्षक का है। धर्म-आचार, व्यवहार तथा समाज, राजनीति, नारी, स्वास्थ्य, खेती, व्यापार और शकुन के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न विषयों पर नीति ग्रन्थों से छन्दों को उद्धृत करते हुए प्रकाश डाला गया है और आवश्यकतानुसार उनकी समीक्षा भी की गई है।

छठा अध्याय नीति-काव्य के कला पक्ष का है। इसमें क्रम से हिन्दी नीति-काव्य में प्रयुक्त भाषा, रूपों, शैलियों, अलंकारों तथा छन्दों पर विचार किया गया है। अन्त में उपसंहार है, जिसमें पूरे अध्ययन का निष्कर्ष संक्षेप में दिया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सन् १९५० में आरम्भ किया गया था, पर पारिवारिक एव आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसे शीघ्र पूरा न किया जा सका। इतने दिनों के बाद भी इसे शायद ही पूरा कर पाता यदि पूज्य गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के आशीर्वाद का सम्बल न मिलता। समय-समय पर विषय को समझने तथा सामग्री एकत्र करने में श्रद्धेय डॉ० सूर्यकान्त, डॉ० दीनदयाल गुप्त, श्री भदन्त आनन्द

कौसल्यायन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, डॉ० उदयनारायण तिवारी, श्री वाचस्पति पाठक, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी तथा श्री जयचन्द राय आदि से पर्याप्त सहायता मिली है, जिसके लिए इन सब का हृदय से आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन के लिए विनोद पुस्तक मन्दिर के उत्साही संचालक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रूफ की गलतियाँ—प्रमुखतः संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों में—रह गई हैं। उनके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। शुद्धि-पत्र का उपयोग नहीं होता अतः नहीं दिया जा रहा है।

सम्मतियों, सुझावों और त्रुटि-निर्देशों के लिए आभारी हूँगा।

लेखक

———

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

अध्याय १—विषय-प्रवेश १-२५

नीति की परिभाषा : धात्वर्थ १, व्यापक अर्थ १-२, संकुचित अर्थ २, ग्रन्थों का प्रमाण २-४, निष्कर्ष ४, नीति का वर्गीकरण ४-५, नीति-काव्य ६-९, नीति-काव्य के रूप ९-१२, सामग्री १२-२३, सामग्री का वर्गीकरण २३-२५।

अध्याय २—पूर्ववर्ती साहित्यों में नीति २६-५४

संस्कृत साहित्य में नीति २६-४१, संस्कृत नीति साहित्य में विकास की दृष्टि से अवस्थाएँ ४१, पालि साहित्य में नीति ४१-४७, प्राकृत साहित्य में नीति ४७-५०, अपभ्रंश साहित्य में नीति ५०-५४।

अध्याय ३—पूर्ववर्ती साहित्यों का हिन्दी नीति-काव्य पर प्रभाव ५५-७९

प्रभाव के स्रोत ५५, प्रत्यक्ष स्रोत ५५-५६, परोक्ष स्रोत : साहित्यिक परम्परा का स्रोत ५६-५७, सांस्कृतिक स्रोत ५७, प्रभाव : (क) परम्परा ५८-६३, (ख) शैली ६३-५, (ग) छन्द ६५-६, (घ) अलंकार ६६-७ (ङ) भाव : सामान्य विवेचन ६७-८, धर्म और आचार ६८, समाज और व्यवहार ६८, राजनीति ६८, सामान्य ज्ञान ६८-९, विश्वास ६९, समानार्थी छन्द : संस्कृत-हिन्दी ६९-७१, पालि-हिन्दी ७१-७४, प्राकृत और हिन्दी ७४-६, अपभ्रंश-हिन्दी ७६-९।

अध्याय ४—हिन्दी नीति-काव्य पर युग-प्रभाव ८०-१२

प्रभाव की ऐतिहासिक स्थिति ८०-३, (अ) भावों पर युग-प्रभाव : प्राचीन नीति-काव्य : धर्म ८३-८, समाज ८८-९०, राजनीति ९०-२, आधुनिक नीति काव्य : धर्म ९२-८, राजा तथा कर्मचारी ९८-१०१, राष्ट्रीयता १०१-७, समाज १०७-१२, व्यवसाय ११२-७, मिश्रित ११७-१२, (आ) उदाहरणों पर युग-प्रभाव १२३-६।

अध्याय ५—हिन्दी नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय १२७-

(क) धर्म और आचार : सामान्य १२७-८, धर्म १२८-३१, ईश्वर गुरु १३६-९, संसार १३९-४०, शरीर

: १ :

विषय-प्रवेश

हिन्दी काव्य में वीर, सन्त, सूफी तथा शृङ्गार आदि धाराओं की भाँति ही नीति काव्य की भी एक स्पष्ट और विशद् धारा प्रवहमान रही है। इस धारा के महत्व के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इसकी एक एक बात जीवन के खरे अनुभवों से सिक्त है और एक ओर यदि वह भूत के अनुभवों का सार है, तो दूसरी ओर वर्तमान और भावी समाज की प्रदर्शिका भी है। हमारे समाज के लिए इस नीति काव्य के अनेकानेक छन्द और छन्दांश लोकोक्ति बन गए हैं और जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में वे जनता की समस्याओं को सुलझाते हैं, एवं उसके कन्धे पर हाथ रखकर दुख-सुख में उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार जीवन से उद्भूत और जीवन के लिए होने के कारण हमारे साहित्य की यह धारा अपना अत्यधिक महत्व रखती है। इस क्षेत्र में भारतीयों का लोहा पाश्चात्य विद्वानों[1] ने भी माना है और भारतीय नीति काव्य को नीति-साहित्य के क्षेत्र में विश्व का सर्व-श्रेष्ठ साहित्य घोषित किया है।

नीति की परिभाषा—

धात्वर्थ—नीति शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय्' धातु से है, जिसका अर्थ 'ले जाना' होता है। अर्थात् धातु की दृष्टि से "नीति" वह है जो "ले जाय" या "आगे ले जाय"।

व्यापक अर्थ—नीति के इस अर्थ को और स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि नीति का कार्य मनुष्य को जीवन में अग्रसर करना या आगे ले जाना है। यह "आगे ले जाना" केवल एक दिशा में न होकर अनेक दिशाओं में हो सकता है। स्थूल रूप से आध्यात्मिक, धार्मिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आचारिक आदि दिशाएँ हो सकती हैं। मानव-जीवन इन सभी दिशाओं में आगे बढ़ना चाहता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए नीति की एक परिभाषा यों भी दी

---

1 In one department of literature, that of the aphorism (gnomic poetry), the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation.

—*Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I, 1927, p. 2.*

जा सकती है कि "मनुष्य की सर्वोन्मुखी उन्नति की प्रदर्शिका ही नीति है"। नीति के इस व्यापक अर्थ को व्यापकतम रूप देते हुए और आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे ज्ञान चाहे वे किसी भी क्षेत्र के हों, उसे आगे ले जाने में सहायक होते हैं, अतः वे सभी नीति के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में दर्शन, धर्म-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आचार-शास्त्र, साहित्य, रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र आदि, अर्थात् कला, विज्ञान और वाणिज्य की सारी शाखाएँ-प्रशाखाएँ या और भी जो कुछ कार्य करने की युक्तियाँ, कलाएँ आदि हैं यदि उनसे मनुष्य तनिक भी आगे बढ़ता है तो वे 'नीति' हैं या 'नीति' के अन्तर्गत आती हैं।

यह नीति का व्यापकतम रूप है, जहाँ विश्व के सारे सत्यों, सारे शिवों और सारे सौन्दर्यों को वह ढक लेती है। किन्तु, यह उसे देखने की एक अन्तिम सीमा है। यह परिभाषा लेकर चलने में सामान्यतः जिसे नीति समझा जाता है उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता, अतः इस परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से दूषित समझकर छोड़ देना ही उचित होगा।

संकुचित अर्थ—'नीति' शब्द के कभी-कभी कुछ और अर्थों में भी प्रयोग मिलते हैं। जब हम कहते हैं "अमुक समस्या में या अमुक मामले में आपकी क्या नीति होगी ?" तो "नीति" से हमारा आशय किसी कार्य की सिद्धि के लिए चली जाने वाली चाल से होता है। नीति के "युक्ति", "उपाय" या "हिकमत" आदि अर्थ भी प्रायः इसके ही समीप पड़ते हैं। "नीति" का एक दूसरा अर्थ "दृष्टिकोण" भी होता है। जब हम किसी सरकार की अर्थ-नीति की आलोचना करने बैठते हैं तो हम आर्थिक योजनाओं में उसकी 'चाल' या 'युक्ति' की आलोचना के अतिरिक्त आर्थिक समस्याओं के प्रति उसके दृष्टिकोण की भी आलोचना करते है। 'नीति' का एक तीसरा अर्थ 'ले जाने' या 'ले चलने' की क्रिया, उसका भाव या ढंग भी होता है। कहना न होगा कि ऊपर के दृष्टिकोण में यदि अतिव्याप्ति दोष था तो इन सभी में अव्याप्ति दोष हैं। सामान्यतः प्रचलित अर्थों में नीति न तो उतनी व्यापक है और न इतनी संकुचित।

ग्रन्थों के प्रमाण—संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के बहुत से ग्रन्थों में नीति की परिभाषा तथा उसके विस्तार के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ सामग्री मिलती है, जिनमें प्रमुख ग्रन्थ महाभारत, कालिकापुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण, हरिवंश, शुक्रनीति, नीति-मंजरी, शब्द-कल्पद्रुम, हिन्दी विश्वकोष, हिन्दी शब्दसागर, विंटरनित्स का संस्कृत साहित्य का इतिहास तथा मोनियर विलियम का संस्कृत कोष आदि हैं। इनमें से कुछ ऐसे ग्रन्थों की सामग्री यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा जो नीति के स्वरूप को स्थिर करने तथा उसके अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक हों।

महाभारत—महाभारत के शान्तिपर्व के ५९वें अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्म से नीति-शास्त्र का विषय पूछा है। भीष्म ने बतलाया है कि सत्ययुग में सृष्टि-रचना के कुछ ही दिनों बाद सभी मनुष्य पाप-पथ पर चलने लगे और संसार में हाहाकार मच गया। देवता लोग घबराकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे अपना दुख कहा। ब्रह्मा ने विश्व को पाप-पथ से हटाने के लिए तुरन्त एक नीति-शास्त्र की रचना की जिसमें एक लाख अध्याय थे। रचना के बाद ब्रह्मा ने देवताओं से कहा कि इस नीति-शास्त्र के अध्ययन से निग्रह और अनुग्रह प्रदर्शनपूर्वक लोक-रक्षा करने की बुद्धि उत्पन्न होगी। इस नीति-शास्त्र को महादेव ने ग्रहण किया और प्रजा-वर्ग की आयु बहुत कम देखकर उसका एक 'शालाख्य' नाम का संक्षिप्त संस्करण बनाया जिसमें दस हजार अध्याय थे। इन्द्र को फिर भी यह ग्रन्थ संसार के लिए बड़ा लगा अतः उन्होंने बाहुदन्तक नाम का उसका और भी संक्षिप्त संस्करण तैयार किया, जिसमें पाँच हजार अध्याय थे। बृहस्पति ने इसको भी संक्षेप कर "बार्हस्पत्य" नामक नीति-शास्त्र लिखा जिसमें तीन हजार अध्याय थे। शुक्राचार्य को अब भी सन्तोष न हुआ और उन्होंने और भी संक्षेप कर एक हजार अध्यायों के नीति ग्रन्थ "शुक्रनीति" की रचना की। इस कथा की ऐतिहासिकता या सत्यता के विषय में यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं। इससे अपने काम के कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है :— (१) नीति की आवश्यकता मनुष्य को बहुत पहले से है। (२) नीति का अच्छी प्रकार विवेचन किया जाय तो वह विवेचन अत्यन्त बृहत् हो सकता है। (३) नीति का प्रधान ध्येय लोक-रक्षा की बुद्धि उत्पन्न करना है।

कालिकापुराण—कालिकापुराण के ८४वें अध्याय में भी नीति की परिभाषा या उसकी सीमाओं को निश्चित करने के विषय में कुछ उपयोगी सामग्री मिलती है। यह सामग्री महाराज सगर और महर्षि और्व के संवाद में है। सगर ने और्व से नीति के विषय मे पूछा है। सगर राजा है अतः और्व ने उनके प्रश्न के उत्तर में, नीति के विषय में कहते हुए भी प्रधानतः राजनीति का ही वर्णन किया है। फिर भी वह वर्णन इतना विस्तृत और बहुमुखी है कि उसमें अनायास ही धर्म, समाज और आचार के विषय में बहुत सी बातें आ गई हैं। संक्षेप में नीति में (१) सर्व-सामान्य के लिए शौच (आन्तरिक तथा बाह्य), प्रसन्नता, उत्साह, सत्य, सहिष्णुता, सच्चरित्रता, असूयाहीनता, अक्रोध, विपत्ति में धर्म, स्त्रियों को अधिकार में रखना तथा सबसे यथोचित व्यवहार आदि के विषय में उपदेश रहते हैं। (२) राजा के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की आवश्यकता तथा उसके प्रयोग, अनासक्त भाव से विश्व का भोग, पाप-कर्मों का त्याग और धर्म का अवलम्बन तथा शत्रु, मित्र एवं प्रजा-पालन सम्बन्धी व्यावहारिक एवं आन्तरिक बातों का उल्लेख रहता है।

शुक्रनीति—शुक्रनीति में नीति के सम्बन्ध में कई श्लोक हैं :

१. सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलंहि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥

(नीति-शास्त्र, धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा मोक्ष को देने वाला है। यह जगत का उपकारक तथा मर्यादा का पालक है।)

२. सर्वलोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या विना न हि ।
(सम्पूर्ण लोक के व्यवहार की स्थिति नीति के बिना नहीं।)

३. अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसद्यत्नतोनृपः ।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्चशत्रुजिल्लोक रंजकाः ॥

(इससे राजा नीति-शास्त्र का यत्न से अभ्यास करे, जिसके ज्ञान से राजा और मन्त्री आदि शत्रुओं के जेता और जगत के प्रिय होते हैं।)

नीति-मंजरी—द्याद्विवेद ने अपनी नीति-मंजरी में प्रथम श्लोक का भाष्य करते हुए लिखा है :—

एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः ।
(जो कर्तव्य और अकर्तव्य को स्पष्ट करे वही नीति है।)

वे आगे लिखते हैं—

इमांज्ञात्वा धर्मे रतिरधर्मे विरतिर्भवति ।
(इसके जान लेने में धर्म में रति और अधर्म में विरति होती है।)

निष्कर्ष—इस पृष्ठभूमि के आधार पर 'नीति' की परिभाषा दी जा सकती है : —

"समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, उन्हें 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं।"

नीति का वर्गीकरण—

'नीतियाँ' विभिन्न प्रकार की हैं। उनका वर्गीकरण निम्नांकित आधारों पर हो सकता है—

१. **देश**—देश के आधार पर विभिन्न देशों की नीति को अलग-अलग किया जा सकता है। जैसे भारतीय नीति, यूरोपीय नीति या चीनी नीति आदि।

२. **काल**—काल के आधार पर विभिन्न कालों की नीतियाँ वर्गीकृत की जा सकती हैं। जैसे प्राचीन नीति, मध्ययुगीन नीति या अर्वाचीन नीति आदि।

काल के आधार पर नीति के एककालिक, सामयिक या अस्थायी तथा सार्वकालिक, शाश्वत या स्थायी ये दो वर्ग भी बनाए जा सकते हैं।[१]

३. **पात्र**—पात्र के आधार पर छोटे-बड़े, राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु, दाता-मंगन तथा रक्षक-रक्षित आदि की नीति अलग-अलग हो सकती है।

४. **विषय**—विषय के आधार पर नीति के धार्मिक आचारिक, लोक-व्यवहार सम्बन्धी तथा राजनीतिक आदि वर्ग बनाए जा सकते हैं।

५. **व्यक्ति तथा समाज**—व्यक्ति और समाज के आधार पर भी नीति का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ नीतियाँ वैयक्तिक होती हैं जैसे मांस भक्षण न करना या मद्य न पीना आदि। आचार (नशा, सफाई तथा विचारों की उच्चता आदि), स्वास्थ्य, शकुन, नियमितता तथा कुछ धर्म (पूजा-पाठ तथा आस्तिकता-नास्तिकता, आदि) एवं जीविका (खेती, श्रम या व्यापार आदि) सम्बन्धी नीतियाँ भी इसी वर्ग की हैं। दूसरी ओर कुछ नीतियाँ सामाजिक होती हैं। लोक-व्यवहार तथा राज सम्बन्धी नीतियाँ सामाजिक ही हैं। इनकी आवश्यकता व्यक्ति को समाज में पड़ती है या ये समाज-सापेक्ष हैं। बहुत सी धार्मिक नीतियाँ (दया, सत्य, गर्व तथा नम्रता आदि विषयक) कुछ अंशों में वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक या समाज-सापेक्ष हैं, क्योंकि व्यक्ति इनके अनुकूल या प्रतिकूल आचरण समाज में ही करता है।[२]

---

१ नीति की कुछ बातें सामयिक महत्व की होती हैं और कुछ शाश्वत महत्व की। सामयिक नीति अस्थायी होती है और युग या काल की परिस्थिति के अनुकूल। इसका विकास या ह्रास होता है तथा इसमें परिवर्तन होते हैं। सार्वकालिक या शाश्वत नीति में प्रायः परिवर्तन नहीं होता। 'सच बोलना चाहिए', 'जीवों पर दया करनी चाहिए' या 'गर्व करना निन्द्य है'—शाश्वत नीति है। ये बातें जाने कब से मान्य हैं और सम्भवतः सर्वदा रहेंगी। दूसरी ओर 'युद्ध में प्राण देना ही जीवन की सार्थकता है' या 'नारी नरक का द्वार है' जैसी नीतियाँ अशाश्वत या सामयिक हैं। मध्ययुग में जब युद्धाधिक्य था, तथा भक्त या उनसे प्रभावित कवि अपनी दुर्बलता को नारी पर थोपकर पुरुष की उच्चता का निराधार डंका पीट रहे थे, इन दोनों का विकास हुआ और आज समय इतना परिवर्तित हो गया है कि इनकी मान्यता बिल्कुल समाप्त है।

२ नीति-कथन की शैली के आधार पर भी विभाजन हो सकता है पर तत्त्वतः वह विभाजन 'नीति' का न होकर 'नीति-साहित्य' या 'नीति-काव्य' का होगा।

नीति-काव्य और उसका काव्यत्व—

नीति-काव्य—ऊपर नीति की परिभाषा दी जा चुकी है। जिस काव्य[1] का विषय नीति हो, या दूसरे शब्दों में जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो, उसकी संज्ञा 'नीति-काव्य' है।[2]

काव्य के 'दृश्य' और 'श्रव्य' दो भेद किये गये हैं। श्रव्य के तीन उपभेद है—पद्य, गद्य और मिश्र। इनमें 'पद्य' की 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' दो शाखाएँ हैं। 'मुक्तक' शाखा 'पाठ्य' और 'प्रगीत' दो उपशाखाओं में विभाजित की गई है। नीति की कविताएँ प्रमुखतः इस 'पाठ्य' उपशाखा के ही अन्तर्गत आती है।[3] रहीम या वृन्द आदि के नीति-दोहे इसी प्रकार के (पाठ्य मुक्तक) हैं।

नीति-काव्य का काव्यत्व—नीति-काव्य के काव्यत्व के सम्बन्ध में कुछ

---

१ 'काव्य' की विभिन्न देशों में विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनमें कुछ प्रमुख

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् —भामह, काव्यालंकार;

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् —विश्वनाथ, साहित्य दर्पण;

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् —जगन्नाथ, रस-गंगाधर;

"कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" —रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि;

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason."

—*S. Johnson : Lives of Poets*;

"(Poetry) is the spontaneous overflow of powerful feelings..... ...(and) emotion recalled in tranquility."

—*Wordsworth : Preface to Lyrical Ballads.*

"Music when combined with pleasurable idea is Poetry."

—*E.A. Poe : Letter to B.*

ये हैं। इन्हीं के आधार पर कह सकते है—'सहृदय को अलोक-सामान्य आनन्द की अनुभूति कराने वाली शब्द-रचना काव्य है।'

2 "That kind of poetry, which aims or seems to aim at instruction as its object, making pleasure entirely subservient to this.....In the poems generally called didactic, the information or instruction given in the verse is accompanied with poetic reflection, illustrations and episodes etc."—चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड २, पृ० ५४६।

३ 'प्रमुखतः' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि पाठ्य मुक्तक के अतिरिक्त प्रगीत मुक्तक (या गीतिकाव्य, उदाहरणस्वरूप कबीर, सूर, मीरा तथा तुलसी के उपदेशात्मक एवं नीतिपरक गीत) या प्रबन्ध काव्य के अंश रूप (जैसे पृथ्वीराजरासो, पद्मावत या रामचरितमानस आदि के नीतिपरक छन्द) में भी नीति की कविताएँ हो सकी हैं।

लोगों को सन्देह रहा है। हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट (पृ० ६४) में नीति के कवियों के विषय में सम्भवतः इसीलिए कहा गया है—'इनकी कविता साहित्य कोटि में स्थान पाने योग्य चाहे न हो पर कहीं-कहीं चमत्कृत अवश्य है।'[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की काव्य-पद्धति पर विचार करते समय दोहावली के प्रसंग में कहा है—

'भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करने वाले दोहे तो काव्य के अन्तर्गत लिए जायेंगे पर नीतिपरक दोहे सूक्ति की श्रेणी में स्थान पायेंगे।'[२]

इतिहास में भी रीतिकाल के फुटकल कवियों के सामान्य परिचय में वे लिखते हैं—

'चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम कवि कहना ठीक नहीं समझते।·····ऐसी रचना करने वालों को हम कवि न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे।'[३]

इस आधार पर कुछ लोग कहते सुने गए हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि में नीति की कविता 'काव्य' न होकर 'सूक्ति' मात्र है। पर, यथार्थतः शुक्लजी के उपर्युक्त कथन सामान्य नीति-कविता के विषय में न होकर कुछ विशिष्ट लोगों की नीति-कविता के विषय में हैं। 'रहीम' के प्रसंग में वे कहते हैं—

'रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरे नीति के पद्य नहीं हैं; उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।'[४]

'ये (रहीम)····· पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे।'[५]

इसी प्रकार दीनदयाल गिरि, जो अन्योक्ति रूप में नीति की बातें कहने वालों में सर्वोपरि हैं, के सम्बन्ध में शुक्ल जी कहते है—

'ये एक अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिन्दी के और किसी कवि की नही हुईं।'[६]

---

१ हिन्दी सर्वे कमेटी के संयोजक तथा इस रिपोर्ट के लेखक थे लाला सीताराम और यह सन् १९३० में हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी।

२ गोस्वामी तुलसीदास, सं० २००८, काशी, पृ० ७१।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० १९९९, काशी, पृ० ३५५।

४ वही, पृ० २४२।

५ वही, पृ० २४०–१।

६ वही, पृ० ४२७।

इसका अर्थ यह है कि रहीम और दीनदयाल के नीति-काव्य को वे शुद्ध काव्य मानते हैं।

यों सामान्य दृष्टि से नीति-काव्य के काव्यत्व पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि काव्य और नीति का गठबन्धन हो सकता है या होना चाहिए या नहीं, और दूसरे यह कि नीति विषय को लेकर शुद्ध काव्य या उच्च कोटि के काव्य की रचना हो सकती है या नहीं।

पहले प्रश्न पर 'नीति और कविता', 'नीति और कला', 'कला कला के लिए', 'कला जीवन के लिए' तथा 'कला या कविता का उद्देश्य' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत बहुत पहले से विचार होता आया है। कुछ लोग कला या काव्य का उद्देश्य केवल 'आनन्द' मानते रहे हैं पर इसके विरुद्ध काव्य या कला को जीवन के लिए मानते हुए कुछ लोग उसमें नीति के समर्थक रहे हैं। कुछ लोगों ने दोनों का समन्वय उचित समझा है।[1] तत्वतः कला या काव्य का उद्देश्य आह्लादित करते हुए जीवन को

---

१ कुछ उद्धरण दर्शनीय हैं—

"Poetry is an art of imitation...with this end to teach and delight."
—*P. Sidney : An Apology for Poetry.*

"(Delight) is the chief, if not the only end of poetry, instruction can be admitted but in the second place, for poetry only instructs as it delights." —*J. Dryden : Defence of an Essay of Dramatic Poetry.*

"The end of writing is to instruct; the end of poetry is to instruct by pleasing." —*S. Johnson : Preface to Shakespeare.*

"The office of poetry is not moral instruction, but moral emulation, not doctrine but inspiration."
—*G. H. Lewes : Inner Life to Art.*

"नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।" —प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य।

"कवि संसार के शिक्षक है, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।"
—बंकिमचन्द्र : रामदहिन मिश्र के काव्य दर्पण (१९५१) मे पृ० ३० पर उद्धृत।

"Every author and every work of art is of some benefit to man, thus all art is didactic."
—*Dictionary of World Literary Terms, J. T. Shipley, 1955, p. 101.*

"Poet is to teach, to please or to do both." —*Horace, Ibid.*

विकसित करना है। श्रेष्ठ काव्य में यही बात मिलती है। पृष्ठ ८ पर प्रेमचन्द या बंकिमचन्द्र के उद्धरण इस दृष्टि से आदर्श माने जा सकते हैं, और इस आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य और नीति का गठबन्धन सर्वथा सम्भव है। रामायण, महाभारत, रघुवंश, मानस, गीतांजलि आदि सभी में यह बात पाई जाती है।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि 'नीति' विषय है, और कविता किसी भी विषय पर हो सकती है। यह कवि की काव्य-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसी विषय को लेकर काव्य की रचना करता है या पद्य की। ऐसी स्थिति मे यह भी मानना ही पड़ेगा कि नीति विषयक विषयों को लेकर भी उच्च-कोटि का काव्य लिखा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि यह कार्य कठिन है और इसीलिए नीति के कवि कम है, पद्यकार अधिक है।

नीति-काव्य के रूप—'नीति-काव्य के कितने रूप हो सकते है' इस प्रश्न पर स्पष्टतः कहीं विचार नहीं किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के नीतिकार कवियों पर विचार करते समय अपने इतिहास में तीन शब्दों (कवि, सूक्तिकार, पद्यकार या काव्य, सूक्ति, पद्य) का प्रयोग किया है। यद्यपि उनके ये प्रयोग कहीं-कहीं आत्मविरोधी भी हैं[1], पर इससे लगता है कि उनकी दृष्टि में नीति-काव्य के काव्य, सूक्ति और पद्य तीन रूप थे।

यहाँ 'काव्य' और 'सूक्ति' शब्द विचारणीय है। शुक्ल जी के अनुसार—

'जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।'[2]

इसका अर्थ यह है कि इन दोनों को शुक्ल जी बिल्कुल अलग दो चीजें मानते है। तत्त्वतः सुन्दर ढङ्ग से कही गई उक्ति या बात ही 'सूक्ति' या 'सुभाषित' है।

---

१ (क) ये (रहीम) पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे।····· रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं।—इतिहास, पृ० २४०-१ तथा २४२।
(ख) रीतिकाल के भीतर वृन्द, गिरिधर, घाघ और बेताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं। —वही, पृ० ३५५।
(ग) इन्होंने (बेताल ने) जोरदार पद्य कहे हैं। —वही, पृ० ३६०।
(घ) ये (गिरिधर) कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार नहीं। —वही, पृ० ३६०।

२ 'कविता क्या है', चिन्तामणि, भाग १, सन् १९५०, प्रयाग, पृ० १७१।

ऐसी स्थिति में 'सूक्ति' काव्य हो भी सकती है और नहीं भी।[१] इस प्रकार 'सूक्ति' और 'काव्य' को अलग-अलग वर्ग नहीं माना जा सकता। शुक्ल जी ने 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग यहाँ कोरी चमत्कारपूर्ण[२] कविता के लिये किया है[३] जो उचित नहीं कहा जा सकता।[४] इस संशोधन के साथ शुक्ल जी का वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है।

नीति-काव्य दो रूपों में उपलब्ध है—(१) सूक्ति, (२) पद्य।

'सूक्ति' में नीति की बातें सुन्दर ढङ्ग से कही जाती हैं और पद्य[५] में उन्हें सीधे शब्दों में छन्दबद्ध कर दिया जाता है। आगे सूक्ति को दो वर्गों मे रखा जा सकता है। एक प्रकार की सूक्ति वह होती है, जिसमें काव्य के विधायक तत्त्व होते हैं और दूसरी प्रकार की सूक्ति काव्य के विधायक तत्त्वों से शून्य होती है; चमत्कार या रचना-

---

१ ऊपर दी हुई सूक्तियों में रचना-चातुर्य के सहारे अप्रस्तुत दृष्टान्त का प्रभाव प्रस्तुत में आरोपित कर दिया गया है। इसी प्रकार की सूक्तियाँ कविता के अन्तर्गत आ सकती हैं।

—डॉ० श्यामसुन्दरदास : सतसई सप्तक, सन् १९३१, प्रयाग, पृ० १४ (प्रस्तावना)।

नीति विषयक कविता होने पर भी वह (वृन्द-सतसई) कवितागत विशेषताओं से रहित नहीं है।

—हरिऔध : हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, सं० १९९७, पृ० ४४७।

'शुक्ल जी के मत से स्पष्ट है कि सूक्ति काव्य नहीं है। पर, सूक्ति क्या, उक्ति विशेष भी काव्य होता है। जैसा कहा गया है—'उक्तिविशेषः काव्यम्' .....सूक्ति के लक्षण में शुक्ल जी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नहीं होतीं। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।

—विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण, १९५१, पटना, पृ० २४ (भूमिका

२ पण्डितराज जगन्नाथ आदि पुराने आचार्यों ने 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग 'रमणीयता' या 'अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने वाली विशेषता' के अर्थ में किया है पर अब 'चमत्कार' उस तत्त्व को कहते हैं जिसमें हृदय को फड़का देने की शक्ति हो, रसानुभूति कराने की नहीं।

३ जायसी ग्रन्थावली, काशी, सं० २००६, पृ० १६८।

४ .....को सूक्ति की संज्ञा देना सूक्ति शब्द के अर्थ को भ्रष्ट करना है।

—वही, पृ० २४।

५ जैसे—राग द्वेष इरषा मद मोहू। सपनेहुँ जनि इनके बस होहू।

—तुलसी सूक्त०, पृ० ६२२।

वैचित्र्य में ही उसका सूक्तित्व होता है ।[1] अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा उदाहरण आदि अलंकारों के सहारे कहे गये छन्द प्रथम प्रकार की सूक्तियों में आते हैं । यों इन प्रथम प्रकार की सूक्तियों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है । पहले वर्ग के छन्द काव्यत्व की दृष्टि से ऊँचे होते हैं और दूसरे वर्ग के अपेक्षाकृत निम्न । अन्योक्तियाँ या ऐसे छन्द जिनमें कवि अपने हृदय में अनुभूत तथ्य की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति कर पाठक के चित्त में तद्गत भाव को उद्बुद्ध कर सके या दूसरे शब्दों में भाव कवि की सहजानुभूति के रूप में परिणत होकर व्यक्त हो, पहले वर्ग के हैं ।[2] शेष दूसरे के ।[3] दूसरे वर्ग की सूक्तियों में इस सहजानुभूति का अभाव होता है इसी कारण वे पाठकों में सफलता के साथ भावों का स्फुरण नहीं करा पाती ।

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि नीति-काव्य के तीन रूप है । एक तो वह जिसमें केवल पद्यात्मकता है । इसे 'पद्य' या 'पद्यमात्र' कह सकते है । गिरिधर की अधिकांश कुण्डलियाँ, सन्त कवियों की अधिकांश साखियाँ, अन्य भक्त कवियों के अधिकांश नीति छन्द और टोडरमल, बीरबल, गंग, घाघ, बैताल तथा भड्डरी आदि का नीति-साहित्य इसी श्रेणी का है । दूसरा रूप वह है जिसमें चमत्कार हो । इस प्रकार के नीति-काव्य से हृदय फड़क उठता है पर काव्य की यथार्थ रसानुभूति नहीं होती । इसे चमत्कार मात्र वाला नीति-काव्य कह सकते है । कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, दीनदयाल, रामचरित उपाध्याय तथा महात्मा भगवानदीन के बहुत से नीति के छन्द इस वर्ग के हैं । तीसरा रूप वह है जिसमें यथार्थ रूप में काव्यत्व मिलता है । तुलसी, रहीम, वृन्द के कुछ नीति दोहे तथा दीनदयाल गिरि की बहुत सी अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं ।

हिन्दी नीति-काव्य में सबसे अधिक छन्द 'पद्यमात्र' है और सबसे कम छन्द यथार्थ काव्य । ऐसी स्थिति में सभी नीतिकार कवियों को 'कवि' कहना या नीति के

---

१ जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरन छव-तीन ।
तुलसी देखु विचारि हिय, है यह मतो प्रवीन ।। —सतसई सप्तक, पृ० १४ ।

२ सर सूखे पंछी उड़ै, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिं ।। —रहिमन विलास, पृ० २६ ।
या
बाग़बाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे ।
जिन पै तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे ।। —साहिब लखनवी ।

३ पिसुन छल्यौ नर सुजन सों करत बिसास न चूकि ।
जैसे दाध्यौ दूध कौ पीवत छाछहि फूंकि ।। —सतसई सप्तक, पृ० १७ ।

सभी छंदों को 'काव्य' कहना वैज्ञानिक नहीं है। पर इन दोनों के लिए वैज्ञानिक और उचित शब्द न मिल सके और 'काव्य' तथा 'कवि' सामान्यतः बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, अतएव इस प्रबन्ध में भी इन दोनों का उस व्यापक अर्थ में ही प्रयोग किया गया है।

हिन्दी नीति-काव्य—

सामग्री—नीति और उपदेश से हमारी सांस्कृतिक परम्परा ओत-प्रोत है। हमारा साहित्य भी उससे उतना ही भरा-पूरा है। यह कहने में तनिक भी अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी के आदिकाल से आधुनिक काल तक ऐसे कवि बहुत ही कम होंगे जिनकी रचनाओं में नीति और उपदेश के अंश बिल्कुल न हों। विभिन्न कवियों में इस प्रकार की प्राप्त सारी सामग्री नीति-काव्य के अन्तर्गत आयेगी पर इस प्रकार की केवल कुछ पंक्तियों या छन्दों के रचयिता होने के कारण ही इन सभी कवियों को नीति के कवियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। नीतिकार या नीति के कवि केवल उन्हीं को कह सकते है जिन्होंने इस प्रकार की रचना अपेक्षाकृत कुछ अधिक मात्रा में की हो। इस प्रकार के नीतिकार कवियों की भी दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। एक तो वे हैं जो प्रमुख रूप से नीति के कवि हैं और इस रूप में ही हिन्दी-साहित्य में उनकी ख्याति है। उदाहरणार्थ, रहीम, वृन्द, घाघ, भड्डरी, गिरिधर, बैताल तथा दीनदयाल इसी प्रकार के कवि हैं। कबीर और तुलसी का प्रमुख रूप से निर्गुण काव्य-धारा तथा राम-काव्यधारा के कवि होने पर भी, अपने काव्य में उपदेशात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा है, साथ ही इन लोगों ने नीति और उपदेश की रचना पर्याप्त मात्रा में की है। अतएव इन दोनों को भी नीति के प्रमुख कवियों में स्थान दिया जा सकता है। अप्रसिद्ध या अल्पप्रसिद्ध कवियों में देवीदास, रतनावली, सम्मन तथा महात्मा भगवानदीन आदि भी इसी श्रेणी के अधिकारी हैं।

दूसरे प्रकार के कवि वे हैं जिन्हें नीति-काव्य के गौण कवि कहा जा सकता है। इस वर्ग में लगभग पौने दो सौ कवि हैं।

यहाँ प्रमुख और गौण दोनों ही श्रेणी के कवियों की सूची, उनकी नीति-रचनाओं के साथ काल-क्रम से दी जा रही है।

कवि	नीति-रचनाएँ
गोरखनाथ (लगभग १०वी सदी)	उपदेश के फुटकर छन्द
चन्दवरदायी (१२वीं सदी)	'पृथ्वीराजरासो' के नीति के छन्द
योगचन्द्र (१२वीं सदी)	'दोहा सार'[1] के उपदेश और नीति के छन्द

१ ये रचनाएँ हिन्दी और अपभ्रंश के सन्धि-स्थल पर हैं। इन्हें कुछ लोग अपभ्रंश की और कुछ लोग हिन्दी की मानते हैं।

कवि	नीति-रचनाएँ
जगनिक (१३वीं सदी)	'आल्ह खंड' के नीति के छन्द
धर्मसूरि (१३वीं सदी)	'जम्बू स्वामी रासा'[1] के उपदेश एवं नीति के छन्द
कबीर (१५वीं सदी)	उपदेश और नीति की साखियाँ तथा पद
रैदास (१५वीं सदी)	उपदेशात्मक साखियाँ तथा पद
गुरु नानक (जन्म १४६९ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
ईश्वरदास (रचना-काल १५०० ई० के आस-पास)	सत्यवती की कथा के नीति छन्द
ठाकुर सी (रचना-काल १६वीं सदी प्रथम चरण)	'कृपण चरित्र'
जायसी (१४९४-१५४२ ई०)	'पद्मावत' तथा 'अखरावट' के नीति और उपदेश के छन्द
देवीदास (रचना-काल १६वीं सदी पूर्वार्द्ध)	'देवदास का कवित्त'
नरहरि (१५०५-१६१० ई०)	छप्पय
व्यासजी (१५१०-१६१२ ई०)	साखियाँ
टोडरमल (१५२३-१५८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
बीरबल (१५२८-१५८५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
तुलसी (१५३२-१६२३ ई०)	'दोहावली', 'सतसई' तथा 'मानस' के नीति और उपदेश के छन्द
रतनावली (१६वीं सदी)	'दोहावली'
गंग (१५३८-१६२५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
कुशललाल (रचना-काल १६वीं सदी मध्य)	माधवानल-कामकंदला के नीति के छन्द
अग्रदास (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'कुण्डलिया' के नीति के छन्द
कादिर (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	नीति के फुटकर छन्द
जमाल (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	नीति के फुटकर दोहे

१ ये रचनाएँ हिन्दी और अपभ्रंश के सन्धि-स्थल पर हैं। इन्हें कुछ लोग अपभ्रंश की और कुछ लोग हिन्दी की मानते हैं।

कवि	नीति-रचनाएँ
मनोहर (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'शत प्रश्नोत्तरी' के फुटकर नीति के दोहे
दादू (१५४४-१६०३ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
केशव (१५५५-१६१७ ई०)	'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित्र' तथा 'विज्ञान गीता' के नीति के छन्द
रहीम (१५५६-१६२६ ई०)	'दोहावली'
अल्लूजी (जन्म १५६३ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
रज्जबजी (१५६७-१६८९ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
गरीबदास (१५७५-१६३६ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ
परिमल (रचना-काल १६०० ई० कुछ पूर्व)	'श्रीपाल चरित' के उपदेशात्मक छन्द
महानन्दि देव (,,)	'आनन्द तिलक' के नीति के छन्द
उदयराज (रचना-काल १६०० ई० के आस-पास)	राजनीति विषयक फुटकर छन्द
रूपचन्द जैन (रचना-काल १६०० ई० के आस-पास)	'परमार्थी दोहा शतक'
बनारसीदास जैन (जन्म १५८६ ई०)	'ज्ञान बावनी' तथा फुटकर उपदेशात्मक पद
उसमान (रचना-काल १६१३ ई० के आस-पास)	चित्रावली के नीति छन्द
परशुराम (रचना-काल १६२० ई० के आस-पास)	नीति के फुटकर दोहे
कुंवरपाल (रचना-काल १७ वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०)	नीति से फुटकर छन्द
बिहारी (१६०३-१६६३ ई०)	'बिहारी सतसई' के नीति के दोहे
मतिराम (जन्म लगभग १६१७ ई०)	'मतिराम सतसई' के नीति के दोहे
गुरु तेगबहादुर (जन्म १६२२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
जिनहर्ष (रचना-काल १६५० ई० के लगभग)	'उपदेश छत्तीसी'

कवि	नीति-रचनाएँ
गोपालचन्द्र मिश्र (जन्म १६३३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
अहमद (रचना-काल १७ वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर दोहे
खेमदास (रचना-काल १७वीं सदी मध्य)	'नसीहतनामा'
रसनिधि (रचना-काल १६६० ई० के लगभग)	'रतन हजारा' के नीति के दोहे
वृन्द (१६४३–१७२३ ई०)	'वृन्द सतसई'
छत्रसाल (जन्म १६४९ ई०)	'नीति मंजरी'
कुलपति (रचना-काल १७वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'कुलपति सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति के फुटकर छन्द
भगवतीदास (रचना-काल १७वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'योगीरासा' तथा 'खींचड़ी रासा' के उपदेश तथा नीति के छन्द
बीरभान (१७वीं सदी)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
जयदेव (१७वीं सदी)	नीति के फुटकर छन्द
प्राणनाथ (१७वीं सदी)	नीति के फुटकर छन्द
जान (१७वी सदी)	'सिषसागर पंद नामा', 'चेतन नामा' 'सिषग्रंथ', 'सुधासिष', 'बुधिदायक' 'बुधिदीप', 'सत्तनावा', 'बर्न नामा' तथा 'ग्रन्थ पंदनामा लुकमान का' के उपदेश तथा नीति के छन्द
जिनरंग सूरि (रचना-काल १७वीं सदी अन्तिम चरण)	'प्रबोध बावनी'
वीरदास (रचना-काल १७वीं सदी अन्तिम चरण)	'सीख पचीसी'
जगजीवनदास (१६७०–१७६१ ई०)	उपदेश तथा नीति की कुछ साखियाँ तथा पद
ज्ञानतराय (जन्म १६७४ ई०)	'उपदेश शतक', 'सज्जन गुण दशक' 'दान बावनी' तथा 'पूरण पंचासिका'
बेताल (जन्म १६७७ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
रघुनाथ (रचना-काल १८वीं सदी आरम्भ)	नीति के फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
दयाराम (रचना-काल १८वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
श्रीपति (रचना-काल १७२० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
घाघ (जन्म १६९६ ई०)	व्यवहार, खेती तथा स्वास्थ्य विषयक छन्द या छन्दाश
चरनदास (१७०३–१७८२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद एवं 'ज्ञान स्वरोदय' के शकुन के छन्द
सहजोबाई (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	उपदेश और नीति की कुछ साखियाँ
भूपति (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	'भूपति सतसई' के नीति के दोहे
जसुराम कवि (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	'राजनीति'
गिरिधर (जन्म १७१३ ई०)	'गिरिधर की कुण्डलियाँ'
ब्रजपाल (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति संग्रह'
अमृत कवि (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'राजनीति'
श्रीनाथ शर्मा (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'अन्योक्ति मंजूषा'
ठाकुर, असनीवाले (जन्म १७३५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
उम्मेदराम (जन्म १७४३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
तुलसी साहब (जन्म लगभग १७५३ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
देवीदास (रचना-काल १७९० ई० के लगभग)	'राजनीति'
रामचरण (रचना-काल १७९० ई० के लगभग)	'समतानिवास ग्रन्थ'
खींवड़ा (रचना-काल १८०० ई० से पूर्व)	'खींवड़ा का दूहा'
चन्दन (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	'चन्दन सतसई' के नीति के दोहे
दयाबाई (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	'दयाबोध' के नीति और उपदेश के छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
व्यास (रचना-काल १८वी सदी अन्तिम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
चतुर्भुजदास (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	मधुमालती के नीति-छन्द
बोधा (जन्म १८वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द
गरीब गिर (रचना-काल १८००ई० के पूर्व)	'जोग पावडी' नीति के छन्द
भैया भगवतीदास (१८वीं सदी)	नीति तथा उपदेश के फुटकर छन्द तथा 'अनित्य पच्चीसिका'
चेतन (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	अध्यात्म बारहखड़ी
परमानन्द (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	'नीति सारावली', 'नीति सुधा मन्दाकिनी', 'नीति मुक्तावली' तथा 'राजनीति मंजरी'
बेनी, रायबरेली वाले (रचना-काल १८०० ई० के आसपास)	'भँड़ौवा संग्रह' के नीति के छन्द
कृपाराम (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	नीति के फुटकर सोरठे
हित वृन्दावनदास (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	नीति-कुण्डलियाँ
दयाराम (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'दयाराम सतसई' के नीति के छन्द
जगदीशलाल गोस्वामी (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'षट उपदेश' तथा 'नीति अष्टक'
रामसहायदास (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'राम सतसई' तथा 'ककहरा' के नीति तथा उपदेश के छन्द
सम्मन (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
बाँकीदास (१७८१–१८३३ ई०)	'नीति मंजरी', 'कृपण दर्पण', 'संतोष बावनी' तथा 'चुगल मुख चपेटिका' आदि
जैकेहरि (रचना-काल १९वीं सदी दूसरा चरण)	'भूप-भूषण'

कवि	नीति-रचनाएँ
विश्वनाथसिंह (जन्म १७८६ ई०)	'ध्रुवाष्टक', 'अवाध नीति' तथा 'उत्तम नीति चन्द्रिका'
दयाल (रचना-काल १६वीं सदी दूसरा चरण)	नीति के फुटकर छन्द
रसिक गोविन्द (रचना-काल १६वीं सदी पूर्वार्द्ध)	'कलियुग रासो' के नीति छन्द
निहाल (रचना-काल १६वी सदी पूर्वार्द्ध)	'सुनीति-रत्नाकर' तथा 'सुनीति-पंथ प्रकाश'
दीनदयाल गिरि (१८०२–१८५८ ई०)	'अन्योक्ति कल्पद्रुम' तथा 'दृष्टान्त तरंगिणी'
लक्ष्मणसिंह (जन्म १८०७ ई०)	'नृप नीति शतक' तथा 'समय नीति शतक'
शिवबक्ससिंह (रचना-काल १८५० ई० के पूर्व)	नीति की कुछ कुण्डलियाँ
विष्णुदत्त (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'राजनीति चन्द्रिका'
अम्बुज (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
बिहारीप्रसाद (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'नीति प्रकाश'
गोविन्द रघुनाथ थत्ती (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'शरण्य नीति'
दीनजी (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'अन्योक्ति मंजूषा'
पलटू (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ और कुण्डलियाँ
ठाकुर (रचना-काल १८५०ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
अनीस (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
रामदया (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'सभाजीत सर्वनीति'

कवि	नीति-रचनाएं
बुधजन (१६वीं सदी)	'बुधजन सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति और उपदेश के फुटकर पद
भूधरदास (१६वी सदी)	'भूधर शतक' तथा 'पार्श्व पुराण' के नीति के छन्द
रामहित सिंह (रचना-काल १८६० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
बख्तावर जी (जन्म १८१३ ई०)	'अन्योक्ति प्रकाश'
प्रधान (जन्म १८१३ ई०)	'कवित्त राजनीति' तथा फुटकर छन्द
रामावतारदास (रचना-काल १८७० ई० के लगभग)	'सन्तविलास' के नीति के छन्द
मथुरादास (रचना-काल १८७० ई० के आस-पास)	'नीति विलास'
शिवचन्द्र (रचना-काल १६वी सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति वाक्यामृत'
मजबूतसिंह (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति चन्द्रिका'
गुलाबराम राव (रचना-काल १६वी सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति मंजरी'
ब्रज (जन्म १८२२ ई०)	'नीति मार्तण्ड', 'सुतोपदेश', 'नीति रत्नाकर' तथा 'नीति प्रकाश'
गुलाब जी (जन्म १८३० ई०)	'नीति सिन्धु', 'नीति मंजरी', 'नीति चन्द्र' तथा 'मूर्ख शतक'
गिरिधरदास (१८३३–१८६० ई०)	नीति के कुछ दोहे
रामप्रसाद तिवारी (१८४०-१६०५ ई०)	'सुताप्रबोध' तथा 'नीति-सुधा तरंगिणी' के नीति के छन्द
गोविन्द गिल्ला भाई (जन्म १८४८)	अन्योक्तियाँ तथा नीति के फुटकर छन्द
पतितदास (रचना-काल १६००ई० के पूर्व)	'दोहावली' के नीति के छन्द
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द एवं मुकरिया
चिम्मनलाल (जन्म १८५३ ई०)	'नीति शिरोमणि'
बालाबख्श (जन्म १८५५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएं
प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०)	'लोकोक्ति शतक' तथा अन्य फुटकर छन्द
जानकीप्रसाद पवांर (रचना-काल १९०० ई० के लगभग)	'नीति विलास'
बालकृष्ण चौबे (रचना-काल १९०० ई० के लगभग)	'नीति सार'
पाटन (रचना-काल १९०० के लगभग)	'ज्ञान सरोवर' के नीति-छन्द
सरयूप्रसाद (जन्म १८६२ ई०)	'नसीहतनामा' तथा 'अलिफनामा'
शिवसम्पति (जन्म १८६३ ई०)	'नीति चन्द्रिका' तथा 'नीति शतक'
जगदीशलाल (जन्म १८६३ ई०)	'नीति अष्टक'
रामनाथ (जन्म १८६३ ई०)	'नीतिसार' तथा 'नीति शतक'
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म १८६५ ई०)	'हरिऔध सतसई' तथा 'दिव्य दोहावली' के नीति-छन्द
रामेश्वर 'करुण' (रचना-काल २०वीं सदी प्रथम चरण)	'करुण सतसई' के नीति के छन्द
दयाशंकर मिश्र (रचना-काल २०वीं सदी प्रथम चरण	'सदाचार सोपान'
हरदीन त्रिपाठी (रचना-काल २०वीं सदी प्रथम चरण)	'सामान्य नीति काव्य'
रामचरित उपाध्याय (जन्म १८७२ ई०)	'ब्रज सतसई' के नीति के छन्द, 'सूक्ति शतक' तथा 'उपदेश रत्नमाला'
सैयद अमीरअली 'मीर' (१८७३-१९३७ ई०)	'नीति दर्पण' तथा 'अन्योक्ति शतक'
दामोदरसहायसिंह 'कवि किंकर' (जन्म १८७५ ई०)	'सुधा सरोवर' के 'नीति निचय' भाग के छन्द
चतुरसिंह (जन्म १८७९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
गुरु अमरदास (जन्म १८७९ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
महेशचन्द्र प्रसाद (रचना-काल १९३० के आस-पास)	'स्वदेश सतसई' के नीति के छन्द
रूपनारायण पाण्डेय (जन्म १८८४ ई०)	'नीति रत्नमाला' तथा 'नारी नीति'
महात्मा भगवानदीन (जन्म १८८४ ई०)	'नीति के दोहे'

कवि	नीति-रचनाएँ
उल्फतसिंह 'निर्भय' (रचना-काल १९३७ के आस-पास)	'किसान सतसई' के नीति विषयक छन्द
टेकचन्द (रचना-काल १९३७ के आसपास	'टेकचन्द सतसई' के नीति के छन्द
मैथिलीशरण गुप्त (जन्म १८८६ ई०)	'भारत भारती' तथा अन्य बहुत सी रचनाओं के उपदेश एवं नीति के छन्द
लोचनप्रसाद पांडेय (जन्म १८८७ ई०)	'नीति कविता'
रामनरेश त्रिपाठी (जन्म १८८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द तथा पद्यबद्ध नीति कथाएँ
वियोगी हरि (जन्म १८९६ ई०)	'वीर सतसई' के नीति के छन्द
मोहनसिंह (जन्म १८९९ ई०)	'मोहन सतसई' के नीति छन्द तथा 'नीति शतक'
शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' (रचना-काल आधुनिक काल)	'सिरस नीति सतसई'
दुलारेलाल भार्गव (जन्म १९०१ ई०)	'दुलारे दोहावली' के नीति के छन्द
जगनसिंह सेंगर (जन्म १९०३ ई०)	'किसान सतसई' के नीति के छन्द
रामधारीसिंह 'दिनकर' (जन्म १९०८ ई०)	'नए सुभाषित'
कुलदीपा (रचना-काल १९३८ ई० के लगभग)	'सहस्र दोहावली' के नीति के छन्द
रामस्वरूप मिश्र (रचना-काल २०वीं सदी मध्य)	'सुविचार सतसई'
राजेशदयाल श्रीवास्तव (जन्म १९२४)	'राजेश सतसई' के नीति के छन्द
दयाशंकर दीक्षित (रचना-काल २० वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द

हिन्दी के कुछ छोटे-मोटे ऐसे नीतिकार कवियों का भी पता चला है जिनके काल-निर्णय के लिए आधार का अभाव है। इनकी सूची वर्णानुक्रम से दी जा रही है।

कवि	नीति-रचनाएँ
अत्ता कवि	नीति के फुटकर छन्द
अनाथ	सर्वसार भाषा उपदेश
उमादास	नवरत्न
उम्मरदान	मदिरा विरोधी तथा अन्य नीति विषयक फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
कालू	कालू की साखी
किशन कवि	उपदेश बावनी
किसनिया	किसनिया का दूहा
केवलकृष्ण शर्मा	नीति पचीसी
क्षमा हंस	बावनी
गोपाल	शिक्षा चातुर्य
चिम्मनसिंह	प्रश्नोत्तर नीति शतक
जनार्दन भट्ट	व्यौहार निर्नय
त्रिलोकसिंह	राजनीति के दोहे
पार्वती	नीति के फुटकर छन्द
प्रतापसिंह	नीति मंजरी
भडुरी	खेती तथा शकुन के फुटकर छन्द
भीखजन	भीखजन बावनी के नीति के छन्द
लालचन्द	मूरख सोलही
विनययत्ति	अन्योक्ति बावनी
वृन्दावनसिंह	विवेक लछन बेलि
सुखलाल	दस्तूर अमल
सुदर्शनशाह	सभासार
हित कवि	सभा प्रकाश

उपर्युक्त सूची पर दृष्टि दौड़ाने से स्पष्ट हो जाता है कि नीति-काव्य की सामग्री हिन्दी के आदि काल में अधिक नहीं है। मुक्तक रूप में केवल गोरखनाथ तथा योगचन्द्र के कुछ छन्द हैं तथा प्रबन्ध-काव्यों के अंशरूप में चन्द के पृथ्वीराजरासो, जगनिक के आल्हखण्ड तथा जैन कवि धर्मसूरि के 'जम्बूस्वामी रासा' के नीति अंश। इनमें जगनिक के 'आल्हखण्ड' की कोई पुरानी प्रति उपलब्ध न होने से यह कहना कठिन है कि इसके नीति-छन्दों में कितना अंश आदि काल का है और कितना बाद का। चन्द के पृथ्वीराजरासो की स्थिति भी इससे बहुत भिन्न नहीं है। इसकी कुछ पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हैं, पर अभी तक उनकी पूरी छान-बीन करके पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों पर पाठ-निर्णय नहीं हुआ है।[1] ऐसी स्थिति में इसका ६१वाँ समय जो नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, तथा अन्य भी कितने अंशों में आदिकाल की या चन्द की रचना

---

१ इधर डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसका वैज्ञानिक सम्पादन कर रहे है पर अभी तक कार्य पूरा नहीं हुआ है।

है, कहना कठिन है। फिर भी इनके मूल स्वर आदिकालीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी का मध्ययुग (भक्तिकाल और रीतिकाल) नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न हैं। आधुनिक युग में मध्ययुग से कम परन्तु आदिकाल से अधिक सामग्री है। इन दोनों ही युगों के, विशेषतः पुराने कवियों में कबीर, जायसी, तुलसी तथा बिहारी आदि कुछ कवियों को छोड़कर अधिकतर की रचनाओं के सुसम्पादित संस्करण नहीं प्रकाशित हुए हैं फिर भी इनमें अधिकांश की रचनाओं के विषय में विशेष सन्देह की गुंजायश नहीं है। जिनके सम्बन्ध में सन्देह है वे घाघ, भड्डरी तथा सम्मन[1] हैं। इन तीनों ही के छन्दों के संग्रह प्रमुखतः मौखिक आधार पर किये गये हैं, अतः इनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। इन तीनों में भी 'घाघ' की समस्या और भी कठिन है। हिन्दी के विद्वान इन्हें अकबर के समकालीन, कन्नौज-निवासी हिन्दी का एक कवि मानते हैं पर दूसरी ओर आसामी के विद्वान इन्हें 'डाक' नाम से आसामी का 'लोकनीतिकार' मानते हैं। इनके छन्द आसामी में 'डाकार वचन' नाम से प्रसिद्ध हैं।[2]

पर यह सब जो भी सामग्री हिन्दी में उपलब्ध है हिन्दी के नीति-काव्य के अन्तर्गत तो आयेगी ही। संदिग्धता उनके रचयिता या कुछ अंशों में काल के सम्बन्ध में ही सम्भव है, उनके हिन्दी नीति-काव्य होने के सम्बन्ध में नहीं। जहाँ तक घाघ के छन्दों का सम्बन्ध है वे लोक-परम्परा में आते हैं और लोक-परम्परा में किसी आसामी लोक कवि की रचनाओं का अनूदित होकर इस प्रकार उत्तरी भारत के कई प्रान्तों में गाँव-गाँव और घर-घर प्रचलित हो जाना गले नहीं उतरता। ऐसी स्थिति में उनके भी हिन्दी-क्षेत्र के ही किसी एक या एक से अधिक हिन्दी रचयिता की रचना होने की ही सम्भावना दिखाई पड़ती है। यों 'डाक' नाम से 'घाघ' आसामी लोक कवि माने जाते हैं पर आसाम के अतिरिक्त काश्मीर, गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिणी भारत, उड़ीसा और बंगाल में भी घाघ के छन्दों से मिलते-जुलते छन्द भाषा के अन्तर के साथ प्रचलित हैं।[3] इस ज्ञान और अभिव्यक्ति के ऐक्य और भाषाओं की विभिन्नता के रहस्य के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है।

सामग्री का वर्गीकरण—उपर्युक्त पूर्ण सामग्री के मुख्यतः दो वर्ग बनाए जा

---

१ सम्मन की एक ७२ छन्दों की पोथी छतरपुर में है पर उस पर लिपि-काल नहीं है।

2 *B. K. Barua : Assamese Literature, Bombay, 1941, p. 8 and 61-2.*

३ घाघ और भड्डरी : सं० रामनरेश त्रिपाठी, सन् १९४९, पृ० ३।

सकते हैं। पहला वर्ग मुक्तक रूप (जैसे रहीम, वृंद, गिरिधर, दीनदयाल या भगवानदीन आदि के नीति-छन्द) में प्राप्त सामग्री का, और दूसरा प्रबन्ध-काव्यों[1] के अंश रूप (पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस या रामचन्द्रिका आदि के नीति अंश) में प्राप्त का।

संस्कृत पंचतंत्र तथा पालि के जातकों की औपदेशिक कथाओं की भाँति की हिन्दी में भी कुछ पद्यबद्ध औपदेशिक कथाएँ लिखी गई हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी की इस प्रकार की एक कथा आगे शैली पर विचार करते समय उद्धृत भी की गई है। इस प्रकार की रचनाओं के लिए एक तीसरा वर्ग भी बनाया जा सकता है, यद्यपि ऐसी रचनाएँ बहुत ही कम हुई हैं, और जो हुई भी हैं उनमें अधिकतर बालोपयोगी हैं।

मुक्तक रूप में प्राप्त हिन्दी नीति-काव्य को निम्नाङ्कित तीन उप-वर्गों में रखा जा सकता है :—

(क) नीति की फुटकर कविताएँ—जैसे गंग, बीरबल तथा टोडरमल आदि प्राचीन और रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार एवं रामचरित उपाध्याय आदि नवीन कवियों के नीति के फुटकर छन्द।

(ख) नीति की मुक्तक कविताओं के संग्रह—इसके कई भेद किये जा सकते हैं :—

१. सतसई रूप में संग्रह, जैसे 'वृंद सतसई'।
२. सतसई से बड़े संग्रह, जैसे महात्मा भगवानदीन के 'नीति के दोहे"।
३. सतसई से छोटे संग्रह, जैसे 'रहीम दोहावली', छत्रसाल की 'नीति मंजरी', मीर का 'अन्योक्ति शतक' विनय यत्ति की अन्योक्ति बावनी', केवलकृष्ण शर्मा की 'नीति पचीसी' आदि।
४. किसी विशेष युग, समाज या वर्ग को दृष्टि में रखकर किये गये संग्रह, जैसे गुप्त जी की 'भारत-भारती', शिवशंकर मिश्र का 'सदाचार-सोपान', रामप्रसाद तिवारी का 'सुता-प्रबोध'।

(ग) अन्य विषयक मुक्तक कविताओं के साथ संग्रहीत नीति कविताएँ—इसके भी कई भेद किए जा सकते है—

१. **अन्य विषयक सतसइयों में संगृहीत नीति कविताएँ**—सतसइयों के

---

१ प्रबन्ध काव्यों के अंश रूप में प्राप्त नीति सामग्री मुक्तक रूप में प्राप्त की तुलना में बहुत कम है।

विषय के आधार पर इसके अनेक उपभेद हो सकते हैं। प्राप्त सतसइयों के आधार पर प्रधान निम्नाङ्कित हैं :—

(अ) भक्ति विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे 'तुलसी सतसई' में।

(आ) शृङ्गार विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे बिहारी, मतिराम या भूपति आदि की सतसइयों में।

(इ) वीर रस की सतसई में संगृहीत, जैसे वियोगी 'हरि की वीर सतसई' मे।

(ई) किसान विषयक सतसई में संगृहीत, जैसे निर्भय की 'किसान सतसई' में।

(उ) राष्ट्रीय उत्थान विषयक सतसई मे संगृहीत, जैसे महेशचन्द्र प्रसाद की 'स्वदेश सतसई' में।

२. **अन्य विषयक सतसइयों से बड़े संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ**—इसके भी उपभेद हो सकते है :—

(अ) शृङ्गार विषयक बड़े संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे रसनिधि कृत 'रतन-हजारा' में।

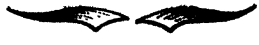
(आ) भक्ति विषयक बड़े संग्रहों की नीति कविताएँ, जैसे कुलदीप की 'सहस्र दोहावली' में।

(इ) मिश्रित विषयों के बड़े संग्रह में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे पाटन के 'ज्ञान-सरोवर' में।

३. **अन्य विषयक सतसइयों से छोटे संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ**—इसके भी उपभेद हो सकते है :—

(अ) भक्ति और ज्ञान विषयक छोटे संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे बनारसीदास की 'ज्ञान बावनी' में।

(आ) मिश्रित विषयों के छोटे संग्रहों में संगृहीत नीति कविताएँ, जैसे दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' या कवि किंकर के 'सुधासरोवर' में।



: २ :

पूर्ववर्ती साहित्यों में नीति

हिन्दी-नीति-साहित्य पर विचार करने के पूर्व उसकी पृष्ठभूमि रूप में हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाओं—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति-साहित्य पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। इससे हिन्दी के पूर्व भारतीय साहित्य की नीति विषयक भाव और शैली की धाराएँ स्पष्ट हो जायँगी, जिनके प्रकाश में हिन्दी-नीति-साहित्य की परम्परागत और मौलिक भावनाओं एवं अभिव्यंजनाओं की सरणि का मूल्यांकन अधिक सरलता एवं स्पष्टता से किया जा सकेगा। यहाँ एक और भी बात कह देनी आवश्यक है। इन भाषाओं का साहित्य विशाल है और उनमें नीति का अंश भी प्रचुर है, अतः पृष्ठभूमि रूप में उनका यहाँ पूर्णरूपेण दर्शन करा सकना सम्भव नहीं। मूल परम्पराओं को समझने के लिए केवल संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत की जा रही है।

(क) संस्कृत साहित्य में नीति—

संस्कृत साहित्य मोटे रूप से दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—एक तो वैदिक साहित्य और दूसरा लौकिक साहित्य। वैदिक साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं है। फिर भी यत्र-तत्र कुछ उपदेशात्मक उक्तियाँ मिल ही जाती हैं। यहाँ नीति के लिए वैदिक साहित्य में संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद, वेदांग तथा उपवेदों पर एक विहंगम दृष्टि डाली जा रही है।

वेदों में सबसे पुराना और महत्वपूर्ण ऋग्वेद है। 'ऋक्' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'स्तुति' है। ऋग्वेद में प्रायः देवताओं के प्रति लिखी गई स्तुतियाँ हैं। नीति और उपदेश से इसका कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। विन्टरनित्स ने ठीक ही लिखा है कि ऋग्वेद और चाहे जो कुछ भी हो उपदेशात्मक पुस्तक नहीं है।[1] फिर भी इसमें कहीं-कहीं कुछ नीतिपरक बातें या सूक्तियाँ मिल जाती हैं। दान की महत्ता ऋग्वेद की कई ऋचाओं में गाई गई है। आठवें मण्डल के तेंतीसवें सूक्त में इन्द्र का एक वाक्य उद्धृत है जिसका अर्थ है—स्त्री के मन का शासन करना असम्भव है, उसकी बुद्धि

1 .....a moralizing note...is otherwise quite foreign to the Rigveda. The Rigveda is every thing but a text-book of morals.
—*A History of Indian Literature, Vol. 1, 1927, p. 115.*

छोटी होती है।[1] राजा पुरुरवा ने एक स्थान पर कहा है, 'स्त्रियों का प्रेम या मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियों और भेड़ियों का हृदय समान होता है।'[2] इसी प्रकार जुआ के विरोध और सत्य के पक्ष मे भी कई बातें कही गई हैं। इसका आशय यह है कि भारतीय साहित्य के उस आदि ग्रन्थ में नीतिपूर्ण सूक्तियों का प्रारम्भ हो गया था। सूक्तियों के अतिरिक्त ऋग्वेद की कुछ आख्यायिकाओं से भी नीतिपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। द्याद्विवेद ने अपनी नीति-मंजरी में इन आख्यायिकाओं का पूरा उपयोग किया है और अपनी प्रायः सारी नीतियों को ऋग्वेद की आख्यायिकाओं या घटनाओं से ही उद्धृत किया है। उदाहरण के लिए नीति-मजरी का ४८वाँ श्लोक लिया जा सकता है। उसमें द्याद्विवेद कहते है, 'महान होने पर भी अपनी कुल परम्परा नहीं छोड़नी चाहिए। जैसे ऋग्वेद के अनुसार अश्विनी कुमारों ने देवता होने पर भी अपनी परम्परा का त्याग नही किया, अर्थात् वैद्य बने रहे, यद्यपि यह बहुत निंद्य कर्म है। (मनुस्मृति के अनुसार वैद्य का स्पर्श किया हुआ भोजन भी त्याज्य है) उन्होंने बहरे, अंधे और कोढ़ी कण्व ऋषि को ठीक किया।'[3] इसी प्रकार ऋग्वेद के इन्द्र, अग्नि, वरुण तथा प्रजापति आदि प्रायः सभी देवताओ से सम्बन्धित आख्यायिकाओं या घटनाओं से द्याद्विवेद ने नीति की बाते निकाली है।

शेष तीन वैदिक संहिताओं—साम, यजुः तथा अथर्व—में नीति और उपदेश की बातें ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत ही कम है, यद्यपि उनसे ये संहिताएँ पूर्णतः शून्य नहीं कही जा सकती। अथर्ववेद के सज्ञानसूक्त में एकता, संगठन तथा मधुर वचन एवं पृथ्वी सूक्त मे मातृभूमि-प्रेम सम्बन्धी बहुत से उपदेश है।[4] यजुर्वेद मे मैत्री, लोभ तथा सत्य (ऋतस्य पथा प्रेत=सत्य के पथ पर चलो) आदि के विषय में यत्र-तत्र नीति की बातें है।[5]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्रह्म (=यज्ञ) सम्बन्धी। ब्राह्मण ग्रन्थों मे प्रधानतः यज्ञ सम्बन्धी बातों का विवेचन है। मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय, कोषीतकि, पंशविंश, षड्विंश, शतपथ तथा गोपथ आदि हैं। इनमें भी वेदों की भाँति ही मूल विषय के अतिरिक्त कहीं-कहीं नीति और उपदेश की बाते भी आ गई है। ऐतरेय ब्राह्मण (३३·३ १५) में एक ऋचा है, जिसका अर्थ है 'गतिशील मनुष्य मधु पा लेता है और

---

१ ऋग्वेद, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९५४, पृ० ९७२।

२ वही, पृ० ६४।

३ नीति-मजरी, काशी, १९३३।

४ रामगोविन्द त्रिवेदी : वैदिक साहित्य, काशी, १९५०, पृ० ४२१-२।

५ वही, पृ० ४३७।

आगे बढ़ने वाला स्वादिष्ट उदुम्बर आदि फल प्राप्त कर लेता है। अविश्रान्त रूप से दिन-रात गतिशील रहने के कारण ही सूर्य विश्व-वंद्य है, इसलिए जीवन में दृढ़ निश्चय के साथ कदम बढ़ाए चल।' शतपथ ब्राह्मण (२. १. ४. ६) के अनुसार दो बार मिताहार करने वाला ही पूरी आयु पाता है। शतपथ (३. २. ४. ६) में ही यह भी कहा गया है कि 'स्त्रियाँ निरर्थक बातों की ओर जाती हैं। जो नाचता-गाता है वे उसी से प्रेम करने लगती हैं।' इसी प्रकार सत्य की प्रशंसा, असत्य की निन्दा, स्वास्थ्य का ध्यान, उचित गुरु की खोज, अभिमान और अहंकार से दूर रहने तथा धार्मिक आचरण रखने के सम्बन्ध में भी बहुत से नीति-वचन मिलते है।

जातक तथा पंच-तंत्र आदि में हमें उपदेशपरक कथाएँ मिलती हैं। इस प्रकार की नीति-कथाओं के बीज यद्यपि ऋग्वेद की आख्यायिकाओं में भी खोजे जा सकते हैं और द्याद्विवेद ने अपनी नीति-मंजरी में इसका आधार भी उदाहरणार्थ लिया है, पर इसके विकसित और स्पष्ट रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मिलते हैं, जिनका बाद के भारतीय साहित्य में समुचित विकास हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर देवासुर-संग्राम का वर्णन है, जहाँ मक्कारी से असुर जीत जाते है, पर अन्त में देवताओं की विजय होती है। यहाँ लेखक कहता है कि, इसी प्रकार जब मनुष्य सत्य का अनुसरण करता है तो आरम्भ में उसे कष्ट हो सकता है पर अन्ततोगत्वा उसे सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। पर, दूसरी ओर असत्य आचरण करने वाला आरम्भ में सुखी और सफल हो सकता है पर अन्त में उसे मुँह की खानी ही पडती है।[1]

इस प्रकार ब्राह्मणों में नीति का अंश यद्यपि बहुत थोड़ी मात्रा में है पर नीति-साहित्य की परम्परा की एक कड़ी के रूप में उसके महत्वपूर्ण स्थान को भुलाया नहीं जा सकता।

उपनिषद वेदों के अन्तिम भाग हैं। यों तो इनकी सख्या २०० से ऊपर है, पर प्रधान १०८ हैं, और उनमें भी ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तेत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक तथा नृसिंहपूर्वतापनी, ये ११ ही प्रमुख हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय अध्यात्म और दर्शन है पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए आचारिक उन्नति भी आवश्यक है, अतः इनमें यत्र-तत्र आचार और धर्मनीति—सत्यवादन, धर्माचरण, अतिथि एवं गुरुजनों के प्रति आदरभाव, गुरु का महत्व, लोभ तथा अहं-भाव का त्याग, सर्वात्मभाव, दान, दया, दम, शम तथा विवेक आदि—की बातें मिल जाती हैं।

प्रश्न उपनिषद में कहा गया है कि जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह सब

---

१ विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर, भाग १, १९३७, पृ० २०७।

ओर से मूलसहित सूख जाता है।[1] ईशावास्योपनिषद में 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' कहकर दूसरे के धन की इच्छा न करने का उपदेश दिया गया है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि जैसे तिल को पेरने से तेल और दधि को मथने से मक्खन पाया जाता है.....वैसे ही सत्य और तपस्या के द्वारा खोज करने पर अपनी आत्मा में ही परमात्मा को पाया जाता है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद में गुरु-गृह से प्रत्यावर्तन के समय शिष्य को माता-पिता तथा गुरु-सेवा, स्वाध्याय एवं सच बोलने के उपदेश दिये गये हैं।[4] कठोपनिषद में मन और बुद्धि के महत्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम समझ।[5] यहाँ मन और बुद्धि के उचित सहयोग से आत्मा को सतपथ पर ले जाने का संकेत है।

आख्यायिकाओं द्वारा उपदेशात्मक निष्कर्ष निकालने की परम्परा का, जिसका ऋग्वेद संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख हो चुका है, उपनिषदों में भी कहीं-कहीं दर्शन हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद के बैल तथा चिडिया द्वारा सत्यकाम को उपदेश देने या कुत्तों द्वारा अपने लिए नेता खोजने की आख्यायिकाएँ कुछ इसी प्रकार की हैं।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, ये छः वेदांग हैं। नीति की दृष्टि से इनमें केवल कल्प का थोड़ा सा महत्व है। कल्पसूत्र के श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र दो भेद हैं। इनमें श्रौतसूत्र का सम्बन्ध तो यज्ञ-याग से है पर स्मार्त (जिसमें गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र दो भेद हैं) का हमारे दैनिक आचार और धर्म से सम्बन्ध है। चारों वर्णों के चारों आश्रमों में कर्तव्य तथा रीति-रिवाज देने के अतिरिक्त विविध संस्कार एवं प्रजा तथा राजा के अधिकार और कर्तव्य आदि तथा कुछ व्यवहार की बातें इसमें विस्तार से वर्णित हैं।

यहाँ कुछ नीतिपूर्ण सूत्रों के हिन्दी अनुवाद दिए जा रहे हैं।[6] इनसे वेदांग के अन्तर्गत आने वाले सूत्रों के नीति-अंश का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस समय विहार-भूमि में कोई कार्य हो रहा है उस समय उसे पीठ नहीं दिखानी चाहिए।

१ प्रश्न० ६. १।
२ ईश० १।
३ वैदिक साहित्य, पृ० १८३।
४ तैत्तिरीय० १.२. १-३।
५ कठ० १. ३. ३.।
६ वैदिक साहित्य, पृ० २०३-१६।

दान करना चाहिए।

पाँचों यज्ञ—देव यज्ञ, भूत यज्ञ, पितृ यज्ञ, ब्रह्म यज्ञ तथा मनुष्य यज्ञ—प्रतिदिन करना चाहिए।

सन्यासी को सर्वथा सम्पत्ति-शून्य होना चाहिए।

वृक्ष या धान्य जो स्वयं गिर चुका हो उसी को संन्यासी व्यवहार में लावे।

अपने पेट के लिए स्वयं कुछ न तोड़े।

हिंसक और कृपालु को बराबर समझे।

अपने स्वार्थ के लिए किसी भी कार्य को न करे।

योग्य अतिथि की सेवा करे।

संसार में बहुश्रुत ब्राह्मण और राजा ये दोनों धृत-व्रत है। सारे मनुष्य और पशु-पक्षी इन्हीं के वश में रहते हैं। प्रजा का रक्षण और जातियों की विशुद्धता तथा धर्मानुष्ठान इन्हीं के हाथ में है।

राजा को साधुकारी और साधुवादी होना चाहिए। उसे तीनों वेद और न्याय का पण्डित होना चाहिए।

उसे (राजा को) सारी प्रजा के प्रति समदर्शी होना चाहिए।

प्रजा को राजा का सम्मान करना चाहिए।

राजा को दुष्टों का दमन करना चाहिए।

चारों वेदों के चार उपवेद हैं। उपवेदों में धनुर्वेद तथा गन्धर्ववेद से तो नहीं पर आयुर्वेद और अर्थवेद से नीति-साहित्य का कुछ सम्बन्ध है। आयुर्वेद में आचार तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे बहुत से उपदेशात्मक श्लोक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं सामान्य नीति की बातें भी मिलती है। सुश्रुत का एक श्लोक है :

यथा खरश्चंदन भारवाही भारस्यवेत्ता न तु चंदनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहुनधीत्य चार्थेषुमूढाः खर वदवहंति ॥

अर्थात् चन्दन का ढोने वाला गदहा केवल चन्दन का भार जानता है, चन्दन का गुण या उसकी गन्ध नहीं। इसी प्रकार शास्त्र पढ़कर अर्थ न समझने वाले मूर्ख हैं।

अर्थवेद का प्रधान विषय राजनीति है, अतः यह नीति-साहित्य के ही अन्तर्गत आता है। इस विषय के प्राचीन आचार्य वृहस्पति, बाहुदन्तीपुत्र, विशालाक्ष तथा उशना आदि हैं, पर इनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय का प्राचीनतम ग्रन्थ, जो आज प्राप्त है, कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। राजनीति-रत्नाकर भी इस वर्ग का सुन्दर ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में राजा की नीतियों और उसके व्यवहारों का सम्यक् विवेचन है।

लौकिक संस्कृत में नीति के सिंहावलोकन के लिए निम्न पाँच को लिया जा सकता है।

१. महाकाव्य साहित्य, २. स्मृति साहित्य, ३. पुराण साहित्य, ४. कथा साहित्य, और ५. स्फुट साहित्य।

महाकाव्यों में सबसे प्राचीन वाल्मीकि रामायण है। यों तो इसकी कथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम से सम्बन्धित है, अतः आदर्श जीवन, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श सेवक तथा आदर्श राजा की रीति-नीति के बड़े सुन्दर रूप इसमें चित्रित हैं, पर इसके अतिरिक्त भी इसमें नीतियाँ तथा सूक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। कहीं-कहीं तो नीति के श्लोक विषयानुसार भी रखे गए है। उदाहरणस्वरूप राजनीति की दृष्टि से सुन्दरकांड का ५२वाँ सर्ग, उत्तरकांड का ५३वाँ सर्ग, अरण्य-कांड का ४०वाँ सर्ग तथा अयोध्याकांड का १००वाँ सर्ग; सामान्य नीति की दृष्टि से उत्तरकांड का ५२वाँ सर्ग, अयोध्याकांड का १४०वाँ सर्ग; और स्त्री सम्बन्धी नीति की दृष्टि से अयोध्याकांड का १३९वाँ सर्ग देखने योग्य है। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक उदाहरणार्थ देखा जा सकता है :

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पाप संश्रयात्।
पर पापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नाग ह्रदे यथा॥

(जो पाप नही करते वे पापी-जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते है। जैसे सर्पयुक्त जल-कुण्ड की मछलियाँ सर्पो के संसर्ग से (गरुड द्वारा) नष्ट हो जाती है।)

नीति की दृष्टि से महाकाव्यों में अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ महाभारत है।

धौम्यनीति, विदुरनीति, भीष्मनीति तथा विदुलोपाख्यान आदि नीति के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभारत के ही अश हैं। इसके अतिरिक्त भी नीति के फुटकर छन्द यत्र-तत्र बिखरे पड़े है। इस दृष्टि से महाभारत के विशेष पठनीय पर्व वन, उद्योग, भीष्म, स्त्री, शान्ति, अनुशासन तथा अश्वमेध हैं। वनपर्व मे अहिंसा, भाग्य, धर्म, स्त्री तथा सामान्य विषयों से सम्बद्ध नीति की बाते हैं। उद्योग पर्व में विदुर ने नैतिकता, धर्म तथा सांसारिक ज्ञान की सुन्दर नीतियाँ कही हैं। भीष्म पर्व में गीता है, जो धर्म और आचार नीति में भारतीय साहित्य का अनन्य ग्रन्थ है। स्त्री पर्व में विदुर द्वारा कही गई बाते नीति के सुन्दर उदाहरण है। शान्तिपर्व राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्व-पूर्ण है। अनुशासन पर्व में स्मृतियों की भाँति विभिन्न विषयक विधि और निषेध हैं। इस प्रकार राजनीति, धर्मनीति और लोकनीति सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ भरा-पूरा है।

---

१ वा. रा. ३. ३८. २६।

महाभारत में नीति की बातें तीन ढङ्ग से कही गई है। कहीं-कहीं तो नीति-ग्रन्थों की भाँति सामान्य सूक्तियाँ है, जो प्रसङ्गवशात् आ गई है। कहीं-कहीं संवाद के रूप में नीतियाँ है। जैसे, एक स्थान पर समुद्र गंगा से पूछता है कि तुम लोग बड़े-बडे पेड़ों को तो उखाड देती हो पर छोटी-छोटी घास ज्यों की त्यों रह जाती है। गंगा उत्तर देती है कि वे पेड अभिमान से भरे सीधे खड़े रहते हैं अतः उखड़ जाते हैं। पर घासें प्रवाह के आगे विनीत होकर झुक जाती हैं अतः नही उखड़तीं।[1] तीसरी प्रकार की नीतियाँ जातकों तथा पंचतंत्र की भाँति की नीति-कथाओं में हैं। ऐसी कथाएँ शान्ति तथा अनुशासन पर्व में विशेष है, यद्यपि इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है।

यहाँ उदाहरण के लिए महाभारत से दो नीति-श्लोक दिए जा रहे हैं :

न हृष्यत्यात्मसंमाने नावमानेन तप्यते।
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पंडित उच्यते।[2]

(पंडित लोग अपना सम्मान होने पर कभी फूलकर लक्ष्यच्युत नहीं होते और न कभी अपमान से कार्यच्युत होते हैं। जो गंगाह्रद की भाँति व्याकुलता से हीन होता है, वही पंडित कहलाता है।)

धनमाहुः परंधर्म धनै सर्व प्रतिष्ठितम्।
जीवंति धनिनो लोके मृतायेत्वधना नराः।[3]

(धन तो सबसे बडा धर्म है क्योंकि धन में ही सब कुछ है। संसार में धनवान ही जीवित है; जो निर्धन हैं उनको तो मरा हुआ समझो।)

संस्कृत के महाकाव्यों में रामायण और महाभारत के अतिरिक्त घोष के 'बुद्ध-चरित्र' और 'सौन्दरानन्द', कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव', भारवि का 'किरातार्जुनीय', भट्टि का 'रावण-वध' (जिसे प्रायः भट्टि-काव्य कहते हैं), माघ का 'शिशुपाल-वध' तथा श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' आदि प्रमुख हैं। इन सभी में यत्र-तत्र नीति की सूक्तियाँ हैं, यद्यपि उनका बाहुल्य नहीं है। यहाँ कालिदास और भारवि की दो सूक्तियाँ जो लोकोक्ति-रूप में प्रसिद्ध हो गई हैं, दी जा रही हैं :

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः

—कालिदास

१ विंटरनित्स: हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० ४०७।
२ महा० ५. ३३. २६।
३ महा० ५. ७२. २३।

(जैसे चन्द्रमा की ज्योति में उसका कलंक छिप जाता है वैसे ही गुणों के समूह में एक दोष भी छिप जाता है।)

हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः

—भारवि

(ऐसा वचन दुर्लभ होता है जो सुन्दर तथा कल्याणप्रद दोनों हो।)

संस्कृत का स्मृति-साहित्य भी नीति की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। स्मृतियों की संख्या १८ कही गई है पर इनमें अधिक प्रसिद्ध केवल तीन—मनु, याज्ञवल्क्य और नारद हैं। इन तीनों में भी मनु और याज्ञवल्क्य अधिक लोकप्रिय हैं। स्मृतियों के वर्ण्य-विषय प्रधानतः तीन हैं—(क) आचार, (ख) व्यवहार (कानून), (ग) प्रायश्चित। इनमें प्रथम अर्थात् आचार का ही नीति से विशेष सम्बन्ध है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चारों आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन है। इस प्रकार आचार, आपसी व्यवहार तथा धर्म सम्बन्धी बहुत सी नीति की बातें इनमें हैं। साथ ही राजनीति और स्त्री-धर्म के भी सुन्दर निर्देश हैं, यद्यपि नीति-साहित्य की भाँति इनमें नीति को उदाहरणों द्वारा आकर्षक बनाने का प्रयास प्रायः नहीं के बराबर है।

स्मृति ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध मनुस्मृति है। इस स्मृति के श्लोकों का प्रयोग नीति ग्रन्थों की सूक्तियों की भाँति ही बहुत दिनों से जनता में होता आया है। यहाँ इसके कुछ इस प्रकार के श्लोक देखे जा सकते है—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यंति प्रमदासु विपश्चितः॥[1]

(अर्थात् पुरुषों को विचलित करना नारियों का स्वभाव है। इसलिए ज्ञानी पुरुष युवती स्त्रियों के सम्बन्ध में कभी नही गाफ़िल होते।)

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥[2]

(जिस कुल में स्त्रियों का पूजन होता है उस पर देवता प्रसन्न होते हैं और जहाँ स्त्रियों का अपमान होता है वहाँ सभी कर्म निष्फल होते है।)

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।[3]

---

१ मनु० २, २१३।

२ मनु० ३, ५६।

३ मनु० ७, १०६।

(राजा का कर्तव्य है कि बगुले की तरह अपने शत्रु का धन लेने की चिन्ता करता रहे, सिंह के समान बल करे, भेड़िये की तरह समय पाकर शत्रु को मारे और समय पड़ने पर खरगोश की तरह निकल जाय ।)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥[1]

(धैर्य, क्षमा, मन का दमन, चोरी से किसी की वस्तु न लेना, पवित्रता, इन्द्रियों का विषयों की ओर जाने से रोकना, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण कहे गए हैं ।)

पुराण साहित्य भी नीति की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है । पुराणों के पुराण और उपपुराण दो भेद हैं । पुराणों की संख्या १८ है, जिनमें ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, अग्नि, मार्कण्डेय, स्कन्द, गरुड़ तथा ब्रह्मांड आदि प्रमुख हैं । उपपुराणों की भी संख्या १८ है, जिनमें नरसिंह, कालिका, लिंग, कपिल तथा नारदीय आदि प्रधान हैं । पुराणों के प्रमुख विषय सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित, ये पाँच हैं ।

पुराणों में नीति-श्लोकों की संख्या बहुत अधिक है । डॉ० कर्माकर ने अपने 'पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम'[2] नामक पुस्तक में लगभग एक सहस्र ऐसे श्लोकों को एकत्र किया है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पुराणों के नीति-विषय स्त्री, पंडित, सज्जन, नीच, धन, कृपण, भाग्य, सुख, दुःख, संसार, विद्या, धर्म, काल, सत्य, जीवन, मन, उद्यम, चिन्ता, मित्र तथा शत्रु आदि हैं । नीति के प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहस्पति तथा शौनकीय नीतिसार पुराण (गरुड़) के ही अंश हैं ।

पुराणों के नीति-श्लोक स्मृतियों से मिलते-जुलते हैं । उनमें भी दृष्टान्तों द्वारा नीतियों को पुष्ट करने का प्रयास बहुत कम है । यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं ।

अधमाः कलिमिच्छन्ति संधिमिच्छन्ति मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥[3]

(अधम व्यक्ति कलह चाहते हैं, मध्यम व्यक्ति संधि चाहते हैं तथा उत्तम व्यक्ति मान चाहते हैं, मान ही सबसे बड़ा धन है ।)

---

१ मनु० ६, ९२ ।
२ डॉ० कर्माकर : पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम, बम्बई, १९४७ ।
३ वही, पृष्ठ २१ ।

जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी ।
प्रमदा सर्वदा दत्ते चित्तं वित्तं बलं सुखम् ।[1]

(जोंक तो केवल रक्त लेती है पर स्त्री चित्त, धन, बल और सुख सभी ले लेती है । अर्थात स्त्री जोंक से भी बुरी है ।)

भागवत पुराण में नीति प्रस्तुत करने की एक नवीन पद्धति दिखलाई पड़ती है । उसके १०वें स्कन्ध में वर्षा तथा शरत् वर्णन में प्रकृति-चित्रण के साथ नीति की बातें वर्णित हैं । प्रायः, नीति-साहित्य में नीति की बातों के प्रमाणस्वरूप या उन्हें उदाहृत करने के लिए अन्य तथ्य या घटनाएँ दी गई हैं, पर यहाँ बात उसके विरुद्ध है । प्रधान ध्येय तो है प्रकृति-चित्रण, पर उसके साथ उसे उदाहृत करने के लिए नीति-वचन लिए गए हैं । यहाँ वर्षा और शरत् मे एक-एक छन्द दिए जा रहे हैं :

लोक बंधुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ।[2]

(यद्यपि बादल बड़े लोकोपकारी हैं, फिर भी बिजलियाँ उनमें स्थिर नहीं रहतीं; जैसे चपल अनुराग वाली कामिनी स्त्रियाँ गुणी पुरुषों के पास भी स्थिर भाव से नहीं रहतीं ।)

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ् छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटिम्ब्यविजितेन्द्रियः ।[3]

(थोड़े जल मे रहने वाले प्राणियों को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बड़ी पीडा होने लगी । जैसे अपनी इन्द्रियों के वश में रहने वाले कृपण एवं दरिद्र कुटुम्बी को तरह-तरह के ताप सताते ही रहते है ।)

संस्कृत में कथाएँ मोटे रूप से दो प्रकार की हैं । एक तो वे जिनका उद्देश्य मनोरंजन मात्र है, जैसे गुणाढ्य की वृहत्कथा; तथा दूसरी वे जिनका उद्देश्य है राज तथा लोकनीति की शिक्षा देना, जैसे पंचतंत्र । नीति-साहित्य का सम्बन्ध दूसरे प्रकार की कथाओं से है । इस प्रकार की कथाओं का संस्कृत में प्राप्त प्रथम ग्रन्थ पंचतंत्र है । ऐसा लगता है कि इस प्रकार की औपदेशिक कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में प्रचलित थीं । आज भी लोक में ऐसी कथाओं का प्रचलन है । उन लोक-कथाओं के ही आधार पर जातक की कथाओं का निर्माण हुआ है या यह भी सम्भव है कि जातक की बहुत सी कथाएँ पूर्णरूपेण लोक-कथाएँ रही हों । जातकों के अतिरिक्त ऐसी कुछ कथाएँ

१ डॉ० कर्माकर : पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम, बम्बई, १९४७, पृ० १ ।
२ भागवत, १०. २०. १७ ।
३ वही, १०. २०. ३८ ।

महाभारत में भी मिलती है। ऐसा अनुमान लगता है कि जातकों में ही ऐसी कथाओं को प्रथम बार साहित्य में प्रतिष्ठित किया गया।[1] फिर महाभारत में इन्हें स्थान मिला। महाभारत के इस प्रकार के अंश पर जातकों का प्रभाव पर्याप्त है।[2] आगे इस परम्परा में पंचतंत्र मिलता है। कीथ का तो अनुमान है कि पंचतंत्र का कोई मूल रूप अत्यन्त प्राचीन था और कई जातक कथाएँ उसी से प्रभावित है।[3] पर, दूसरी ओर राइजडेविड तथा वेनफ़ी आदि कुछ अन्य लोगोंका अनुमान इसके विरुद्ध है। इनके अनुसार या तो पंचतंत्र जातकों से प्रभावित है या जातक के ढंग के किसी अन्य बौद्ध कथा-ग्रन्थ से। मेरा अपना अनुमान यही है कि जातक का कुछ अंश इस दृष्टि से सबसे पुराना है और उसी को देखकर महाभारत के इस प्रकार के अंश की ओर फिर इन दोनों को देखकर पंचतंत्र की रचना की गई है। आगे इस परम्परा में संस्कृत में एक भी नवीन ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। पंचतंत्र के कई रूपान्तर अवश्य हुए, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध नारायण पण्डित का हितोपदेश है।

पंचतंत्र की रचना किसी विष्णु शर्मा ने एक राजा के पुत्रों को छः महीने में राजनीति और लोकनीति सिखाने के लिए की थी। इसमें कथाओं के द्वारा शिक्षा दी गई है। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि विश्व की अनेकानेक भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं।

पंचतंत्र में कथाएँ तो गद्य में हैं पर कथाओं के आरम्भ, बीच या अन्त में नीति की बातें श्लोक में दी गई हैं। इसके प्रधान विषय मूर्खता, विद्वता, मंत्री, फूट, गुण, चुगली, धन, दरिद्रता, परोपकार, सज्जन, दुर्जन, कृपण, दानी, अवसर, रहस्य, शीघ्रता, स्त्री, शत्रु, राजा, जाति, निन्दा, बड़ाई एवं अन्य व्यावहारिक बातें हैं।

उदाहरण के लिए यहाँ पंचतंत्र की एक कथा का संक्षेप और उससे निकलने वाली नीति की बात दी जा रही है :

'एक बार कुछ बढ़ई कहीं लकड़ी चीर रहे थे। दोपहर में वे आधे चीरे हुए पेड़ में कीली लगाकर खाना खाने चले गये। इस बीच कुछ बन्दर वहाँ आ पहुँचे। उनमें एक उस आधे चीरे पेड़ पर बैठकर कीली को निकालने लगा। कीली निकलते ही दरार के बीच में बन्दर का अंडकोष दब गया और उसकी मृत्यु हो गई। इस कथा के साथ नीति-श्लोक है—

---

१ पीछे ऋग्वेद संहिता, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपदेशपूर्ण आख्यायिकाओं के मिलने का संकेत किया जा चुका है, पर वहाँ ये कथाएँ उतने विकसित रूप में नीति-कथा नहीं हैं जितनी कि महाभारत, जातक तथा पंचतंत्र की कहानियाँ हैं।

२ विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० ४०६।

३ कीथ: हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ० २४६।

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स एवं निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ।[1]

(जो पुरुष बिना काम के काम करना चाहता है वह उसी प्रकार नष्टावस्था को प्राप्त होता है जिस प्रकार कीली को निकाल कर बन्दर ।)

मनोरंजन कथाओं की श्रेणी में आने वाली संस्कृत की वैतालपंचविंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका तथा शुक्रसप्तति आदि में भी कुछ उपदेशात्मक सामग्री मिल जाती है ।

बौद्ध जातकों की भाँति जैनों ने भी जातक लिखे हैं जिनकी भाषा संस्कृत है । इन जैन कथाओं में बौद्ध जातकों की तुलना में सामान्य नीति प्रायः नहीं के बराबर है । इन कथाओं का उद्देश्य केवल जैन धर्म सम्बन्धी बातों की शिक्षा देना है । इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन है ।

संस्कृत में स्फुट काव्य प्रमुखतः तीन प्रकार के मिलते हैं । एक तो भक्ति सम्बन्धी जैसे सूर्य शतक, चण्डी शतक तथा स्तोत्रावलि आदि; दूसरे शृङ्गार सम्बन्धी जैसे शृङ्गार शतक, अमरुक शतक या आर्यासप्तशती आदि; और तीसरे नीति सम्बन्धी जैसे चाणक्य नीति एवं नीति-शतक आदि ।

संस्कृत के नीति सम्बन्धी स्फुट काव्य-ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें कुछ प्रधान ग्रन्थ निम्न हैं :—

शुक्रनीति	शुक्राचार्य
चाणक्य सूत्र	चाणक्य
चाणक्य नीति	चाणक्य[2]
नीति-शतक	भर्तृहरि[3]
लोकोक्ति मुक्तावली	दक्षिणामूर्ति
उपदेश-शतक	गुमानि

१ पंचतन्त्र, पृ० १७ ।

२ चाणक्य नीति की छोटी-बड़ी प्रतियाँ चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, चाणक्य नीति-दर्पण, वृद्ध चाणक्य तथा लघु चाणक्य आदि प्रायः १७ रूपों में मिलती हैं ।

—वासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, भाग १, १९४७, कलकत्ता ।

चाणक्य नीति वास्तव में चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य द्वारा रचित न होकर लोक-प्रचलित नीति-श्लोकों का संग्रह है ।

३ भर्तृहरि के नीति-शतक के सम्बन्ध में भी लोगों का यही अनुमान है ।

सूक्ति मुक्तावली	सौम प्रभाचार्य
सभा रंजन	नीलकण्ठ
सूक्ति संग्रह	कवि राक्षस
नीति धनदम्	धनदराज
नीतिमंजरी	द्याद्विवेद
नीति वाक्यामृत	सोमदेव
नीति द्विषष्टिका	सुन्दर पंड्या
नीतिमाला	सदानन्द
नीतिमंजरी	शम्भुराज
नीति-शतक	वेंकटराय
नीतिसार	घटकर्पर
नीति-शतक	सुन्दराचार्य
नीति चन्द्रिका	दयानन्द
नीति रत्न	वररुचि
नीति प्रदीप	बैताल भट्ट
सेव्य सेवकोपदेश	क्षेमेन्द्र
दृष्टान्त शतक	कुसुमदेव
नीति मयूख	नीलकण्ठ
नीतिसार	कामंदक
नीति कमलाकर	कमलाकर
नीति कल्पतरु	क्षेमेन्द्र
नीति चिन्तामणि	वाचस्पति मिश्र
नीति प्रकाश	कुलमुनि
नीति प्रकाशिका	वैशंपायन
नीति माला	नारायण
नीति रत्नाकर	कृष्ण वृहत्पण्डित महापात्र
राजनीति रत्नाकर	चण्डेश्वर
नीतिलता	क्षेमेन्द्र
नीतिविलास	ब्रजराज
नीतिविवेक	करुणाशंकर
नीतिसंग्रह	मधुसूदन
नीति कुसुमावलि	अप्पा वाजपेयी

इन नीति-ग्रन्थों में चाणक्यसूत्र सूत्र-शैली में है तथा शेष सामान्य ग्रन्थों की भाँति श्लोक में हैं। विषय की दृष्टि से शुक्र तथा कामंदक आदि के ग्रन्थों का झुकाव तो विशेषतः राजनीति की ओर है, पर शेष का प्रायः लोक और व्यवहार नीति की ओर। धर्म और आचार नीति की बातें भी कुछ में हैं, यद्यपि कम। यदि इसके वर्ण्य विषय की एक सामान्य सूची बनाना चाहें तो भाग्य, समय, सज्जन, दुर्जन, धन, सत्य, वचन, दया, विद्या, मित्र, शत्रु, राजा, दान, माँगना, प्रण, मूर्ख, विद्वान, प्रेम, निर्बल, सन्तोष, संग, नम्रता, कंजूस, स्त्री, जवानी, धैर्य, सुख, दुख, पिता, सन्तान, माता, स्वार्थ, स्वामी, सेवक तथा मन आदि को सम्मिलित कर सकते हैं।

इन नीति-ग्रन्थों में नीति की बातें सीधे कही गई है, पर इनके अतिरिक्त कुछ पुस्तकें ऐसी भी है जिनमें बातें अप्रत्यक्ष ढंग से कही गई है। ऐसी कविता को अन्योक्ति या अन्योपदेश कहते हैं। इनमें बातें किसी अन्य से कही जाती है और घटित होती हैं किसी अन्य पर। यहाँ संस्कृत के प्रमुख अन्योक्ति ग्रन्थों की एक संक्षिप्त सूची दी जा रही है :

अन्योक्ति शतक	वीरेश्वर
अन्योक्ति मुक्तलता शतक	शम्भु
अन्योपदेश शतक	मधुसूदन
अन्योक्तिमाला	लक्ष्मी नरसिंह
अन्योक्ति शतक	सोमनाथ
अन्योक्ति कण्ठाभरण	चन्द्रचूड
अन्योक्ति शतक	भट्ट वीरेश्वर
अन्योक्ति शतक	विजयगणि
अन्योक्ति शतक	नीलकण्ठ
अन्योक्ति शतक	जगन्नाथ
अन्योक्ति शतक	गणपति
अन्योक्ति शतक	घनश्याम

इनमें केला, आम, कटहल, आदि वृक्षों; चातक, मोर, बाज आदि पक्षियों; मृग, कुत्ता, गीदड़, सिंह, गाय आदि पशुओं; पृथ्वी, बादल, सरिता, पवन, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकृति की वस्तुओं तथा तितली, झिल्ली, भृंग, आदि कीट-पतंगों एवं इसी प्रकार अन्य बहुतों को सम्बोधित करके नीति की बातें कही गई हैं, जो विभिन्न श्रेणी और प्रकार के मनुष्यों पर घटित होती हैं।

इसी वर्ग में एक तीसरी प्रकार की संस्कृत पुस्तकें भी रक्खी जा सकती हैं, जिन्हें सुभाषित कहते हैं। इनमें अनेकानेक कवियों की सूक्तियाँ विषयों के अनुसार

विभाजित रहती हैं। संस्कृत में कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, सुभाषित कौस्तुभ, सुभाषित त्रिशती, सुभाषित रत्नाकर, सुभाषित रत्न भांडागार, सदुक्तिकर्णामृत (श्रीधरदास), सुभाषितावली (वल्लभदेव), हरिहर सुभाषित (हरिहर), सुभाषित रत्न सन्दोह (अमितगति), तथा सुभाषितावली (श्रीवर), आदि इस श्रेणी के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके विषयों में नीति-विषयों की ही प्रधानता है, यद्यपि किसी-किसी में कुछ अन्य विषय भी हैं।

संस्कृत के मुक्तक काव्य वर्ग के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। संस्कृत के नीति-ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चाणक्य नीति और भर्तृहरि का नीति-शतक हैं, अतः दो उदाहरण उनसे लिये गये हैं और एक अन्योक्ति है। सूत्र शैली के उदाहरण के लिए एक सूत्र चाणक्य सूत्र से लिया गया है।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥

(अज्ञानी जन सहज में समझाया जा सकता है और ज्ञानवान पुरुष उससे भी अधिक सरलता से समझाया जा सकता है, किन्तु जो अपने को बुद्धिमान या ज्ञानवान समझ बैठा है उसको ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते।)

धर्मार्थ काम मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

(धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमे से जिसके पास एक भी न हो उसका जीवन बकरी के गले के स्तन की भाँति बेकार है।)

पत्रं मुग्धतरं फलं सुमधुरं सौरभ्यमभ्युन्नतं।
चंचत्कांचनजित्वरं पुनरहो त्वत्केसरं सुन्दरम् ॥
लावण्यं पुनरुत्तमं किमपरं किंतु स्फुरत्कंटक-
व्यग्र नालमिदं सरोरुह परं तेनातिदूयामहे ॥

(हे कमल ! तुम्हारा पत्र सुन्दर, फल सुमधुर, सौरभ उच्चकोटि का, केसर सोने सा चमकता सब के मन को हरने वाला, तुम्हारे सौन्दर्य का पूछना ही क्या, पर तुम्हारे नाल में काटे है, हम इसी से सन्तप्त है। अर्थात् किसी चीज में बहुत से गुण हों पर एक अवगुण के कारण भी लोग उसकी निन्दा करते है या उसे बुरा मानते हैं।)

अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम् यादृच्छिकत्वात्।
कृमिरपि रूपान्तराणि करोति।

(अज्ञानी द्वारा किए गए कार्य को बहुत नही मानना चाहिए क्योकि कीड़ा भी अपनी इच्छा से अनेक रूप-रूपान्तर बना देता है।)

इस प्रकार संस्कृत साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न और बहुमुखी है। धर्म, आचार, व्यवहार तथा राजनीति आदि नीति की सभी प्रमुख दिशाओं में उसकी महत्वपूर्ण देन है।

विकास की दृष्टि से संस्कृत नीति साहित्य में पाँच सीढ़ियाँ या अवस्थाएँ दिखाई देती हैं :

१. **निर्देश**—प्राचीनतम नीति वचन निर्देश रूप में हैं। वे सामान्य नीति के रूप में न कहे जाकर किसी विशेष व्यक्ति के लिए कहे गए हैं।

२. **उपदेश**—आगे चलकर धीरे-धीरे सामान्य नीति कहने की परम्परा चली और तब से नीतिकार व्यष्टि के स्थान पर समष्टि को महत्व देने लगे। समष्टि के लिए कहे गये ये नीति-वचन उपदेश कहे जा सकते हैं।

३. **सूक्ति**—तीसरी अस्वथा सूक्ति की है। सूक्तियों मे उपदेश प्रभविष्णुता तथा आकर्षण के लिए उदाहरणों के साथ चुभती हुई सुन्दर शैली में रखे गए। इनमें थोड़े स्थान में अधिक कहने या सागर को गागर में भरने का भी प्रयास है।

४. **अन्योक्ति**—चौथी अवस्था अन्योक्ति की है। इसमें भी उपदेश ही रहता है, पर उपदेश जिसको लक्ष्य करके दिया जाता है उसका नाम न लेकर किसी अन्य को उसका प्रतीक मानकर उसके प्रति कहा जाता है। इस रूप के जन्म में मूल भावना यह थी कि जिसे उपदेश दिया जाय उसे बुरा न लगे।

५. **औपदेशिक कथा**—अन्तिम अवस्था औपदेशिक कथाओं की है। यह नीति-कथन का सुन्दरतम ढंग है। सूक्तियाँ इसमें कथा के निष्कर्ष-स्वरूप होती हैं, अतः उनकी शक्ति बढ़ जाती है, साथ ही घटना या कथा से सम्बद्ध होने के कारण वे बुद्धि-विलास से उत्पन्न न ज्ञात होकर प्रतिदिन के जीवन की ज्ञात होती हैं।

(ख) पालि साहित्य में नीति—

पालि साहित्य को मोटे रूप से दो भागों मे बाँटा जाता है—

१. पिटक साहित्य

२. अनुपिटक साहित्य

पिटक साहित्य का प्रणयन और विकास भगवान बुद्ध के निर्वाण-काल से पहली शताब्दी ईसवी पूर्व तक होता रहा है तथा अनुपिटक साहित्य का उसके बाद से आधुनिक काल तक।

पिटक साहित्य तीन भागों में विभक्त है—

१. सुत्त पिटक

२. विनय पिटक

३. अभिधम्म पिटक

सुत्त पिटक का प्रधान विषय बौद्ध धर्म और उसके सिद्धान्तों का परिचय देना है। इसमें दीघ, मज्झिम, संयुक्त, अंगुत्तर और खुद्दक नाम के चार निकाय या विभाग हैं। नीति की दृष्टि से निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश[१] सन्तोष, शील तथा इन्द्रिय-संयम का अभ्यास[२], सच्चे ब्राह्मण की परिभाषा[३], आचार-विचार की महत्ता[४], ३२ महापुरुष-लक्षण[५], पाप के स्थान, मित्र-अमित्र की पहचान[६], चित्त निर्मल होने का लाभ[७], नर-देह की असारता[८], सम्पूर्ण दुखों का मूल प्रेम[९], क्रोध-त्याग, क्षमा, तथा सत्संगति[१०], तथा एक धर्म, दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के बल, तीन प्रकार के दुष्कृत्य, चार सत्य क्या हैं आदि[११] अनेकानेक प्रकार की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। इसमें कुछ उपदेशपरक कथाएँ भी है। पर, सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय के 'धम्मपद' और 'जातक' भाग जिन पर यहाँ विस्तार से विचार किया जा रहा है, नीति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

धम्मपद—

धम्मपद को बौद्ध धर्म की गीता कहा गया है। यह बौद्ध धर्म का सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमे कुल ४२३ गाथाएँ हैं जो २६ वर्गों में बँटी हैं। एक वर्ग में एक ही विषय की प्रायः गाथाएँ हैं। इसके वर्ग ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे सन्त साहित्य के 'अङ्ग' या सुभाषितों के 'वर्ग'।

नीति की दृष्टि से धम्मपद बहुत सम्पन्न है। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने उसके विषय में ठीक ही कहा है कि उसमें नीति के वे सभी आदर्श सगृहीत है जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति है।[१२] इस दृष्टि से उसकी बहुत सी गाथाएँ

---

१ दीघ १/१
२ दीघ १/२
३ दीघ १/४
४ दीघ १/८
५ दीघ २/७
६ दीघ ३/८
७ मज्झिम १
८ मज्झिम ३
९ मज्झिम ९
१० संयुक्त १
११ अंगुत्तर
१२ पालि साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० २२०।

उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा स्मृति ग्रन्थों के श्लोकों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं । डॉ० लाहा ने ऐसे बहुत से उद्धरण अपने पालि इतिहास में दिए हैं ।[1]

धम्मपद की गाथाओं में प्रमुख नीति-विषय पण्डित-लक्षण, काल, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अबैर, कंजूसी, सन्तोष, सत्संग, प्रेम, तृष्णा, बहुत बोलना, चंचलता, वाणी, मन तथा शरीर, दूसरों का दोष देखना, स्त्री, संयम, निन्दा तथा मित्र आदि हैं । ये बातें कोरे उपदेश के रूप में न कही जाकर बड़े सुन्दर काव्यात्मक ढङ्ग से कही गई है । यहाँ कुछ उदाहरण दिए जा रहे है—

भगवान बुद्ध ने चंचलता तीन प्रकार की बतलाई है—मन की, वाणी की, तथा शरीर की । तीनों ही चंचलताएँ बुरी हैं । एक गाथा है—

अयसाव मलं समुट्ठित तदुट्ठाय तमेव खादति ।
एवं अति धोन चारिनं सककम्मानि नयनन्ति दुग्गति ।[2]

(जिस प्रकार लोहे से उत्पन्न मोर्चा उस लोहे ही को खा जाता है उसी प्रकार अति चंचल मनुष्य की चंचलता उसकी दुर्दशा कर डालती है ।)

इसी प्रकार पाप के सम्बन्ध में एक गाथा है—

नहि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति ।
डहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नोव पावको ॥[3]

(पाप कर्म ताजे दूध की भाँति तुरन्त विकार नहीं लाता । वह भस्म से ढँकी आग की तरह जलता हुआ मूर्ख आदमी का पीछा करता है ।)

मूर्खों के सम्बन्ध में भगवान बुद्ध ने बड़ी सुन्दर बात कही है—

यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो वापि तेन से ।
बालो च पण्डित मानी, स वे बालो ति वुच्चति ॥[4]

(यदि मूर्ख आदमी अपने को मूर्ख समझे तो उतने अंश में तो वह बुद्धिमान है, असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए भी अपने आप को बुद्धिमान समझता है ।)

धम्मपद की कुछ नीतियाँ तो बहुत ही व्यावहारिक हैं । प्रायः धर्म-ग्रन्थों में परोपकार की प्रशंसा की गई है, पर, धम्मपद विश्व का सम्भवतः अकेला धर्म-ग्रन्थ है जिसमें परार्थ के लिए आत्मार्थ न छोड़ने की शिक्षा दी गई है :

---

१ हिस्ट्री ऑव पालि लिट्रेचर, प्रथम संस्करण, जिल्द १, पृ० २००-२१४ ।
२ धम्मपद २४० ।
३ धम्मपद ७१ ।
४ धम्मपद ६३ ।

अत्तदत्थं परत्थेन बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसु तो सिया।

(परोपकारार्थ आत्मार्थ को बहुत न छोड़े। आत्मार्थ को जानकर सदर्थ में लगे।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि धम्मपद का नीति की दृष्टि से बहुत उच्च स्थान है।

जातक—

जातक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भगवान बुद्ध की पूर्व-जन्म की कथाओं का संग्रह है। इसकी कथाओं को जातक कथा कहने का आधार है 'जातक' का अर्थ 'जन्म सम्बन्धी' होना। परम्परा के अनुसार जातक कथाओं की सख्या ५५० कही जाती है, यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत विवाद है। जातक कथाओं के उपलब्ध रूप में ५४७ या ५४८ कथाएँ मिलती है। विद्वानों का विचार है कि मूलतः ये कथाएँ लोक-कथाएँ हैं, जिन्हें बुद्ध धर्म और उसके उपदेशों के अनुरूप रूप प्रदान कर दिया गया है। संस्कृत के कथा-साहित्य पर जातकों का प्रभाव है, विशेषतः महाभारत तथा पंच-तंत्र आदि पर तो यह प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

जातक कथाओं को विंटरनित्स ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में मुख्यतः सात भागों में बाँटा है।[1] इनमें एक भाग व्यावहारिक नीति सम्बन्धी कथाओं का है। सब पूछा जाय तो कुछ अपवादों को छोड़कर जातक की प्रायः सभी कथाएँ व्यावहारिक उपदेश, धर्म और नीति से भरी है। किसी भी नीति या उपदेश के लिए एक कथा ली गई है और उस कथा के द्वारा परिणामस्वरूप उक्त उपदेश दिया गया है। अन्त में या बीच में गाथाओं द्वारा उक्त कथा के सार को छन्द-बद्ध किया गया है। इस प्रकार पंच-तंत्र की भाँति ही जातक भी कथापूर्ण नीति ग्रन्थ है। उदाहरण के लिए 'रोहिणी जातक' लिया जा सकता है। इस जातक में रोहिणी नामक दासी की कथा है। रोहिणी की माँ एक बार सोई थी और उसे मक्खियाँ काट रही थीं। माँ ने पुत्री से मक्खियाँ हटाने को कहा। पुत्री ने मूसल उठाकर मक्खियों को इतनी जोर से मारा कि उसकी माँ मर गई। यह देख रोहिणी रोने लगी। इस कथा के बाद गाथा है—

सेय्यो अमित्तो मेधावी यञ्चे बाला नु कपको।
पस्स रोहिणिक जम्मि मातरं हन्तवान सोचती।[2]

---

१ हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, जिल्द २, पृ० १२५।

२ जातक, १, पृ० ३२३-२५।

(मूर्ख दयालु मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान शत्रु अच्छा है। मूर्ख रोहिणी को देखो, माता को मार कर अब सोचती है।)

आज की लोकोक्ति 'नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा है' भी इसी आशय की है।

जातक की कथाओं में व्यक्त नीतियों को एकत्र किया जाय तो यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि व्यवहार और नीति विषयक जितनी भी बातें सफल जीवन के लिए अपेक्षित है, प्रायः सभी वहाँ मिल जायेंगी। इस दृष्टि से जातक कथाओं को भारतीय लोक एवं व्यवहार नीति का विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

नीति की दृष्टि से जातकों के स्वरूप और विस्तार का सिंहावलोकन करने के लिए उसके विषयों की एक सक्षिप्त सूची यहाँ दी जा रही है। जातक की नीति-कथाओं के प्रधान विषय सत्पुरुष तथा साधु की परिभाषा, स्त्रियों के प्रकार, स्त्रियाँ सामान्यतः बुराई की खानि होती हैं, स्त्रियों का भेद जाना नहीं जा सकता, पति स्त्री के लिए सर्वस्व है, अपने को जीतने वाला सबसे बड़ा होता है, अवसर देखकर कार्य करे, कृतघ्नता बुरी है, चंचलता बुरी है, अच्छी चीज की भी अति बुरी है, बैरी के साथ न रहे, लोभ बुरा है, वाणी मधुर और धीमी अच्छी है, सन्तोष अच्छा है, बुरे से मैत्री न करे, जो जैसा व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही करे, सफल गृहस्थ कौन है, बुरे को दण्ड दे, बहुत खाना बुरा है, एकता में बड़ी शक्ति है, भाग्य का लिखा नहीं जाता, शील का बड़ा महत्व है, बड़ों का आदर करे तथा उनकी आज्ञा माने, धैर्य, दया तथा क्षमा अपनावे, आशा दुख की जड़ है, राजा को कार्य विचारपूर्वक करना चाहिए, राजा जैसा होगा प्रजा भी वैसी ही होगी, क्रोध न करे, दिन सदा एक से नहीं रहते, दूसरे के छिद्र देखना आसान है पर अपना देखना कठिन तथा बुरे की संगति न करे, आदि है।

कहना न होगा कि इसमें राज, लोक-व्यवहार तथा धर्म सभी प्रकार की प्रमुख नीतियों का समावेश है। निश्चय ही विश्व के किसी एक ग्रन्थ में नीति की इतनी अधिक बातें नहीं मिल सकती।

यहाँ उदाहरण के लिए जातक की कुछ नीति-गाथाएँ दी जा रही हैं—

प्रत्येक कार्य पर्याप्त सोच-विचार कर धीरे-धीरे करना चाहिए। 'सिगाल जातक' में एक गाथा है—

असमोक्खितकम्मन्तं तुरताभि निपातिनं।
सानि कम्मानि पप्पेन्ति उण्हं वज्फोहितं मुखे॥[1]

---

१ जातक १, पृ० १४७।

(जो आदमी बिना विचारे जल्दबाजी में काम करता है, उसके वे काम ही उसे तपाते हैं, जैसे मुँह में डाला हुआ अत्यन्त गर्म भोजन।)

कटु वाणी बोलने वाले के सम्बन्ध में 'सुजाता जातक' में एक गाथा है—

नहि वण्णेन सम्पन्ना, मञ्जुका पिय दस्सना।
खर वाचा पिया होन्ति अस्मि लोके परम्हि च॥[1]

(सुन्दर वर्ण वाला, कोमल और देखने में प्रिय लगने पर भी कटु वाणी बोलने वाला न इस लोक में प्रिय होता है न दूसरे में।)

जातक की कथाएँ यथार्थतः धार्मिक दृष्टि से लिखी गई हैं, पर व्यावहारिक नीति की दृष्टि से उनमें ऐसी भी कुछ बातें हैं जिन्हें व्यावहारिक तो कहा जा सकता है पर साथ ही उन्हें अधार्मिक भी कहा जा सकता है। 'वच्छनख जातक' में गृहस्थ के लिये झूठ बोलना तथा दूसरों को ठगना आवश्यक बतलाया गया है। ये बातें अधार्मिक हैं पर गृहस्थी या सांसारिक व्यक्ति की दृष्टि से कुछ अंशों तक इनकी उपयोगिता तथा आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती। गाथा इस प्रकार है—

धरा नानीहमानस्स धरा नाभणतो मुसा।
धरा नादिन्न दण्डस्स परेसं अनिकुब्बतो।[2]

(नित्य परिश्रम न करने वाले की गृहस्थी नहीं चलती। झूठ न बोलने वाले की गृहस्थी नहीं चलती। दूसरों को न ठगते हुए की गृहस्थी नहीं चलती। दण्ड त्यागी की गृहस्थी नहीं चलती।.....)

विनय पिटक मूलतः बौद्ध संघ का संविधान है। इसमें भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार-व्यवहार, भोजन-पान तथा अन्य नित्य के कामों के सम्बन्ध में नियम दिए गए हैं। इसमें भी नीति की बातें कहीं-कहीं आ गई हैं, यद्यपि उनकी संख्या अत्यल्प है।

अभिधम्म पिटक भी विषय की दृष्टि से पूर्णतः सुत्तपिटक जैसा ही है, इसी कारण राइस डेविड्स ने उसे सुत्तपिटक का परिशिष्ट कहा है। कहना न होगा कि इसमें भी नीति विषयक प्रायः वे ही बातें हैं जो ऊपर सुत्तपिटक में कही जा चुकी है। हाँ, सुत्त की तुलना में यहाँ उनकी संख्या बहुत कम है।

अनुपिटक साहित्य में पेटकोपदेश, मिलिन्दपञ्हो, अट्ठकथा साहित्य, वंश साहित्य तथा पालि काव्य साहित्य आदि प्रधान हैं। इनमें नीति विषयक कुछ बातें पेटकोपदेश तथा अट्ठकथा साहित्य में हैं। यद्यपि सुत्तपिटक के सामने किसी भी

---

१ जातक ३, पृ० ७६।
२ जातक २, पृ० ४१६।

दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। काव्य साहित्य की तेलकटाह गाथा, जिसके रचयिता कल्याणिय कहे जाते हैं, नीति की दृष्टि से कुछ अधिक महत्वपूर्ण है, पर उसकी बातें व्यावहारिक और संसारपरक न होकर भर्तृहरि के वैराग्य शतक की भाँति वैराग्यपरक है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

गंडूपमे विविध रोग निवास भूते
काये सदा रुधिर मुत्त करीस पुण्णे।
यो एत्थ नन्दति नरो ससिगाल भक्खे
कामं हि सोचति परत्थ स बाल बुद्धि। (गाथा ६९)

(जो मूर्ख आदमी फोड़े के समान विविध बीमारियों के घर, खून, पेशाब और पाखाने से भरे गीदडों के भक्ष्य इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक में दुख पाता है।)

श्री आनन्द भदन्त कौसल्यायन ने व्यक्तिगत बातचीत के सिलसिले में एक बार बतलाया था कि पालि में उन्होंने 'लोकनीति' नाम का कोई काव्य-ग्रन्थ लङ्का में कहीं देखा था, जिसमें केवल व्यावहारिक नीति की बातें ही वर्णित थीं। पालि में इस प्रकार के शुद्ध नीति-साहित्य का होना आश्चर्य की बात नहीं। जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, जातक, कुछ अपवादों को छोड़, पंच-तंत्र की भाँति शुद्ध नीति, समाज और व्यवहार नीति से ही ओत-प्रोत है। अभी तक यह 'लोकनीति' ग्रन्थ कहीं देखने में नहीं आया, अतः इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार, यद्यपि पालि का साहित्य प्रधानतः बौद्ध धर्म से सम्बद्ध है, पर, जहाँ तक नीति का प्रश्न है उसमें न केवल धार्मिक और आचारिक अपितु व्यावहारिक नीति की भी प्रचुरता है। हाँ, राजनीति सम्बन्धी बातें अपेक्षाकृत नहीं के बराबर हैं।

(ग) प्राकृत साहित्य में नीति—

लोकभाषा के रूप में प्राकृत का प्रचार लगभग १ ई० से ५०० ई० तक था, पर साहित्यिक भाषा के रूप में इसका प्रयोग लगभग चौथी सदी से १३वीं-१४वीं सदी तक होता रहा। प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत यों तो धार्मिक प्राकृत साहित्य, साहित्यिक प्राकृत साहित्य, नाटकीय प्राकृत साहित्य तथा शिलालेखों का प्राकृत साहित्य आदि कई प्रकार का साहित्य है, पर नीति की दृष्टि से इनमें अधिक महत्व केवल धार्मिक या जैन और साहित्यिक प्राकृत साहित्य का ही है। खोतान में खरोष्ठी लिपि में प्राप्त "प्राकृत धम्मपद" भी नीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है पर वह मूल पालि धम्मपद का रूपान्तर मात्र होने के कारण मौलिक प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता।

धार्मिक या जैन प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत नीति की दृष्टि से कुछ महत्व

धर्मदास गणि का "उपदेश माला", महेश्वर सूरि का "ज्ञान पंचमी कथा", जयसिंह सूरि का "धर्मोपदेश माला विवरण" एवं जिनेश्वर सूरि के "कथा कोष प्रकरण" का है। ये ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। इनमें उपदेशपरक गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए कथाएँ है। पालि की जातक कथाओं की ही भाँति ये भी है, यद्यपि इनमें जातकों की भाँति लोक-नीति नही है। इनका प्रधान विषय जैन धर्म सम्बन्धी है। उदाहरणार्थ "कथा कोष प्रकरण" को लें। इसमें प्रथम ७ कथाएँ जिनेन्द्र देव की पूजा विषयक, ८वीं जिनेन्द्र देव के गुणगान के फल विषयक, ९वी साधु विषयक, १०वीं से १६वीं तक दान के फल विषयक तथा दो कथाएँ साधुनिंदा के फल विषयक हैं।

जैन प्राकृत साहित्य में ही विमल सूरि का "पउमचरिय", हरिभद्र का "समराइच्च कहा" तथा धनेश्वर मुनि का "सुरसुन्दरी चरिय" आदि प्रबन्ध-काव्य भी हैं, जिनमें हिन्दी के रामचरित मानस जैसे ग्रन्थों को भाँति यत्र-तत्र नीति के छन्द है। श्री वी० एम० शाह ने अपने प्राकृत सुभाषित संग्रह में इन सभी से नीति-छन्दों को एकत्र किया है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

साहित्यिक प्राकृत के साहित्य का नीति की दृष्टि से जैन प्राकृत की अपेक्षा अधिक महत्व है। इस वर्ग में मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों प्रकार के ग्रन्थ है। मुक्तकों में अब तक केवल दो ग्रन्थ मिले हैं—(१) गाहा सत्तसई, और (२) वज्जालग्ग।

"गाहा सत्तसई" का अधिक प्रचलित नाम "गाथा सप्तशती" है। मुक्तक काव्य-परम्परा मे भारतीय साहित्य में इस सप्तशती का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। इसी के अनुकरण पर संस्कृत तथा हिन्दी की अनेकानेक सतसइयाँ बनीं।

"गाहा सत्तसई" किसी एक कवि की कृति न होकर एक संकलन ग्रन्थ है। इसमें कुल ७०० प्राकृत गाथाएँ है, जो उस समय प्रचलित बहुत सी गाथाओं में से चुनकर संगृहीत की गई है। इसके संग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। "गाहा सत्तसई" के रचना-काल के विषय मे बड़ा मतभेद है। मोटे रूप में इसे ३०० ई० से ७०० ई० के बीच में माना जा सकता है।

"गाहा सत्तसई" की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बिहारी की सतसई की भाँति इसमें भी शृङ्गार की प्रधानता है पर भक्ति, प्रकृति-चित्रण तथा नीति आदि अन्य विषय भी हैं। इसमें नीति की गाथाओं की संख्या बहुत अधिक तो नहीं है, पर जो हैं बड़ी ही सुन्दर है। "गाहा सत्तसई" के प्रधान नीति-विषय सज्जन, दुर्जन, कुलीन, चुगुला, टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध तथा कृपण आदि हैं। इसमें कोई भी बात सीधे उपदेशात्मक ढङ्ग से न कही जाकर उदाहरणों के साथ सूक्त्यात्मक ढङ्ग से कही गई है। नीच या अकुलीन के विषय में एक गाथा है :

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसह ।[1]

(अकुलीन या नीच व्यक्ति मृदंग की भाँति दोमुँहा होता है । जब तक मुख में भोजन रहता है मधुर बोलता है और नहीं तो अमधुर या रसहीन ।)

यहाँ मृदङ्ग का उदाहरण कितना सटीक है । जब तक मृदङ्ग पर आटा लगाया रहता है, उससे मधुर ध्वनि निकलती है और उस आटे के न रहने पर अमधुर और बेसुरी ।

इसी प्रकार एक गाथा कुटिल और सरल के सम्बन्ध के विषय में है :

चावो सहाव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तम् ।
वंकस्य उज्जुअस्स अ सम्बन्धो किं चिरं होइ ॥[2]

(अर्थात् टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध स्थायी नहीं होता । धनुष टेढ़ा है इसी कारण तीर उस पर आते ही फेंक दिया जाता है ।)

दूसरा प्राकृत मुक्तक ग्रन्थ "वज्जालग्ग" "गाहा सत्तसई" की अपेक्षा कम प्रसिद्ध होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इसके अन्य नाम पद्यालय, बज्रालय तथा विज्जाहल आदि भी हैं । "वज्जालग्ग" भी एक संग्रह-ग्रन्थ है । इसका संग्रह जयवल्लभ ने किया था, जिनका समय विद्वानों ने चौदहवीं सदी ई० के कुछ पूर्व माना है । "गाहा सत्तसई" में और इसमें प्रधान अन्तर यह है कि इसमे गाथाएँ वज्जाओं या वर्गों में विभक्त हैं । 'वज्जालग्ग" का भी प्रधान विषय शृङ्गार है पर नीति आदि अन्य विषयों की गाथाएँ इसमें भी हैं । एक उदाहरण देखा जा सकता है :—

दिढ लोह संकलाण अन्नाण वि विविह पास बंधाणं ।
ताणां चिय अहिययरं वायाबंध कुलीणस्य ॥[3]

(दृढ़ लोहे की शृंखला तथा अन्य भी बहुत से बन्धन हैं, पर कुलीन के लिए वचन का बन्धन सबसे बड़ा है ।)

प्रबन्धात्मक ग्रन्थों में प्रवर सेन का "रावणवहो" तथा वाक्पतिराज का "गउडवहो" प्रधान हैं, जिनमें रामचरितमानस की भाँति नीति के छन्द यत्र-तत्र मिलते हैं ।

श्री वी० एम० शाह ने प्राकृत के मुक्तक और प्रबन्ध सभी प्रकार के प्रायः

---

१ गाथा० ३. ५३ ।

२ गाथा० ५. २४ ।

३ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल : प्राकृत विमर्श, लखनऊ, सं० २००९, पृ० ६ ।

२० ग्रन्थों से नीति के छन्दों को छाँट कर प्राकृत सुभाषित संग्रह[1] नाम से प्रकाशित किया है। निश्चय ही प्राकृत साहित्य में नीति अंश के लिए यह एकमात्र प्रतिनिधि संग्रह है। इस संग्रह के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृत के नीति छन्दों के प्रधान विषय सज्जन, दुर्जन, धन, दरिद्रता, नारी, शील, कर्म, दान, अहिंसा, वेश्या, काव्य, संसार, उपदेश, चुगला, कृपण, क्रोध, मूर्ख, समय तथा प्रेम आदि हैं। सज्जन के विषय में इसका पहला छन्द है—

अवयारपरे वि परे कुणंति उवयारमुत्तमा नूणं।
सुरहेइ चन्दणदुमो परसुमुखं छिज्जमाणो वि ॥[2]

(सज्जन उनकी भी भलाई करते हैं, जो उनकी बुराई करते हैं। चन्दन का पेड़ यद्यपि कुल्हाड़ी से काटा जाता है, पर उसकी धार को सुगन्धमय बना देता है।)

प्राकृत के नीति छन्दों में अन्योक्तियाँ भी हैं। सज्जन और दुर्जन को ध्यान में रखकर कवि कहता है—

वायससाण खराई निवारिया हु हवन्ति असुइरुई।
हंसकरि सिंह पमुहा न कयावि पणुल्लयावि पुणो।[3]

(कौवा, कुत्ता और गदहा मना करने पर भी गन्दगी की ओर झुकते हैं, पर हंस, हाथी और सिंह कहने पर भी उधर नही जाते।)

प्रकृतिदत्त स्वभाव की स्थिरता भी इस छन्द से प्रकट होती है, पर इसमें अन्योक्ति की भावना भी अस्पष्ट नहीं है।

प्राकृत के नीति साहित्य में लोक व्यवहार की बातें अधिक है तथा धर्म आचार की कम और राजनीनि की तो प्रायः नहीं के बराबर। यह साहित्य संस्कृत तथा पालि की भाँति नीति के क्षेत्र में बहुत सम्पन्न तो नहीं है पर जो थोड़े से छन्द हैं, भाव और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से बहुत सुन्दर है।

(घ) अपभ्रंश साहित्य में नीति—

अपभ्रंश का भाषा के रूप में प्रचलन लगभग ५०० ई० से १००० ई० तक रहा पर साहित्य में उसका प्रयोग ६ठी सदी के बाद से हुआ और ९वीं सदी तक राज-दरबारों में उसका आदर होने लगा। ९वीं से लगभग १२वीं सदी तक अपभ्रंश साहित्य का समृद्धि युग रहा यद्यपि साहित्य रचना १९वीं शताब्दी तक होती रही।

---

१ वी० एम० शाह : प्राकृत सुभाषित संग्रह, १९३५, सूरत।
२ वही, पृ० १।
३ वही, पृ० ४८९।

अपभ्रंश साहित्य को मोटे रूप से चार धाराओं में बाँटा जा सकता है। जैन धारा, बौद्ध धारा, शैव धारा और ऐहिकतापरक धारा। इनमें नीति की दृष्टि से जैन, बौद्ध तथा ऐहिकतापरक इन तीन धाराओं का ही महत्व है।

जैन धारा के अन्तर्गत मुक्तक और प्रबन्ध साहित्य की दो स्पष्ट उपधाराएँ हैं। मुक्तक धारा के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों में नीति की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक महत्व रामसिंह मुनि के "पाहुड़ दोहा", देवसेन के "सावयधम्म दोहा" तथा जिन दत्त सूरि के "उपदेश रसायन" का है।

पाहुड़ दोहा (लगभग १००० ई०) प्रमुखतः रहस्यवादी रचना है पर इसमें गुरु, सन्तोष, विषयों से पराङ्मुखता, मोह, आत्मा की एकता, अस्वाद, स्त्री, क्रोध, मन, दया, संग, तीर्थ तथा पुस्तकीय ज्ञान आदि के सम्बन्ध में नीतिपरक बातें भी बड़े सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त की गई हैं। "सङ्ग-प्रभाव" के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर उक्ति है।

भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ॥[1]

(जहाँ खलों का सङ्ग हुआ वहाँ भले पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं। लोहे से मिलकर अग्निदेव भी बडे घनों से पीटे जाते है।)

कहीं-कहीं अन्योक्ति के ढङ्ग पर भी बातें कही गई है—

महुयर सुरतरु मंजरिहिं परिमलु रमिवि हयास।
हियडा फुट्टिवि किण मुयउ ढढोलंतु पलास ॥[2]

(हे हताश मधुकर! कल्पवृक्ष की मंजरी के परिमल का रस लेकर अब पलाश पर भ्रमता फिरता है। तेरा हृदय क्यों न फूट गया और तू मर क्यों न गया?)

देवसेन के "सावयधम्म दोहा" (९३३ ई० के आसपास) का प्रमुख विषय श्रावकों का धर्म तथा आचार है। इसमें प्रवृत्ति मार्ग से आदर्श-चरित्र गृहस्थ के लिए मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है। इस प्रकार यह स्वतः उपदेश-प्रधान ग्रन्थ है। नीति की दृष्टि से यह जैन अपभ्रंश साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें गुरु, जुआ, दया, आहार, वेश्या, चोरी, कर्म का फल, दान, पाप, सन्तोष तथा सत्य आदि विषयों पर बड़ी ही सुन्दर सूक्तियाँ हैं। दान के विषय में कवि कहता है—

१ पाहुड़०, पृ० १४८।
२ पाहुड़०, पृ० १५२।

जं दिज्जइ तं पावियइ, एउ ण वयणु विसुद्धु ।
गाइ पइण्णइ खडभुसइँ किंण पयच्छइ दुद्धु ।।[1]

(जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है । क्या यह बात ठीक नहीं है ? गाय को खली-भूसी खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ?)

दया के विषय में कवि कहता है :

भणवय कायहिं दय करहि जेम ण दुक्कइ पाउ ।
उरि सण्णाहे बद्धइण अवसि ण लग्गइ घाउ ।।[2]

(मन, वचन और काया से दया कर जिससे पाप न आवे । उर में कवच बाँधने से अवश्य घाव नहीं लगता ।)

जिनदत्त सूरि (१०७५-११५३ ई०) के 'उपदेश-रसायन' तथा 'काल स्वरूप कुलक' में मनुष्य जन्म, आत्मोद्धार, कुटुम्ब-सङ्गठन, माता-पिता का आदर, तथा अन्य बहुत सी लौकिक एवं पारलौकिक बातों से सम्बन्धित शिक्षाएँ हैं । योगींद्र देव (सन् १००० ई० के लगभग) के 'परमात्म प्रकाश' एवं 'योगसार' में भी कहीं-कहीं नैतिक उपदेश हैं ।

प्रबन्ध उपधारा में प्रधान ग्रन्थ स्वयंभू (८०० से ९०० ई०) का पउमचरिउ, पुष्पदन्त (९५७ ई० से पूर्व) का महापुराण, जसहर चरिउ तथा णयकुमार चरिउ एवं धनपाल (१०वी सदी ई०) का भविसयत्त कहा आदि हैं । रामचरितमानस की भाँति इनमें भी कहीं-कहीं नीति के छन्द मिल जाते हैं । यद्यपि इनकी सख्या अत्यल्प है ।

बौद्ध धारा में सिद्धों (८०० से लगभग १००० ई०) का साहित्य आता है । सिद्धों की संख्या ८४ कही गई है, यद्यपि केवल २६ की ही रचानाएँ प्राप्त हैं, जिनमें कण्हपा, सरहपा, भुसुकुपा, विरूपा, तिलोपा तथा लुईपा प्रधान हैं । दोहा कोष और चर्यापद रूप में इनकी रचनाएँ प्राप्त हैं । इनका अधिक साहित्य तो इनकी साधना और सिद्धान्तों से सम्बद्ध है, पर कही-कहीं खण्डन-मण्डन की भी प्रवृत्ति है, जिसका हिन्दी सन्तों की खण्डन-मण्डन विषयक कविता के रूप में हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ा है । इसी में कहीं-कहीं नीति की बातें भी हैं, जिनमें गुरु का महत्व, पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा, पंडितों के प्रति व्यंग्य, जाति-पाँति का तिरस्कार तथा शरीर का महत्व आदि प्रधान हैं । सिद्धों की साधना में बोधिचित्त का बहुत महत्व है । यह चित्त की वह अवस्था है, जब वह धर्म-साधना के लिए उद्‌बुद्ध होता है । बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिए छः पारमिताओं की साधना करनी होती है । ये छः पारमिताएँ दान, शील,

---

१ सावयधम्म०, पृ० ९२ ।

२ वही, पृ० ६० ।

क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, और प्रज्ञा हैं। इनके प्रसङ्ग में भी दान, शील, एकाग्रता एवं सहनशीलता आदि के विषय में उपदेश की कुछ बातें कही गई हैं।

सरहपा कहते हैं :

जब लों आप न जानिए तब लों सिख न करेइ।
अन्धा काढ़े अन्ध तिमि दोउहिं कूप पड़ेइ ॥[1]

(जब तक गुरु को ज्ञान न हो जाय शिष्यों को शिक्षा कभी न देनी चाहिए। यदि अन्धा अन्धे को निकालना चाहेगा तो दोनों कूप में गिर जायेंगे।)

सरहपा ने ही एक अन्य स्थान पर कहा है कि विषयों में रमण करते हुए भी विषयों में लिप्त न हो, जैसे कमल जल में होने पर भी उससे निर्लिप्त रहता है :

विसऊ रमंत ण विसअं विलिप्पइ।
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ ॥[2]

मन की चंचलता की सभी नीतिकारों ने निन्दा की है। संस्कृत के एक कवि ने 'अव्यवस्थित चित्तस्य प्रसादो अपि भयंकरः' कह कर इसकी विकरालता व्यक्त की है। भुसुकपा ने भी इस चित्त रूपी चूहे को मारने का आदेश दिया है—

मार रे जोइआ मूसा पवणा।[3]

कण्हपा ने पुस्तकीय ज्ञान वाले पंडितों को श्रीफल के बाहर घूमने वाला भौंरा बताया है :

आगम वेअ पुराणेही पण्डिअ माण वहंति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरीअ भमंति ॥[4]

अपभ्रंश की ऐहिकतापरक धारा इसकी शुद्ध साहित्यिक धारा है, जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी भी दो उपधाराएँ हैं। एक तो प्रबन्ध काव्यों की और दूसरी मुक्तकों की। प्रबन्धों में प्रधान ग्रन्थ अब्दुर रहमान का 'सन्देशरासक' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' आदि है। नीति की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है, पर इसकी मुक्तक उपधारा नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न है। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत छन्दों (प्राकृत पैंगलम तथा प्रबन्धचिन्तामणि) मे विशेषतः यह सामग्री प्रचुर मात्रा में है। इनमें गृहस्थ, स्त्री, भाग्य, सज्जन, दुर्जन, प्रेम, उन्नति में

---

१ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३।
२ दोहाकोष, पृ० १२३।
३ चर्यापद, पृ० १२८।
४ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६३।

मैत्रता, धन तथा भाग्य के सम्बन्ध में बहुत सी सूक्तियां हैं। कहीं-कहीं अन्योक्तियां भी बड़ी सुन्दर कही गई हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते है—

सज्जन का लक्षण है—

परगुण-गहणु स-दोस पयासणु।
महु महुरकरवरहि अमिअ-भासणु॥
उवयारिण पण्डिकिओ वेरिअणहं।
इअ पढडी मणोहर सुअणहं॥[1]

(दूसरे के गुण को ग्रहण करना, अपने दोष को न छिपाना, मीठी बात कहना तथा बैरियों का भी उपकार करना सज्जनों का लक्षण है।)

वेश्या के विषय में—

वेस विसिट्ठइ वारिअइ जह वि मणोहर गत्त।
गंगा जल पक्खालिअवि, सुणिहि कि होइ पवित्त॥[2]

(वेश्याओं को दूर रखिए चाहे वे मनोहर शरीर की ही क्यों न हों। गङ्गाजल में धोई कुतिया क्या पवित्र हो जाती है?)

प्रेम का महत्व—

तिलहं तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलंति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खलहोति।[3]

(तिलों का तिलपन तभी तक है जब तक स्नेह नही गलता। स्नेह नष्ट होने पर तिल खल (खली) हो जाते हैं।)

अपभ्रंश का नीति काव्य धर्म तथा आचार नीति के क्षेत्र में संस्कृत तथा पालि से भी अधिक सम्पन्न है, पर, लोक तथा व्यवहार नीति के क्षेत्र उनसे कुछ पीछे है। राजनीति के विषय में प्राकृत की भाँति ही प्रायः शून्य सा है।



१ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३८२।
२ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७०।
३ वही, पृ० २९०।

: ३ :

पूर्ववर्ती साहित्यों का हिन्दी नीति काव्य पर प्रभाव

पीछे हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—में नीति पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी नीति काव्य पर उनके प्रभाव का अध्ययन है।

प्रभाव के स्रोत—प्रभाव के मूल विषय पर आने के पूर्व उसके सम्भाव्य स्रोतों और उनसे प्रभाव की सम्भावनाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है। ये स्रोत दो प्रकार के सम्भव हैं—

(क) प्रत्यक्ष

(ख) परोक्ष

प्रत्यक्ष स्रोत—प्रत्यक्ष स्रोत का आशय है इन साहित्यों के मूल ग्रन्थ या उनके अनुवाद आदि का सम्पर्क। हिन्दी जनता का इस प्रकार का सम्पर्क प्रधान रूप से संस्कृत साहित्य से ही रहा है। इसके कारण भी हैं। अँग्रेजों के शासन के पूर्व भारत में प्रधानतः केवल संस्कृत की पाठशालाएँ ही शिक्षा के केन्द्र थीं, अतः शिक्षा का अर्थ ही था संस्कृत की शिक्षा। इसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन प्रभावों के कम हो जाने पर धर्म की दृष्टि से भी लोगों का ध्यान संस्कृत के ही ग्रन्थों की ओर विशेष रूप से जाता था। इस प्रकार शिक्षा और धर्म दोनों ही के कारण लोगों को संस्कृत के सम्पर्क में आना पड़ता था। इसके अतिरिक्त संस्कृत के पण्डित संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में रूपान्तर भी करते थे। सभा, राज-स्थान तथा सम्मेलन आदि की खोज रिपोर्टों से इस बात की भली-भाँति पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में, जिन लोगों की संस्कृत में गति नहीं थी वे भी अनुवादों द्वारा संस्कृत साहित्य के सम्पर्क में आते थे। अतएव प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी नीति साहित्य पर सबसे अधिक संस्कृत साहित्य के प्रभाव की सम्भावना है।

संस्कृत की पाठशालाओं में विद्यार्थियों को, विशेषतः उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को संस्कृत के अतिरिक्त कुछ प्राकृत भी पढ़नी पड़ती थी, क्योंकि नाटकों में स्त्री तथा सेवक आदि के कथोपकथन प्राकृत में ही हैं। रीतिकाल के बिहारी सतसई आदि शृङ्गारिक ग्रन्थों पर प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गाहा सतसई' का भाव और शैली दोनों दृष्टियों से अधिक प्रभाव भी इस बात की पुष्टि करता है, कि उस समय कुछ-कुछ

प्राकृत ग्रन्थों का भी अध्ययन प्रचलित था। अतएव प्रत्यक्ष स्रोत से प्राकृत के भी हिन्दी नीति साहित्य पर कुछ प्रभाव की सम्भावना है।

हिन्दी के प्रचलन के साथ बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज से समाप्त हो चुका था तथा पालि के अध्ययन के लिए बाध्य करने वाला कोई अन्य आकर्षण भी नहीं था, अतः हिन्दी जनता या कवियों में उसका कभी प्रचार न हो सका। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष स्रोत से पालि के प्रभाव की सम्भावना बिल्कुल ही नहीं है।

अपभ्रंश के बाद ही हिन्दी का काल आता है और यदि भाषा के रूप को एवं आधुनिक साहित्य को छोड़ दें तो परम्परा की दृष्टि से आदि, भक्ति तथा रीति कालीन, हिन्दी साहित्य अपभ्रंश मे बहुत भिन्न नही है। वीर, सन्त, कृष्ण, राम, सूफियों की प्रेमपरक कहानियों तथा शृङ्गार और नीति विषयक रीतिकालीन मुक्तक साहित्य आदि सभी के मूल स्रोत अपभ्रंश मे ही फूट चुके थे। उसी को हिन्दी के कवियों ने अपनी साधना से सींचकर विकसित किया। अत. अपभ्रंश साहित्य से हिन्दी के प्राचीन कवियों के परिचित एवं प्रभावित होने की कुछ सम्भावना अवश्य है। हिन्दी के रामचरितमानस, पद्मावत, मृगावती, आदि ग्रन्थों पर अपभ्रंश के पउमचरिउ, भविष्यतकहा तथा जसहरचरिउ के स्पष्ट प्रभाव से भी इस बात की पुष्टि होती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी नीति साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की सम्भावना सबसे अधिक, प्राकृत तथा अपभ्रंश की कुछ कम और पालि की बिल्कुल नहीं है।

प्रत्यक्ष स्रोत से भाव और शैली दोनों ही प्रभावित हो सकते है।

परोक्ष स्रोत—परोक्ष स्रोत दो प्रकार के सम्भव है—

(१) साहित्यिक परम्परा का

(२) सांस्कृतिक

साहित्यिक परम्परा का स्रोत—संस्कृत के आदिकालीन साहित्य की कुछ परम्पराएँ थीं। उनका विकास हुआ और इसी बीच पालि साहित्य का उदय हुआ। पालि की अपनी परम्पराएँ बनीं और फिर बाद के संस्कृत साहित्य की परम्पराएँ पीछे की दोनों परम्पराओं को आत्मसात करके विकसित हुईं। इन्हीं परम्पराओं की नींव पर जीवन की नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप प्राकृत साहित्य की परम्पराओं का विकास हुआ और इसी प्रकार आगे चलकर ये परम्पराएँ अपभ्रंश की परम्पराओं में परिणत हुई। समय पर हिन्दी की अपनी परम्पराएँ उद्भूत हुईं जिनकी पृष्ठभूमि में अपभ्रंश की परम्पराएँ थीं। इस प्रकार साहित्यिक परम्पराओं के स्रोत से शैली, छन्द, अलंकार एवं भाव आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दी के जीवन रस पर संस्कृत, पालि,

प्राकृत तथा अपभ्रंश का परोक्ष प्रभाव ही नहीं है, अपितु हिन्दी साहित्य का जीवन-रस परोक्ष रूप से बहुत अंशों में इन्हीं सब की देन है।

सांस्कृतिक स्रोत—सांस्कृतिक स्रोत से आने वाला परोक्ष प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथार्थतः, पिछले सभी स्रोतों से आने वाले प्रभावों की अपेक्षा यह अधिक महत्व रखता है।

संस्कृत साहित्य भारत का प्राचीनतम साहित्य है। वह एक ओर तत्कालीन जीवन की अनुभूतियों एवं आवश्यकताओं से उद्भूत है तो दूसरी ओर परवर्ती सामाजिक जीवन का उसने निर्माण भी किया है। आज युगों बाद भी यदि भारतीय जीवन की नैतिक धार्मिक, आचारिक तथा व्यावहारिक मान्यताओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो उसका एक महत्वपूर्ण अंश ऐसा मिलेगा जिसके निर्माण में संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। पर संस्कृत साहित्य द्वारा प्रतिष्ठित इन मान्यताओं में से सभी अपने मूल रूप में हिन्दी काल तक नहीं पहुँची है। अपने-अपने समय पर पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव ने उनमें युगानुकूल परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया है और इन साहित्यों के आधार पर निर्मित युग-शासित विश्वासों ने उन्हें संवारा तथा संजोया है। इस प्रकार जिस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर हिन्दी साहित्य का एवं उसके रचयिताओं के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, वह विभिन्न अनुपातों में संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा ही विनिर्मित है। ऐसी दशा में सांस्कृतिक स्रोत से इन विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का हिन्दी नीति साहित्य पर प्रभाव सर्वथा स्वाभाविक है।

सांस्कृतिक स्रोत से आने वाला यह प्रभाव केवल भाव या विचार के क्षेत्र में ही सम्भव है।

अन्त में प्रभाव की दृष्टि से हिन्दी नीति साहित्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि पालि साहित्य द्वारा उसके केवल परोक्ष स्रोत से प्रभावित होने की सम्भावना है, पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही स्रोतों से उसे प्रभावित किया है। इनमें सबसे अधिक प्रभाव संस्कृत का सम्भव है क्योंकि इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रभाव-स्रोत अन्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं।

प्रभाव—हिन्दी नीति साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्यों के प्रभाव के उचित मूल्यांकन के लिए पाँच शीर्षक लिए जा सकते हैं :—

(क) परम्परा
(ख) शैली
(ग) छन्द
(घ) अलंकार
(ङ) भाव

(क) परम्परा—

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में नीति की बातें निम्न छः परम्पराओं में प्रमुख रूप से मिलती हैं।

(१) **मुक्तक परम्परा**—संस्कृत साहित्य में नीति कथन की यह प्रमुख परम्परा है। इसके बीज महाभारत के कुछ अंशों में मिलते हैं, पर इसका पूर्ण विकास चाणक्य आदि में हुआ है। इस परम्परा के प्रधान संस्कृत ग्रन्थों की सूची पीछे संस्कृत में नीति साहित्य पर विचार करते समय दी जा चुकी है जिनमें अधिक प्रसिद्ध चाणक्य नीति, भर्तृहरि का नीतिशतक तथा कामंदक नीति आदि हैं। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में यह परम्परा नहीं मिलती। इन भाषाओं के साहित्यों में एक भी ऐसा मुक्तक आज तक नहीं मिला है, जिसमें केवल नीति की सूक्तियाँ हों। पर, हिन्दी में यह परम्परा मिलती है। रहीम तथा वृन्द आदि के नीति ग्रन्थ इसी परम्परा में आते है। हिन्दी में यह परम्परा सीधे संस्कृत से आई है। पीछे प्रत्यक्ष स्रोत पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि मध्य युग में संस्कृत से हमारा सम्बन्ध था। उस समय चाणक्य भर्तृहरि, विदुर तथा कामंदक आदि के नीति ग्रन्थों का जनता में पर्याप्त प्रचलन था। खोज रिपोर्टों से पता चलता है कि लोगों ने इन ग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद भी किए।[1] इस प्रकार हिन्दी वालों ने सीधे संस्कृत से इस परम्परा को ग्रहण किया।

(२) **अन्योक्ति परम्परा**—अन्योक्ति का आरम्भ वैदिक साहित्य में ही हो गया था। वृहदारण्यक उपनिषद का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' वाला प्रसिद्ध छन्द अन्योक्ति ही है, पर, इसका पूर्ण विकास उन मुक्तक ग्रन्थों में हुआ, जिनमें केवल अन्योक्तियाँ ही संगृहीत है। इस परम्परा के संस्कृत ग्रन्थों की एक सूची पीछे सस्कृत साहित्य पर विचार करते समय दी गई है, जिसके अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ नीलकण्ठ, लक्ष्मी नरसिंह तथा चन्द्रचूड़ के अन्योक्ति शतक, अन्योक्ति माला, एवं अन्योक्ति कण्ठाभरण आदि है। पालि साहित्य में अन्योक्तियाँ प्रायः नहीं मिलतीं पर प्राकृत तथा अपभ्रंश में इस परम्परा की क्षीण धारा अवश्य दृष्टिगत होती है। पर, संस्कृत की भाँति इनमें अन्योक्ति के स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते। हिन्दी में दीनदयाल गिरि का अन्योक्ति-कल्पद्रुम इस परम्परा का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने इस तरह का एक दूसरा ग्रन्थ अन्योक्ति-माला भी लिखा है। फुटकर रूप से इस परम्परा में रहीम, तुलसी, बिहारी तथा वृन्द आदि प्राचीन, एवं राय देवी प्रसाद पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त तथा

---

१ उदाहरणार्थ कृष्ण द्वारा अनूदित विदुर नीति, गदाधर द्वारा कामंदक नीति, अर्जुन तथा प्रतापसिंह द्वारा भर्तृहरि नीति शतक तथा देवमणि एवं अरुण मणि द्वारा चाणक्य नीति आदि।

शंकर आदि नवीन कवियों ने कुछ संस्कृत की अन्योक्तियों के आधार पर तथा कुछ स्वतन्त्र रूप से भी अन्योक्तियाँ लिखी हैं। हिन्दी में इस परम्परा का प्रवेश दो स्रोतों से है। एक तो संस्कृत के प्रत्यक्ष सम्पर्क से और दूसरे संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्यों में आती हुई अन्योक्ति लेखन की परम्परा से।

(३) **सुभाषित[1] परम्परा**—अन्य परम्पराओं की भाँति इस परम्परा का सम्बन्ध लेखन या रचना से न होकर चयन, संकलन तथा वर्गीकरण से है। भारतीय साहित्य में सुभाषित परम्परा का प्रथम ग्रन्थ पालि का धम्मपद है। इसमें विभिन्न विषयों पर लिखित सूक्तियों या सुभाषितों का संग्रह है। प्राकृत की 'गाहा सतसई' भी इसी परम्परा की एक कड़ी है। जैसा कि इसके सग्रहकर्ता हाल ने स्वयं कहा है, उस समय की अनेक गाथाओं में से चुन कर इसमें विभिन्न विषयों की गाथाएँ संगृहीत की गई हैं। इसके बाद यह परम्परा संस्कृत में आई है। संस्कृत का प्रथम सुभाषित ग्रन्थ 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' है, जिसका समय १००० ई० के आस-पास है। जयवल्लभ द्वारा संगृहीत प्राकृत संग्रह "वज्जालग्ग" भी इसी परम्परा में है, जिसमें धम्मपद तथा संस्कृत के सुभाषितों की भाँति गाथाएँ विभिन्न विषयक बज्जाओं या वर्गों में विभाजित है। अपभ्रंश में इस परम्परा का कोई ग्रन्थ नही मिलता। यों हेमचन्द्र के व्याकरण में इस प्रकार के विभिन्न विषयों के (जिसमें शृङ्गार, वीर तथा नीति विषय प्रधान है) अपभ्रंश के छन्द है, पर यथार्थतः सुभाषित रूप मे उनका संग्रह नही है। वे व्याकरण के उदाहरण मात्र है।

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों की इस सुभाषित परम्परा को तीन उप-परम्पराओं में बाँटा जा सकता है। प्रमुख उप-परम्परा तो ऐसे ग्रन्थों की है, जिनमें विभिन्न कवियों के विभिन्न विषयक छन्दों को विषयानुसार वर्गों में रखा गया है। प्राकृत का वज्जालग्ग तथा संस्कृत के बहुत से सुभाषित ग्रन्थ इसी उप-परम्परा के है। हिन्दी मे भी यह परम्परा मिलती है। रज्जब जी की "सर्वंगी" में साठ से कुछ अधिक कवियों के छन्द गुरु, सुमति, कुमति, दया, निर्वैरता, निन्दा, सन्तोष, सत्य, क्रोध, करनी तथा स्वार्थ आदि १४२ अङ्गों मे विषयानुसार विभाजित करके रक्खे गये हैं। जगन्नाथदास दादूपंथी के "गुण गंजनामा" मे भी लगभग ६० कवियों के छन्द १७९ अङ्गों या वर्गों में रक्खे गये हैं। निरंजनी तथा दादूपंथी मठों में मिलने वाले कुछ

---

१ सुभाषित का शाब्दिक अर्थ तो है सूक्ति या अच्छी तरह कहा हुआ, पर इसका प्रयोग सुभाषित या सूक्ति के संग्रहों या सग्रह ग्रन्थों के लिये भी होता है। यहाँ इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।

पंचबानी ग्रन्थ,[1] नकछेदी तिवारी का "भड़ौआ संग्रह"[2] (अंश रूप में) भूरसिंह शेखावत का "विविध संग्रह" एवं राम कवि का "हिन्दी सुभाषित" आदि ग्रन्थ इसी उप-परम्परा के हैं। इस उप-परम्परा के हिन्दी तथा उसकी पूर्ववर्ती भाषाओं के संग्रहों में भी अन्य बहुत से विषयों के छन्दों के साथ नीति के भी छन्द हैं।

सुभाषितों की दूसरी उप-परम्परा में वे ग्रन्थ आते है, जिनमें विभिन्न कवियों के सुन्दर छन्द तो संकलित रहते हैं पर विषयानुसार उनका विभाजन नहीं रहता। प्राकृत की "गाहा सत्तसई" ऐसा ही संग्रह है। हिन्दी में इस उप-परम्परा में सिक्खों के ५वें गुरू अर्जुनदेव द्वारा सकलित "गुरु ग्रन्थ साहब" एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें सिक्खों के गुरुओं के अतिरिक्त कबीर, रैदास, बैनी, नामदेव तथा फरीद आदि बहुत से कवियों के छन्द संगृहीत हैं।[3] इसमें गाहा सत्तसई की भाँति ही कुछ नीति छन्द भी हैं। इस प्रकार के बहुत से संग्रह ग्रन्थ मध्ययुग में बने जो पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।[4] आधुनिक युग में भी हिन्दी में इस प्रकार के संग्रह हुए हैं, जिनमें नवलकिशोर प्रेस लखनऊ तथा भारत जीवन प्रेस काशी के "सभा विलास" हिन्दी भवन लाहौर की "सूक्ति सुधा" किशोरीलाल गुप्त की "काव्य वाटिका" तथा पाटन के "ज्ञान सरोवर" आदि के नाम लिए जा सकते है।

सुभाषितों की तीसरी उप-परम्परा में वे ग्रन्थ हैं, जिनमें एक ही रचयिता की रचनाएँ विषयानुसार वर्गों में सजाई रहती है। धम्मपद इस परम्परा का प्राचीनतम ग्रन्थ है। भर्तृहरि ने अपने श्लोकों को नीति, शृङ्गार तथा वैराग्य तीन शीर्षकों में मोटे रूप से रखकर जो तीन शतक बनाये हैं वे भी तीनों मिलाने पर कुछ इसी परम्परा में हैं। हिन्दी में भी यह परम्परा मिलती है। कबीर और सन्त कवियों की साखियों का अङ्गों में विभाजन इसी दिशा में है। भर्तृहरि के अनुकरण पर रामचरित उपाध्याय ने अपनी ब्रज सतसई के दोहों को भी शृङ्गार, नीति और वैराग्य नाम के तीन वर्गों में रक्खा है। हरिऔध की "दिव्य दोहावली" तथा महेशचन्द्र की "स्वदेश

---

१ नवलगढ़ में प्राप्त पंचबानी में कविताएँ ६४ भागों में विभाजित हैं।

२ इसके कुछ ही अंश इस परम्परा में आते हैं। बीच में कहीं-कहीं छन्दों के आधार पर भी विभाजन हैं।

३ यह संग्रह ग्रन्थ विषयानुसार विभाजित न होने से इस परम्परा में आता तो है, पर इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें रागों के अनुसार विभाजन है। कृष्णानन्द का राग कल्पद्रुम तथा कुचायन में प्राप्त पंचबानी भी इसी प्रकार के संग्रह हैं।

४ कुछ पंचबानियां भी इस प्रकार की हैं।

सतसई' में भी यह प्रयास है। हिन्दी में इस उप-परम्परा में कुछ लोगों ने तो अपनी कविताओं को स्वयं इस रूप में रखा है, पर कुछ की कविताओं से सूक्तियों को छाँट कर दूसरों ने भी उन्हें विषयानुसार संकलित किया है। "तुलसी-सूक्ति-सुधा" नाम के संग्रह में वियोगी हरि ने तुलसी की सूक्तियों को विषयानुसार विभाजित करके रखा है।

(४) **विविध विषयक मुक्तक काव्य में नीति परम्परा**—विविध विषयक मुक्तक काव्यों में भी नीति के छन्द रखने की परम्परा रही है। संस्कृत में भामिनि विलास तथा आर्या सप्तशती ऐसे ही मुक्तक ग्रन्थ हैं, जिनमें शृङ्गार की प्रधानता होते हुए भी नीति के कुछ छन्द हैं। पालि में इस परम्परा के चिन्ह नहीं मिलते। प्राकृत में भी शुद्ध रूप से इस परम्परा का कोई ग्रन्थ नहीं है, यद्यपि "गाहा सत्तसई" को लोग इसी प्रकार का ग्रन्थ मानते रहे हैं तथा हिन्दी में इस परम्परा को लाने का श्रेय "आर्या सप्तशती" से अधिक "गाहा सत्तसई" को ही है। अपभ्रंश में भी शुद्ध रूप से इस प्रकार की किसी रचना का अभाव है। यों जिस प्रकार इन ग्रन्थों में शृङ्गार का प्राधान्य है और साथ में नीति भी है, कुछ उसी प्रकार पाहुड़ दोहा तथा सावयधम्भ दोहा में धार्मिक आचार का प्राधान्य है और साथ में कुछ नीति भी है। सिद्धों के छन्दों में भी यही परम्परा है।

इस प्रकार हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में धर्म के साथ नीति और शृङ्गार के साथ नीति रूप में इस परम्परा में दो उप-परम्पराएँ है। हिन्दी में भी ये दोनों उप-परम्पराएँ सुरक्षित हैं। धर्म के साथ नीति के उदाहरण के लिये नाथों के छन्द, सन्त साहित्य की साखियाँ एव तुलसी दोहावली आदि है तथा शृङ्गार के साथ नीति के लिये बिहारी, मतिराम एव भूपति आदि की शृङ्गार सतसइयाँ है।

(५) **प्रबन्ध ग्रन्थों में नीति की परम्परा**—हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों के प्रबन्ध काव्यों में यत्र-तत्र नीति कहने की परम्परा रही है। संस्कृत के रामायण, महाभारत, बुद्ध चरित, सौन्दरानन्द, रघुवंश, किरातार्जुनीय तथा भट्टिकाव्य आदि, प्राकृत के पउम-चरिय तथा सुरसुन्दरी चरिय आदि एवं अपभ्रंश के पउमचरिउ तथा जसहरचरिउ आदि में यह परम्परा मिलती है। पालि में इसका अभाव है।

हिन्दी के पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस तथा रामचन्द्रिका आदि के नीति अंश इसी परम्परा में हैं।

(६) **औपदेशिक कथाओं की परम्परा**—भारतीय साहित्य में यह परम्परा बड़ी प्राचीन है। सबसे पुरानी औपदेशिक कथाएँ जातकों में हैं। जातकों की इन कथाओं की पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य की आख्यायिकाओं एवं लोक साहित्य की कथाओं की परम्परा रही है। संस्कृत में इसी परम्परा में महाभारत की औपदेशिक कथाएँ,

पंचतंत्र की कहानियाँ तथा हेमचन्द्र जैन जातक (परिशिष्ट पर्वन) आदि आते हैं इनमें जैन जातक का सम्बन्ध विशेषतः जैनों की धर्म नीति से है। प्राकृत की उपदेश माला, ज्ञानपञ्चमी कथा तथा कथा कोष प्रकरण आदि की कथाएँ भी इसी परम्पर की कड़ी हैं, यद्यपि उनमें लोक और व्यवहार नीति की बातें प्रायः नही के बराबर हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि अन्य सभी परम्पराएँ तो हिन्दी में मध्ययुग तक मिल जाती हैं[1], पर केवल यही परम्परा नहीं मिलती, यद्यपि इस युग में पंचतंत्र तथा हितोपदेश आदि का हिन्दी जनता में पर्याप्त प्रचार था और इन दोनों के दर्जनो अनुवाद भी हिन्दी में हुए जैसा कि सभा की खोज रिपोर्टों से पता चलता है।[2] इस परम्परा के न होने का एकमात्र कारण सम्भवतः यह है कि मध्य युग तक गद्य का प्रचार हिन्दी में नहीं था जबकि इस परम्परा में गद्य का होना आवश्यक है। आगे चलकर जब गद्य का प्रचार हुआ तो यह परम्परा भी हिन्दी में आ गई। भारतेन्दु-कालीन उपन्यासों में इस परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। उस काल के उपन्यासों में श्रीनिवास के 'परीक्षा गुरु' उपन्यास का अपना विशिष्ट स्थान है। इसकी शैली, इसका कथानक तथा उद्देश्य सभी औपदेशिक हैं। अध्यायों के आरम्भ में या बीच-बीच में जातक कथाओं या पंचतंत्र आदि की भाँति नीति पूर्ण छन्द भी रखे गए हैं। इन छन्दों में कुछ तो हिन्दी के नीति के कवियों—कबीर, तुलसी, गंग, वृन्द और गिरिधर आदि के हैं और कुछ पंचतंत्र, हितोपदेश, बायस, पोप, लार्ड चैस्टरफील्ड, शेक्सपीयर, विलियम कूपर, शेखसादी, हरिवंश, मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, महाभारत, चाणक्य नीति, विदुर नीति, सुभाषित रत्नाकर तथा विष्णु पुराण आदि से अनुवादित हैं। भारतेन्दु लिखित पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा तथा बालकृष्ण भट्ट के "नूतन ब्रह्मचारी" एवं "सौ अजान और एक सुजान" आदि उपन्यास भी उपदेशात्मक ही हैं। आर्यसमाज तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण वह युग ही सुधारों का था, साथ ही लोगों का ध्यान भी अँग्रेजी, बंगाली आदि के साथ संस्कृत के कथा-साहित्य की ओर भी गया था, अतः बहुत से शिक्षाप्रद उपन्यास इस समय में लिखे गए।

---

१ ईश्वरदास कृत 'सत्यवती की कथा' (र० का० १५०१ ई०), कुशललाभ कृत 'माधवानल' कामकन्दला चौपई (र० का० १५५६ ई०) तथा चतुर्भुजदास कायस्थ कृत मधुमालती (र० का० १७८० ई०) में नीति की कथाएँ भी हैं पर इन ग्रन्थों का प्रधान स्वर नीति या उपदेश न होकर प्रेमाख्यानक काव्य का है। (डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव : भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, बनारस, १९५५, पृ० ४३५–५५)

२ चन्द्र, कोविद, बंशीधर देवीचन्द्र तथा नारायण आदि के अनुवाद।

हिन्दी कहानियों का आरम्भ सन् १९०० से हुआ। उपन्यासों की भाँति ही कहानियों के क्षेत्र में भी प्रारम्भिक युग में उपदेशात्मक कहानियों की ओर ही लोगों का झुकाव अधिक था। विद्यानाथ शर्मा की "विद्याबहार" तथा मैथिलीशरण गुप्त की "निन्यानवे का फेर" इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। बाद में जब उपदेशात्मक कथाएं कला की दृष्टि से हेय समझी जाने लगीं तो इनका प्रचलन कम हो गया।

लड़कों के लिए लिखी गईं कहानियों में तो सैकड़ों उपदेशात्मक हैं और अब भी इस प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। जिस प्रकार पंचतंत्र का मुख्य ध्येय राजा के लड़कों को नीति की शिक्षा देना था, उसी प्रकार इन कहानियों का भी ध्येय लड़कों को उपदेश देना होता है। प्रस्तुत अध्ययन काव्य तक ही सीमित है, अतः हिन्दी के इन नीति पूर्ण उपन्यासों तथा कहानियों पर यहाँ विचार न किया जा सकेगा।

कविता के माध्यम से कहानियों द्वारा नीति कथन के कुछ उदाहरण आधुनिक काल में अवश्य मिलते हैं। इस दृष्टि से पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम विशेष उल्लेख्य है। आपने इस प्रकार की लगभग दस पद्यबद्ध कहानियाँ लिखी थीं। काव्य वाटिका में 'क्षमा का अद्भुत परिणाम' तथा 'निर्बलों को न्यायालय में भी जगह नहीं' शीर्षक इस प्रकार की आपकी दो रचनाएँ संगृहीत हैं।[1] बाल और किशोर साहित्य के रूप में भी इस प्रकार की कुछ रचनाएं हिन्दी में हुई है।

इस प्रकार औपदेशिक कथाओं की परम्परा भी हिन्दी साहित्य में बिल्कुल अपरिचित नहीं कही जा सकती।

(ख) शैली—

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में नीति-कथन की निम्न छः शैलियाँ प्रचलित थीं। यहाँ शैलियों का संक्षिप्त परिचय हिन्दी में उनकी परम्परा के साथ दिया जा रहा है।

१. **उपदेशात्मक शैली**—नीति कथन की यह सबसे सीधी और स्पष्ट शैली है। इसमें उपदेश को सीधे बिना किसी वक्रता, आकर्षण या साहित्यिकता का पुट दिए पद्यबद्ध कर दिया जाता है। इस शैली में शुष्कता रहती है। इसी कारण अन्य शैलियों की अपेक्षा इसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। स्मृतियों, पुराणों, कुछ नीति ग्रन्थों (भर्तृहरि तथा चाणक्य आदि में), धम्मपद, प्राकृत के प्रबन्ध-काव्यों एवम् पाहुड तथा सावयधम्म दोहा आदि में प्रायः इस शैली का प्रयोग हुआ है। हिन्दी में भी यह शैली बहुत प्रचलित रही है। गोरख, कबीर, तुलसी तथा गिरिधर आदि में इस शैली का प्रायः प्रयोग हुआ है।

१ काव्य-वाटिका, पृ० २०३, २१०।

२. **सूत्रात्मक शैली**—सूत्रात्मक शैली का सबसे बड़ा गुण है संक्षिप्त होना। इसमें कम से कम शब्दों में भाव रखे जाते हैं। संस्कृत के सूत्र ग्रन्थों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली में लिखे गये नीति के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में संस्कृत में चाणक्य का केवल चाणक्य सूत्र नामक ग्रन्थ प्राप्त है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में यह शैली नीति के लिये नही मिलती। हिन्दी में भी इस शैली का प्रयोग नहीं हुआ है। यों लोकोक्तियों की शैली सूत्र शैली से मिलती-जुलती है। पर, यथार्थतः सूत्र शैली का इन पर प्रभाव नहीं माना जा सकता। संस्कृत में बहुत सी नीति श्लोकों के अंश संस्कृत काल में ही लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त होने लगे थे। उन्हीं की परम्परा में हिन्दी की लोकोक्तियाँ आती हैं। इस परम्परा में ही होने के कारण हिन्दी की बहुत सी लोकोक्तियाँ हिन्दी नीति कवियों के छन्द या छन्दांश हैं। ऐसी स्थिति में इस शैली का हिन्दी नीति साहित्य में अभाव ही मानना उचित होगा।

३. **सूक्त्यात्मक शैली**—इसमें नीति की बातें सूक्ति के रूप में रहती हैं। उनमें कथन-शैली में वक्रता, चमत्कार, अलंकरण-विधान या अन्य साहित्यिक उपकरणों के प्रयोग के कारण चुस्ती और आकर्षण रहता है। उपदेशात्मक शैली की भाँति यह शुष्क नहीं लगती। इसमें प्रभविष्णुता बहुत रहती है। नीति साहित्य के लिए इसे सर्वश्रेष्ठ शैली कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रेष्ठ नीतिकारों ने इस शैली का प्रायः प्रयोग किया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—सभी में इस शैली का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी यह शैली बहु प्रचलित है। इसके सब से सुन्दर प्रयोग रहीम तथा वृन्द ने किये है। यों इस शैली के छन्द, कबीर, तुलसी, जान, बिहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि में भी मिल जाते हैं।

४. **अन्योक्त्यात्मक शैली**—नीति कहने का सबसे शिष्ट और सूक्ष्म ढङ्ग अन्योक्तियों का है। इसमें बात प्रस्तुत को सम्बोधित न करके उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत के प्रति कही जाती है और अप्रस्तुत पर घटित होने तथा उसे शिक्षा देने के साथ-साथ प्रस्तुत पर भी घटित होती तथा उसे शिक्षा देती है। यह शैली पालि में तो प्रायः नहीं है पर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में मिलती है। वहीं से यह हिन्दी में आई है। हिन्दी में अन्योक्तियों के लिए दीनदयाल गिरि का नाम अधिक प्रसिद्ध है, यद्यपि तुलसी, रहीम, वृन्द, बिहारी, पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा सैयद अमीर अली मीर आदि ने भी इन शैली के सुन्दर प्रयोग किए हैं।

५. **प्रकृति-चित्रण के साथ**—प्रकृति चित्रण के साथ नीति की बातें कहने की शैली भी बड़ी मार्मिक है। इस शैली में प्रकृति की क्रियाओं का वर्णन रहता है और उसकी तुलना के लिए नीति के वचन रहते हैं। इस शैली का हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में केवल संस्कृत में प्रयोग हुआ है। भागवत के १०वें स्कंध में वर्षा तथा

शरद वर्णन में यह शैली मिलती है। उसी के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में तुलसी के मानस में भी वर्षा तथा शरद वर्णन में इस शैली का प्रयोग हुआ है।

६. **कथात्मक शैली**—नीति-कथन की कथात्मक शैली सबसे अधिक प्रभावशालिनी पर साथ ही विस्तार की है। इसमें कोई कथा कही जाती है, जिसका निष्कर्ष नीतिपरक होता है। कभी-कभी उस निष्कर्ष को अन्त या बीच या कथा के आरम्भ में ही छन्दबद्ध कर देते हैं। जातक, पंचतंत्र एवं प्राकृत अपभ्रंश की जैन कथाएँ इसी शैली में है। हिन्दी में १९वीं सदी के अन्तिम चरण के कुछ उपन्यास, बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों की कुछ कहानियों तथा बाल-कथाओं एवम् रामनरेश त्रिपाठी की नीतिपरक पद्यबद्ध कविताओं[1] के रूप में यह शैली मिलती है।

इस प्रकार शैली के क्षेत्र में सूत्र शैली को छोडकर पूर्ववर्ती साहित्यों की अन्य सभी शैलियों को न्यूनाधिक रूप में हिन्दी ने ग्रहण किया है।

(ग) छन्द—

छन्द के क्षेत्र में भी हिन्दी नीति काव्य पूर्ववर्ती साहित्यों का विशेष ऋणी है। इसका प्रमुख छन्द दोहा है। कबीर, तुलसी, रहीम, तथा वृन्द आदि प्रसिद्ध नीति कवियों ने प्रमुखतः दोहे का ही प्रयोग किया है। यह छन्द मूलतः अपभ्रंश का है। विशेषतः अपभ्रंश का नीति साहित्य तो प्रायः पूरा का पूरा दोहा छन्द में ही है। सावयधम्म दोहा, पाहुड़ दोहा, तथा हेमचन्द्र में उद्धृत दोहे उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं। इस प्रकार अपभ्रंश में इस छन्द का पर्याप्त प्रचार था और वहीं से यह हिन्दी में आया। यों दोहे की परम्परा और पीछे तक जाती है। यथार्थतः 'दोहा' अपभ्रंश के कवियों की अपनी मौलिक चीज़ न होकर प्राकृत तथा पालि छन्द गाथा या गाहा का एक विकसित रूप मात्र है।

हिन्दी नीति काव्य का दूसरा प्रधान छन्द कुण्डलिया है। गिरिधर तथा दीनदयाल गिरि की कुण्डलियाँ हिन्दी नीति साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। कुण्डलिया भी अपभ्रंश का ही छन्द है। प्राचीन अपभ्रंश साहित्य में यद्यपि कुण्डलियाँ नहीं मिलतीं पर बाद के 'छन्द कोष' आदि ग्रन्थों में यह हैं। प्राकृत पैंगलम् से भी इसके अपभ्रंश प्रचलित छन्द होने की पुष्टि होती है।

छप्पय भी हिन्दी नीति काव्य का प्रचलित छन्द है। नरहरि तथा वैताल आदि ने नीति के लिए इसका प्रयोग किया है। छप्पय यथार्थतः एक छन्द न होकर

---

१ **किशोर और बाल साहित्य के रूप में भी झूठ, दया, क्रोध तथा क्षमा आदि पर आधुनिक युग में बहुत सी पद्यबद्ध कथाएँ लिखी गई हैं, जो इसी शैली के अन्तर्गत आती हैं।**

रोला और उल्लाला का जोड़ा हुआ रूप है। रोला का अपभ्रंश साहित्य में जिसे 'कव्व' (वृत्तकाव्य) कहते थे, पर्याप्त प्रचार था। इसी प्रकार उल्लाला भी अपभ्रंश का प्रचलित छन्द था। भविसयत्त कहा आदि में इन दोनों छन्दों के प्रयोग मिलते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अपभ्रंश में ये दोनों छन्द अलग-अलग तो प्रचलित थे पर दोनों को मिलाकर छप्पय रूप में प्रयोग नहीं था।[1] पर यथार्थतः यह बात नहीं है। कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश अंश तथा पुरातन प्रबन्ध संग्रह में छप्पय का प्रयोग हुआ है।[2] अतः छप्पय भी अपभ्रंश का छन्द है,[3] और हिन्दी नीति काव्य में वह वहीं से लिया गया है।

हिन्दी नीति काव्य का चौथा छन्द सोरठा है। तुलसी तथा रहीम ने नीति सम्बन्धी सोरठे लिखे हैं। यह अपभ्रंश का बहुत प्रचलित छन्द तो नहीं है, पर परमात्म प्रकाश आदि कुछ ग्रन्थों में इसका भी प्रयोग हुआ है।

नीति काव्य का पाँचवाँ छन्द चौपाई है। तुलसी ने बहुत सी नीति की चौपाइयाँ लिखी हैं। चौपाई भी अपभ्रंश का ही छन्द है। बौद्ध सिद्ध सरहपा ने मानस की भाँति दोहे और चौपाइयों का साथ-साथ प्रयोग किया है। चौपाई का पूर्व रूप अपभ्रंश का ही 'अडिल्ल' छन्द है जो 'भविसयत्त कहा' आदि पुस्तकों में मिलता है। चौपाई और अडिल्ल दोनों में ही १६ मात्राएँ होती हैं, पर चौपाइयों में जहाँ अन्त में दो गुरु रहते हैं अडिल्ल में दो लघु होते हैं। यद्यपि अडिल्ल की भाँति दो लघु वाली चौपाइयाँ भी तुलसी ने लिखी हैं, जिन्हें चौपाई न कहकर 'अडिल्ल' कहना अधिक समीचीन होगा।

इस प्रकार हिन्दी नीति साहित्य के दोहा, चौपाई, कुण्डलियाँ, छप्पय तथा सोरठा—ये पाँचों प्रधान छन्द पूर्ववर्ती साहित्यों से ही आए हैं। इनमें दोहा की परम्परा तो अपभ्रंश के पूर्व तक चली जाती है पर शेष अपभ्रंश के हैं, यद्यपि इनमें भी कुछ के बीज प्राकृत तक गए हैं।

(छ) अलंकार—

हिन्दी के अपने अलंकारों का अभी तक अध्ययन नहीं हुआ है, अतः यह कहना

१ नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २०२।

२ डा० रामसिंह तोमर : प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (आलोचना ८), पृ० ६५।

३ 'प्रकृति पैंगलम् से पता चलता है कि अपभ्रंश में और प्रकार के छन्द प्रचलित थे। छप्पय, कुण्डलिया, रोला, उल्लाला आदि छन्द उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे।'
(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० १५)

कठिन है कि हिन्दी के अपने अलंकार कौन हैं या हिन्दी के अपने अलंकार हैं भी या नहीं। अब तक हिन्दी के रीति ग्रन्थों में जिन अलंकारों का विवेचन प्रायः मिलता है या सामान्यतः हिन्दी कविता में (आधुनिक काव्य को छोड़कर जिसमें अँग्रेजी अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है), जिन अलंकारों के प्रयोग हुए हैं और जिनका आलोच्य ग्रन्थों में परम्परागत रूप से उल्लेख होता आया है, प्रायः सभी संस्कृत के हैं और वे प्रत्यक्ष स्रोत से तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश में होते परम्परा रूप में हिन्दी में आए हैं। हिन्दी नीति काव्य के अलंकारों के विषय में भी यही बात है। उसमें प्रयुक्त अन्योक्ति, उदाहरण, प्रमाण, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा निदर्शना आदि सभी अलंकार हिन्दी के अपने न होकर संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि पूर्ववर्ती साहित्यों के हैं और प्रायः सभी का मूल संस्कृत साहित्य है।

(ङ) भाव—

भाव या विचार के क्षेत्र में भी हिन्दी का नीति काव्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यों से प्रचुर मात्रा में प्रभावित है। पीछे संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति साहित्य पर विचार करते समय उनके द्वारा स्पर्शित नीति-विषयों की सूची स्थान-स्थान पर दी जा चुकी है। उन सबके आधार पर समवेत रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी पूर्ववर्ती साहित्यों—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—के नीति अंश में प्रधान विषय धर्म, ईश्वर आचार, शील, उद्यम, भाग्य, सुख, धन, नारी, सज्जन, दुर्जन, पुत्र, विद्या, प्रेम, नम्रता, सन्तोष, सबल, निर्बल, सेवक, बचन, दया, धैर्य, सुख, दुख, यौवन, व्यवहार, प्रजा, राजा, मन्त्री, कर, मित्र, शत्रु, मन, अहिंसा, आशा, तृष्णा, विनय, गर्व, क्षमा, संसार, संग, मूर्ख, संयम, अति, चंचलता, समय, कृतज्ञता, कृतघ्नता, गुण तथा दान आदि हैं। हिन्दी में अभी सामान्यतः नीति के मुख्य विषय ये ही है और इनके प्रसंग में व्यक्त किये गये विचार भी पूर्ववर्ती साहित्यों से प्रायः भिन्न नहीं हैं। यथार्थतः भारतीय समाज की इन विषयों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणाएँ रही हैं, जो परम्परागत रूप से बहुत पहले से चली आ रही हैं और वे क्या संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश और क्या हिन्दी सभी में प्रतिफलित हुई हैं। आज के बहुत परिवर्तित युग में भी दो चार शिक्षित लोगों को छोड़कर क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित सभी इन विषयों के सम्बन्ध में भारत के परम्परागत दृष्टिकोण से ही सहमत हैं। उनके संस्कार में ही यह परम्परा है, अतः यह अस्वाभाविक भी नहीं है। यही कारण है कि हिन्दी नीति काव्य अपने प्रधान विषयों तथा उनके प्रति अपने दृष्टिकोण में पूर्ववर्ती साहित्य का परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही स्रोतों से बहुत ऋणी है।

इस ऋण या प्रभाव को वर्गानुसार भी देखा जा सकता है। हिन्दी नीति काव्य के विषयों के मुख्य पाँच वर्ग हैं—

(क) धर्म और आचार
(ख) समाज और व्यवहार
(ग) राजनीति
(घ) सामान्य ज्ञान
(ङ) विश्वास

धर्म और आचार—धर्म और आचार सम्बन्धी नीति की परम्परा वेदों तक जाती है। वैदिक साहित्य विशेषतः उपनिषदों एवं कल्पसूत्रों में इस विषय के निर्देश तथा उपदेश यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। आगे चल कर बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के कारण इस क्षेत्र में और भी विकास हुआ। ये दोनों धर्म पूर्णतः आचारपरक हैं। इन धर्मों के व्यावहारिक सिद्धान्त शील और आचार के अतिरिक्त प्रायः और कुछ हैं ही नहीं। इस प्रकार पालि साहित्य से होती हुई यह धारा आगे के संस्कृत साहित्य विशेषतः स्मृतियों तथा पुराण, प्राकृत और अपभ्रंश के जैन साहित्य और सिद्ध साहित्य में होती हुई हिन्दी साहित्य के नाथ एवं सन्त धारा में आई और फिर नीति-धारा में समाविष्ट हो गई।

समाज और व्यवहार—सामाजिक और व्यावहारिक नीति की परम्परा जातक की गाथाओं और कथाओं से आरम्भ होती है और रामायण, महाभारत, अश्वघोष, कालिदास तथा भारवि आदि के प्रबन्ध काव्यों, सूक्ति तथा अन्योक्ति के मुक्तकों, पंच-तंत्र आदि की कथाओं, प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्रबन्धों तथा मुक्तकों में होती रहीम तथा वृन्द आदि तक चली आई है।

राजनीति—राजनीति सम्बन्धी बातें जातक कथाओं, महाभारत, पुराणों, स्मृतियों, राजनीति शास्त्र सम्बन्धी अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामंदक नीति आदि ग्रन्थों तथा पंचतंत्र से होती प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी के मुक्तकों तथा प्रबन्धों में आई है। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में राजनीति सम्बन्धी नीति अंश प्रायः नहीं के बराबर है।

सामान्य ज्ञान—हिन्दी नीति काव्य में स्वास्थ्य, कृषि तथा ऋण सम्बन्धी सामान्य ज्ञान की बातें भी हैं। इनमें स्वास्थ्य सम्बन्धी बातें तो घाघ तथा जान में विशेष हैं और कृषि एवं ऋतु सम्बन्धी बातें घाघ तथा भड्डरी में हैं। हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश—के नीति अंश में इस प्रकार के सामान्य ज्ञान विषयक बातें प्रायः नहीं हैं, पर नीति से इतर पुस्तकों में अवश्य इनका उल्लेख है और उनसे ही हिन्दी की ये बातें बहुत अंशों में प्रभावित हैं। यह प्रभाव प्रधानतः संस्कृत का ही सम्भव है। संस्कृत में स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों के लिए चरक तथा

सुश्रुत आदि, वर्षा आदि ऋतु के सम्बन्ध में बाराह मिहिर[1] की वृहत्संहिता तथा मेघ माला[2] आदि तथा खेती के सम्बन्ध में पराशर[3] उल्लेख्य हैं।

विश्वास—हिन्दी नीति काव्य में विश्वास की श्रेणी में आने वाली बातें केवल फलित ज्योतिष के शकुन सम्बन्धी हैं, जिन्हें तुलसी, जायसी तथा भड्डरी आदि ने लिखा है। इस प्रकार की बातें हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों के नीति-अंश में तो प्रायः नहीं मिलतीं, पर संस्कृत के फलित ज्योतिष विषयक पाराशर आदि ग्रन्थों में अवश्य हैं। साथ ही ये लोक प्रचलित भी है। इस प्रकार इस क्षेत्र में हिन्दी नीति काव्य संस्कृत के ज्योतिष ग्रन्थ एवं लोक परम्परा दोनों ही का ऋणी है।

नीति के विषयों एवं उनके वर्गीकृत रूपों पर पूर्ववर्ती साहित्यों के परम्परागत प्रभाव को देखने के अतिरिक्त भाव के क्षेत्र में प्रभाव के उचित मूल्यांकन के लिए इन साहित्यों से कुछ ऐसे छन्द भी देखे जा सकते हैं, जिनसे हिन्दी के नीति छन्दों का भावसाम्य है। इस प्रकार के भाव साम्य के उदाहरण यदि एकत्र किए जाँय तो कई सहस्र हो सकते हैं। यहाँ कुछ थोड़े से ही दिए जा रहे हैं।

संस्कृत और हिन्दी—

(१)

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत्।[4]

(विपत्ति में जो मित्र है वही मित्र है। सम्पत्ति के समय तो शत्रु भी मित्र हो जाता है।)

कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे तेई सांचे मीत॥[5]

---

१ वृहत्संहिता से पता चलता है कि बाराह मिहिर के पूर्व संस्कृत में गर्ग, पराशर, काश्यप और वात्स्य आदि ने भी इस विषय में ग्रन्थ लिखे। ये ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं।

२ मेघमाला नामक संस्कृत ग्रन्थ के वर्षा विषयक बहुत से श्लोक ऐसे हैं जिनके अनुवाद मात्र ही भड्डरी के बहुत से इस विषय के छन्द लगते हैं।

३ पराशर की इस विषय की कोई पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर वाचस्पति कोष में तथा यों भी फुटकर रूप से उनके इस विषय के बहुत से श्लोक मिलते हैं, जिनमें बड़ी बहुमूल्य बातें हैं।

४ पंचतंत्र, २. ११८।

५ रहीम, दो० ३२।

(२)

न दुर्जनैस्सह संसर्गः कर्तव्यः ।
शौण्डहस्तगतं पयोप्यवमन्येत ।।[१]

(दुर्जनों का साथ नहीं करना चाहिए । कलवार के हाथ मे गया हुआ दूध भी बुरा समझा जाता है ।)

रहिमन नीचन संग बसि लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारी कर गहे मद समुझै सब ताहि ।।[२]

(३)

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ।।[३]

(जैसी होनी होती है वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही उपाय होता है और वैसे ही सहायक मिल जाते है ।)

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय ।
आपु न आवे ताहि पै ताहि तहाँ ले जाय ।।[४]

(४)

काता कटाक्ष विशिखा न दहंति यस्य
चित्त ... ...
... .

लोक त्रयं जयति कृत्स्नमिद सधीरः ।[५]

(जिसके चित्त को स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाण नही जलाते वही धीर पुरुष तीनों लोकों को जीतता है ।)

छिद्यो न तरुनि कटाच्छ सर करेउ न कठिन सनेहु ।
तुलसी तिनकी देह को जगत कवच करि लेहु ।।[६]

(५)

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणा भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ।।[७]

---

१ चाणक्य सूत्र, २१५, २१६ ।
२ रहीम, दो० २०६ ।
३ चाणक्य नीति, ६. ६ ।
४ तुलसी, दो० ४५० ।
५ भर्तृहरि नीति, १०६ ।
६ तुलसी, दो० २०६ ।
७ मनु० ५. १४८ ।

(लड़कपन में स्त्री पिता के अधीन, यौवनावस्था में पति के अधीन तथा विधवा होने पर पुत्रों के अधीन रहे। स्त्री कभी भी स्वतन्त्र होकर नहीं रह सकती।)

बारी पितु आधीन रहि, जौवन पति आधीन।
बिनु पति सुत आधीन रहि पतित होइ स्वाधीन ॥[1]

(६)

वातोल्लसित कल्लोल धिक ते सागर गर्ज्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रांतः पान्थः पृच्छति वापिकाम् ॥[2]

(रे सागर, हवा के थपेड़े से उठी हुई लहरों द्वारा गर्जना करने वाले तुम्हें धिक्कार है, क्योंकि, तुम्हारे तट पर आकर बटोही को पानी के लिए बावली की खोज करनी पड़ती है।)

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि गम्भीर।
बिकल बिलोकैं कूप पथ तृषावन्त तो तीर।
तृषावन्त तो तीर फिरै तुहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै।
बरने दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात वृथा बातन तें गरजै।[3]

(७)

न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्षं स तस्य निन्दा सततं करोति।
यथा किराती करि कुम्भ जातांमुक्तां परित्यज्य विभर्ति गुंजाम्।[4]

(जो जिसका गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा सदा करता है। जैसे भीलनी गजमुक्ता छोड़ कर गुंजा पहनती है।)

नहिं जानत गुन जासु को जो तिहि निंदत जाइ।
गजमुक्ता तजि कै अधम गुंजा लेत उठाइ ॥[5]

पालि और हिन्दी—

(१)

नारी के स्वभाव एवं मन को प्रायः लोगों ने अगम्य और अबोधगम्य आदि कहा है। तुलसी ने मानस में लिखा है—

---

१ रत्न०, ३७।
२ सु० रत्न० भां०।
३ दीनदयाल गिरि।
४ स्फुट।
५ विक्रम सत०, ३३३।

सत्य कहहिं कवि नारि स्वभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ।

रामचरित उपाध्याय ने ब्रज सतसई में कहा है—

विधि गति तियमति सूम बित नृप अरु कुजन विचार।
जो जन जानै ताहि की महिमा गही अपार।

'दुराजान जातक' में भी एक गाथा में स्त्री के विषय में यही भाव व्यक्त किया गया है—

मा सु नन्दि इच्छति मं मा सु सोचि न इच्छति।
थीनं भावो दुराजानो मच्छस्सेवोदके गतं ॥[1]

(मुझे चाहती है, सोच कर प्रसन्न न हो और मुझे नहीं चाहती है सोच कर शोक न करो। पानी मे मछलियों की चाल की भाँति स्त्रियों के मन की बात जाननी दुष्कर है।)

(२)

स्त्री के लिए उसका पति ही सर्वस्व है। उसके बिना न तो उसकी 'पति' रहती है और न उसकी गति होती है। हिन्दी कहावत भी है—

पति बिनु पति नाहिं। पति बिनु गति नाहिं॥

रत्नावली ने भी कहा है—

पति गति, पति बित, मित पति, पति सुर गुर भरतार।
रतनावलि सरबस पतिहि बन्धु बन्ध जग सार॥[2]

'उच्छंग जातक' में भी यही स्वर है—

नग्गा नदी अनोदिका नग्गं रट्ठं अराजिकं।
इत्थीपि नग्गा यस्यापि दस भातरो॥[3]

(बिना पानी के नदी नग्न होती है, बिना राजा के राज्य नग्न होता है। विधवा स्त्री नग्न होती है चाहे उसके दस भाई क्यों न हों?)

राजा के विषय मे तुलसी ने कहा है कि यदि उसमें एक अवगुण होता है, तो प्रजा में तीन हो जाते है, किन्तु यदि राजा गुणी होता है तो प्रजा भी गुणी हो जाती है।[4] राजोवाद जातक में भी यही बात कही गई है। वहाँ चार गाथाओं[5] का

---

१ जातक १, पृ० ३८६।
२ रत्नावली, दो० ३०।
३ जातक १, पृ० ३६८।
४ तुलसी सत०, पृ० २४६।
५ जातक ३, पृ० २७६-२७७।

भाव यह है कि जिस प्रकार नदी में तैरने वाली गौवों का नेता यदि टेढ़ा जाता है तो उसके पीछे सभी गायें भी टेढ़ी चली जाती हैं। इसी प्रकार राजा राज्य का नेता है। वह जैसा करता है प्रजा भी वैसा ही करने लगती है।

(४)

ब्रह्मदत्त जातक में कहा गया है कि दान माँगना रुदन है और किसी के माँगने पर न देना प्रतिरुदन है—

याचनं रोदनं आहु पञ्चालानं रथे सभ।
यो याचनं पच्चक्खाति तमाहु पटिरोदनं ॥[1]

रहीम ने भी इसी भाव को अपने ढङ्ग से व्यक्त किया है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ॥[2]

(५)

तुलसी का प्रसिद्ध दोहार्थ है—

हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ।

आशय है कि जब वह अपने हाथ में नहीं है तो इसकी क्या चिन्ता है ? यही भाव 'कालबाहु जातक' की एक गाथा में है। गाथा है—

लाभो अलाभो अयसो यसोच।
निन्दा पसंसा च सुखञ्च दुक्खं।
एते अनिच्चा मनुजेसु धम्म।
मा सोची किं सोचसि पोट्ठपाद ॥[3]

(अर्थात् है पोट्ठपाद ! लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा तथा सुख-दुख ये मनुष्य के अनित्य धर्म हैं। क्यों चिन्ता करता है ? चिन्ता मत कर।)

(६)

धम्मपद के 'पण्डित वग्गो' की पहिली गाथांश का भाव यह है कि जो आदमी अपना दोष दिखाने वाले को भूमि में छिपे धन दिखाने वाले की तरह समझे..... उसका कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं है 'निन्दक' भी दोष दिखाने वाला है जिसको कबीर आंगन में रखने की सलाह देते है—

---

१ जातक ३, पृ० २४८।
२ रहीम, दो० २४०।
३ जातक ३।

निन्दक नेणा राखिए आँगणि कुटी बँधाइ ।
बिन साबण पांणी बिना निरमल करै सुभाइ ।।[1]

(७)

एकता की शक्ति का लोहा सभी ने माना है । प्रायः सभी नीतिकारों ने दो-चार छन्द इस विषय में लिखे हैं । वृन्द[2] कहते हैं कि कमजोर भी एक होकर शक्ति लगावें तो जो कुछ चाहें कर सकते हैं । तिनकों की बनी रस्सी से हाथी बाँधा जाता है । 'रुक्खधम्म जातक'[3] में भी एकता की एक महत्ता गाई गई है । वृन्द ने तो कमजोरों को लिया है, पर, उक्त जातक में बलवानों के लिए भी एकता आवश्यक कही गई है । कहा गया है कि महा वृक्ष तक को अकेले खड़े होने पर हवा उखाड़ देती है । अतः एकता से रहना सभी के लिए श्रेयकर है ।

(८)

सन्तोष को सभी ने बहुत बड़ा धन कहा है । 'धम्मपद' में एक गाथा है—

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं ।
विस्सास परमा ञाती निर्वाण परमं सुखं ।।[4]

तुलसी का प्रसिद्ध दोहा है—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान ।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ।।[5]

इसमें भी सन्तोष को परम धन कहा गया है ।

प्राकृत और हिन्दी—

(१)

चावो सहाव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडंतम् ।
वंकस्स उज्जुअस्स असम्बन्धो किं चिरं होइ ।।[6]

(टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध सम्भव नहीं । धनुष टेढ़ा है, अतः तीर उसके गुण पर आता है (अर्थात् आकर्षित होता है) फिर भी फेंक दिया जाता है ।)

वृन्द ने भी बिल्कुल इसी बात को दुहराया है—

---

१ कबीर ग्रन्थ०, ८२ ।
२ वृन्द सत०, १५६ ।
३ जातक १, पृ० ४२७ ।
४ धम्मपद, २०४ ।
५ तुलसी सत०, पृ० १२६ ।
६ गाथा, ५. २४ ।

बाँके सीधे को मिलन निबहै नाहिं निदान ।
गुन ग्राही तौऊ तजत जैसे बान कमान ।।[1]

(२)

बड़ों या सज्जनों के विषय में एक प्राकृत गाथा है—

उदयम्मि वि अत्थमणे वि धरइ रत्तत्तणं दिवस नाहो ।
रिद्धीसु आवईसु अ तूल्लच्चिय गूण सप्पुरिसा ।।[2]

(सूर्य डूबते समय और उगते समय अर्थात् सुख-दुख दोनों में अपनी ललाई रखता है अर्थात एक रस रहता है । बड़े भी दुख-सुख में एक रस रहते है ।)

इसी भाव को रहीम ने भी अपने दो दोहे में व्यक्त किया है—

ऊगत जाही किरन सों अथवत ताही काँति ।
त्यों रहीम सुख-दुख सबै बढ़त एक ही भाँति ।।[3]

तथा

यों रहीम सुख-दुख सहत बड़े लोग सहँ साँति ।
उवत चन्द जेहि कान्ति सो अथवन ताही भाँति ।[4]

(३) H81.09 | T62H

दान माँगने वाला बुरा है और माँगने पर देने वाला उससे भी बुरा है । इसी भाव को प्राकृत की गाथा तथा रहीम के एक दोहे मे प्रकट किया गया है ।

परपत्थणापवन्नं मा जणणि जणेसु एरिसं पुत्तं ।
मा उयरे वि धरिज्जसु पत्थणभंगो कओ जेण ।[5]

(ऐ माँ ऐसे लड़के को जन्म न दो जो माँगने में तेज हो और ऐसे को तो अपने गर्भ में स्थान ही मत दो जो माँगने पर ना कर दे ।)

रहीम कहते है—

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जाहिं ।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ।।[6]

---

१ वृंद सत०, २५० ।
२ प्राकृत, सुभाषित ३ ।
३ रहीम, दो० १६ ।
४ रहीम, दो० १६५ ।
५ प्राकृत सुभाषित, ४७१ ।
६ रहीम, दो० २४० ।

(४)

संग का प्रभाव अवश्यमेव पड़ता है। इसको हिन्दी और प्राकृत दोनों ही के कवियों ने कहा है। इसके लिए दोनों भाषाओं मे सामान्य उदाहरण स्वाती के जल का स्थान-प्रभाव से जहर या मोती होने का है। यहाँ प्राकृत तथा हिन्दी के समान उदाहरण लिए जा रहे हैं।

सा जाई तं च जलं पत्तविसेसण अन्तरं गरुअं।
अहि मुह पडिअं गरलं सिप्पिउहै मुत्तियं होइ।[१]

(एक ही स्वाती-जल स्थान के संग से विभिन्न प्रकार का हो जाता है, सांप के मुंह में जहर और सीपी में मोती।)

सूर कहते है—

सीप गयो मुक्ता भयो, कदली भयो कपूर।
अहिफन भयो तो विष भयो संगति को फल सूर।[२]

तथा

मुक्ता कर करपूर कर चातक जीवन जोय।
एतो बड़ो रहीम जल, ब्याल बदन विष होय॥[३]

(५)

घेप्पइ मच्छाण पए आयासे पक्खिणो य मय मग्गो।
एक्कं नवरि न घेप्पइ दुल्लक्खं कामिणी हियय॥[४]

(अर्थात् पानी में मछली के और आकाश में पक्षी के पदचिन्ह का पता चल सकता है पर स्त्री के हृदय का नहीं।)

तुलसी कहते हैं—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई।[५]

अपभ्रंश और हिन्दी—

धन की महत्ता का सभी भाषाओं के नीतिकारों ने वर्णन किया है। अपभ्रंश का एक दोहा है—

---

१ प्राकृत सुभाषित, ४६२।
२ रहिमन वि०, पृ० १६।
३ रहीम, दो० १५४।
४ प्राकृत सुभाषित, ७९।
५ तुलसी हितोपदेश, पृ० १००।

(१)

रिद्धि विहुणइ माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चउ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ।[१]

(निर्धन का कोई भी सम्मान नहीं करता । फल रहित पेड़ को पक्षी छोड़ देते हैं, यह प्रमाण है ।)

बैताल ने लिखा है—

गुरु बिनु मिले न ज्ञान, द्रव्य बिनु मिले न आदर ।
बिना पुरुष सिंगार, मेघ बिनु कैसे दादुर ।।[२]

(२)

स्त्रियाँ अव्यवस्थित चित्त की और ढुलमुलयकीन होती हैं । उनका विश्वास नहीं करना चाहिए । अपभ्रंश का एक दोहा है—

सउ चित्तहं सट्ठी मणहं बतीसडा हियाहं ।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे बीससइं तियाहं ।।[3]

(सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयों वाली स्त्रियों पर जो विश्वास करते हैं, वे हानि उठाते हैं ।)

हिन्दी के कई कवियों ने अपने ढंग से इसे कहा है । वृन्द कहते हैं—

काहू कियो न कीजिए, तिय जिय को विश्वास ।
गौरि धरी अर्द्धंग हर, हरि घर-घर में बास ।[४]

रहीम कहते हैं—

उरग तुरग नारी नृपति नीच जाति हथियार ।
रहिमन इन्हें सँभारिए पलटत लगे न बार ।।[५]

(३)

सज्जन बड़ाई या धन पाकर अकड़ते नहीं बल्कि नम्रता से झुक जाते हैं । किसी हिन्दी कवि का एक सोरठा है—

सज्जन जन झुकि जाँय, पाइ बड़ाई जगत में ।
ज्यों द्रुम विटप कराहिं, फल वा फूल ते लदरिकै ।[६]

---

१ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७० ।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१ ।
३ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २७३ ।
४ वृन्द सत०, १९६ ।
५ रहीम, दो० ५१ ।
६ नीति छन्द० ।

अपभ्रंश का भी एक दोहा इसी भाव का है—

सुपुरिस कंगुहै अणु हरहिं भण कज्जें कवणेण ।
जिवँ जिवँ बड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहि सिरेण ।[1]

(कहो किस प्रयोजन से सुपुरुष कंगु (एक धान) का अनुसरण करते हैं । ज्यों-ज्यों वे धन पाते है सिर झुकाते हैं ।) तुलसी ने विद्या के सम्बन्ध में यही बात कही है—

बर्षहिं जलद भूमि नियराए । जथा नवहिं बुध बिद्या पाए ।[2]

(४)

सन्तों ने मूंड़ मुड़ाना तथा पूजा या तीर्थ आदि आडम्बरों का विरोध किया है, जो धर्म नीति के अन्तर्गत है । कबीर लिखते हैं—

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघे पाँणी न्हाइ ।
रांमहिं रांम जपंतडाँ काल घसीट्याँ जाइ ।[3]
पाहन कूँ का पूजिए जे जनम म देई जाब ।
आँधा नर आसामुषी यौंही खोवै आब ।[4]
केसौं कहा बिगाडिया जे मूंड़ै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूंडिए जामें विषै विकार ।[5]

रामसिंह ने अपने पाहुड दोहे में भी यही बातें कही हैं—

तित्थइँ तित्थ भमन्त यहं कि ण्णेहा फल हूव ।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अम्भिंतरु किम हूव ।[6]

(एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ का भ्रमण करने वालों को कुछ फल न हुआ । बाहर तो पानी से शुद्ध हो गया पर अभ्यन्तर का क्या हुआ ?)

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।
वत्थु जु दोसइ कु सुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ।[7]

---

१ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २८२ ।
२ मानस ४. १४. २ (गीता प्रेस)।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३७ ।
४ वही, पृ० ४४ ।
५ वही, पृ० ४६ ।
६ पाहुड़, पृ० १६२ ।
७ वही, पृ० १६१ ।

(देवालय में पाषाण है, तीर्थ में जल है और सब पोथियों में काव्य है। जो वस्तु फूली-फली दीखती है वह सब ईंधन हो जायगी।)

मुंडिय-मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिय चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु ति कियउ।[1]

(हे मूंड मुंडाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी ! तूने सिर तो मुँडाया है पर चित्त को न मूड़ा। जिसने चित्त का मुण्डन कर डाला उसने संसार का खण्डन कर डाला।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों और उनके नीति-अंशों ने हिन्दी नीति-काव्य को नीति कहने की परम्पराओं, शैलियों, छन्द, अलंकार तथा भाव आदि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है।

---

१ पाहुड़०, पृ० १३५।

: ४ :

हिन्दी नीति काव्य पर युग-प्रभाव

संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से रिक्थ रूप में मिली यह नीति परम्परा हिन्दी में, जैसा कि स्वभाविक है, युग से प्रभावित होती रही है। पीछे नीति के वर्गीकरण में इस बात का संकेत किया जा चुका है कि नीति की कुछ बातें शाश्वत महत्त्व की होती हैं और कुछ सामयिक या तात्कालिक। सामयिक या तात्कालिक महत्व की नीति अस्थायी होती है और युग की परिस्थिति के अनुकूल इसका विकास, ह्रास या इसमें परिवर्तन आदि प्रायः होता है। स्थायी या शाश्वत नीति में इस प्रकार के परिवर्तन प्रायः नहीं होते, हाँ युग विशेष में उनके महत्व में कमी-वेशी अवश्य सम्भव होती है।

हिन्दी नीति काव्य पर कुछ विस्तार से युग-प्रभाव देखने के पूर्व यहाँ उस पर ऐतिहासिक दृष्टि डाली जा सकती है। राजनीति और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दी के आदि काल में उत्तर भारत में युद्ध और धर्म के स्वर प्रमुख थे। सामूहिक या राष्ट्रीय वीरता का तो अभाव था पर वैयक्तिक वीरता अपनी चरम सीमा पर थी। इस क्षेत्र के लोग जीवन की चरम सार्थकता युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने में मानते थे। आल्हखण्ड का रुपना बारी अपने द्वारा किए गए कार्यों के पुरस्कार स्वरूप कोई वस्तु या धन आदि न माँगकर थोड़ी देर तक लड़ाई करने का नेग माँगता है। आल्हखण्ड की प्रसिद्ध पंक्ति में उस युग की यह भावना जैसे साकार हो उठी है—

बरिस अठारह छत्री जीवे, आगे जीवन को धिक्कार।

दूसरी ओर सिद्धों, नाथों और जैनों के सम्पर्क में रहने वाले लोग धर्म के विविध रूपों की साधना में जीवन की सार्थकता मानते थे। आल्हखण्ड की एक दूसरी पंक्ति ने उस युग की इन दोनों ही विशेषताओं को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

जननी ऐसा बेटा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।

ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक है कि तात्कालीन साहित्य के नीति अंश में इन दोनों की प्रधानता हो। पृथ्वीराज रासो तथा आल्हखण्ड के नीति छन्द तत्कालीन राजनीति तथा युद्ध विषयक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं तो गोरखनाथ के भक्ति विषयक भावना का। रासो का एक छन्द है—

सोइ ज सूर सा धम्म, जुग्ग सा धम्म न पुज्जै ।
दया दान दम तिथ्थ, सबै सा धम मनि रुज्झै ।
सामि धम्म बर मुगति, नरक बर तिथ्थ निवासौ ।
मुनि हमीर सा धम्म, करै सुरपुर नर वासौ ।
सा धम्म मुगति बधै रवन, सांमि धम्म जस मुगति वर ।
अबकित्त कित्त करतार कर, नरक चूक झुझ्झौति नर ।[1]

छन्द से स्पष्ट है कि युद्ध और राजनीति के सम्पर्क में रहने वाले लोगों के लिए दया, दान, तीर्थ, धर्म आदि से बढ कर स्वामिधर्म या स्वामी के लिए युद्ध में मर मिटना था। अन्तिम पंक्ति में कवि स्पष्टत: कहता है कि 'अपकीर्ति और कीर्ति, यों तो विधाता के हाथ में हैं पर नरक से बचने का उपाय युद्ध में लड मरना है।' इस प्रकार की नीति के अन्य भी बहुत से छन्द रासो में हैं। आल्हखण्ड में उस समय की युद्ध नीति के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—

भजै सिपाही कौ ना मारैं ना औरत पर डारैं हाथ ।

तत्कालीन साधु-सन्तों एवं धार्मिक व्यक्तियों में आचार-विषयक भ्रष्टताएं बहुत अधिक प्रचलित थीं। इसी कारण गोरखनाथ में जो धर्म और आचार नीति है, उसमें इन भ्रष्टताओं के विरोध की ही प्रधानता है।

भक्तिकाल आते-आते देश में भक्ति के वातावरण का प्राधान्य हो गया, पर उसके आदर्श रूप और धार्मिक व्यक्तियों की यथार्थ स्थिति में बहुत अन्तर था। इसी कारण कबीर आदि सन्तों के नीति अंश में व्यर्थ के धार्मिक आडम्बरों के प्रति विद्रोही स्वर का प्राधान्य है। तुलसी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न हैं। उन्हें भारतीय संस्कृति के अनुकूल हिन्दू समाज नहीं दिखाई पडा अत: उस दृष्टि से उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए, उसे उचित पथ पर लाने के लिए, अपने नीति और उपदेश के छन्दों की विविध सन्दर्भों में रचना की। तत्कालीन नीतिकारों का तीसरा वर्ग रहीम, देवीदास, नरहरि, टोडरमल, बीरबल तथा गंग आदि का है। इन सभी का सम्बन्ध उच्च शिष्ट-समाज तथा राज्य-दरबारों से था अत: इनके नीति काव्य में तत्कालीन व्यवहार-नीति, समाज-नीति तथा राजनीति के सामान्य सिद्धान्त मुखरित हुए हैं। इस काल में राजनीति और युद्ध का आदिकालीन वातावरण नहीं था, अत: उस प्रकार की नीति का दर्शन प्राय: नहीं होता।

रीतिकाल तक आते-आते भक्तिकालीन भक्ति का यथार्थ रूप लगभग तिरोहित हो चुका था, यदि कहीं कुछ अवशेष था तो वह यथार्थ न होकर प्राय: छाया मात्र

---

१ पृथ्वीराज रासो, छं० ६९३, स० ६६।

था[1]। इसी कारण इस युग में एक तो धर्म और आचार विषयक नीति काव्य की रचना अधिक नहीं हुई, और यदि थोड़ी बहुत हुई भी तो उसे पिछले युग का अनुकरण ही कहा जायेगा। युगानुकूल न होने के कारण उसमें यथार्थ अनुभूति का स्पन्दन नहीं है। इस युग में सामन्तों और बादशाहों के यहाँ शिष्टाचार और व्यवहार की परम्पराओं का पालन होता था, अतः वृन्द आदि रीतिकालीन नीतिकारों में उस प्रकार की व्यवहार-समाज नीति की प्रमुखता है। पर भक्तिकाल की इसी प्रकार के नीति काव्य से और इससे स्पष्ट अन्तर है। रहीम और वृन्द की तुलना करने पर लगता है कि रीतिकाल के प्रतिनिधि नीतिकार कवि वृन्द में जहाँ ऊपरीपन है, वहाँ रहीम में गाम्भीर्य और चिन्तन की स्पष्ट छाप है। यह भी युग का प्रभाव है। यहाँ एक और बात भी उल्लेख्य है। संस्कृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओं के नीति छन्दों से भक्तिकालीन नीति छन्दों का भाव साम्य तो है, पर, अनुकरण की वह प्रवृत्ति वहाँ नहीं है, जो रीतिकालीन कवियों में है। रीतिकालीन काव्य अपनी अन्य धाराओं की भाँति नीति-धारा के क्षेत्र में भी संस्कृत तथा फारसी से पर्याप्त प्रभावित है। गिरिधर ने अपवाद स्वरूप जन-जीवन से अपनी बातों को लिया है।

आधुनिक युग प्रधानतः सामाजिक सुधारों एवं अनेक प्रकार के जागरण का है। आधुनिक नीतिकाव्य भी इसी का प्रतिबिम्ब है। जैसा कि इसी अध्याय में आगे विस्तार से विचार किया गया है आधुनिक युग के रामप्रसाद तिवारी, प्रतापनारायण मिश्र, पाटन, हरदीन त्रिपाठी, रामेश्वर करुण, शिवरत्न शुक्ल सिरस, रामचरित उपाध्याय, भगवानदीन, मैथिलीशरण गुप्त, दुलारेलाल भार्गव तथा दिनकर आदि के नीतिकाव्य में आधुनिक युग की हर करवट की किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार हिन्दी का नीति काव्य युग के साथ रहा है, यद्यपि हर युग में यह स्थिति एक-सी नहीं है। किसी में युगानुकूलता कम है तो किसी में अधिक। इसके साथ ही सार्वकालिक या शाश्वत नीति की बातों का भी इसमें समावेश है, विशेषतः, आदि भक्ति और आधुनिक युग में युगानुकूल नीति का प्राधान्य है, पर भक्ति और रीतिकाल में तात्कालिक से कम ध्यान सार्वकालिक या शाश्वत नीति पर नहीं है। भक्तिकाल में जीवन के प्रत्येक पक्ष की ओर सन्तुलित दृष्टिकोण होने के कारण ही सम्भवतः ऐसा हुआ है, पर रीतिकाल में शाश्वत नीति-कथन सन्तुलित दृष्टि का परिणाम न होकर कदाचित् अनुकरण या पूर्ववर्ती बातों को नए आवरण में कहने के प्रयास का ही फल है।

इस प्रकार हिन्दी का नीतिकाव्य युग के साथ रहा है, यद्यपि इसके साथ ही

---

१ अपवादों की बात और है।

सर्वकालिक या शाश्वत नीति को भी यथावसर—विशेषत: भक्ति तथा रीतिकाल में—स्थान मिलता रहा है।

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद युग-प्रभाव पर कुछ विस्तार से विचार किया जा रहा है।

हिन्दी नीति-काव्य पर युग का प्रभाव दो क्षेत्रों—भाव, तथा भाव को स्पष्ट करने के लिए, लिए गए उदाहरण—में दृष्टिगत होता है।

(अ) भावों पर युग प्रभाव—भाव के क्षेत्र में पड़े हुए युग प्रभाव के मूल्यांकन के लिए इसको प्राचीन (भारतेन्दु से पूर्व) और आधुनिक (भारतेन्दु के बाद) दो भागों में बाँटा जा सकता है। यहाँ इनको क्रम से लिया जा रहा है।

प्राचीन नीति-काव्य—

प्राचीन नीति काव्य के भाव पक्ष पर युग-प्रभाव धर्म, समाज और राजनीति, इन तीन क्षेत्रों में ही प्रमुख रूप से पड़ा है। इन तीनों के अन्तर्गत कई उपशीर्षक लिए जा सकते हैं।

प्रभाव की दृष्टि से धर्म के क्षेत्र में प्रधान विचारणीय उपशीर्षक हिन्दू-मुसलमान विरोध, हिन्दू और मुसलमान के धर्माडम्बर, शैव-वैष्णव, शाक्त तथा हिन्दू धर्म सम्बन्धी सामान्य स्थिति है।

हिन्दू-मुसलमान विरोध—हिन्दी के जन्म के साथ भारत में मुसलमान धर्म का प्रवेश हो चुका था और इसके विकास के साथ उसका प्रसार हुआ। हिन्दी के समृद्धि-युग में हिन्दी प्रदेश में हिन्दू और मुसलमान ये दो धर्म प्रधान थे। हिन्दू धर्म के पीछे पूरी जनता का बल था और मुसलमान धर्म के पीछे शासन का। इस प्रकार दोनों ही सशक्त थे। यही कारण है कि दोनों के मतावलम्बी एक दूसरे से दबने को तैयार नहीं थे और उनका आपसी विरोध सदैव ही चलता रहा।[1] हिन्दी नीति काव्य में सन्तों, सूफियों तथा अन्य नीतिकारों ने भी इस विरोध को समाप्त करने का प्रयास किया है। कबीर कहते हैं—

अलहु गैबु सगल घट भीतर हिरदै लेहु विचारी।
हिन्दू तुरुक दुहूँ महि एकै कहैं कबीर पुकारी॥[2]

---

१ हिन्दू कहै मोको राम पियारा तुरुक कहै रहिमाना।
आपुस में दोऊ लरि लरि मुए मरम न काहू जाना॥ —कबीर

२ कबीर ग्रन्थ० राग आसा, २९।

रसनिधि ने भी लिखा है—

हिन्दू मैं क्या और है, मुसलमान मैं और।
साहिब सबका एक है, व्याप रहा सब ठौर ॥[1]

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही में अपने धर्म को दूसरे से बड़ा समझने की भावना थी। सूफी कवि दीन दरवेश ने इसकी ओर लक्ष्य करके कहा है—

हिन्दू कहैं सों हम बड़े, मुसलमान कहैं हम्म।
एक मूँग दो फाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म ॥
कुण जादा कुण कम्म कभी करना नहीं कजिया।
एक भगत हो राम दुजा रहिमान सो रजिया।
कहै दीन दरवेश दोय सरिता मिल सिन्धू।
सबका साहब एक एक मुसलिम एक हिन्दू ॥[2]

हिन्दू और मुसलमानों के धर्माडम्बर—

इस युग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने धर्मों की मूल भावना भूल चुके थे और बाह्याडम्बरों को ही धर्म की आत्मा मान बैठे थे। हिन्दी के तत्कालीन नीतिकारों ने विशेषतः सन्तों ने इसका घोर विरोध किया है।

हिन्दू के बाह्याडम्बरों में माला फेरना, तीर्थ, व्रत, केश बढ़ाना, बाल मुड़ाना, रंगे कपड़े पहनना, मूर्ति पूजना तथा हवन आदि करना प्रधान हैं। इनके तत्व को समझकर इनके आधार पर आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है, पर उस युग के हिन्दू तथा साधु आदि इनको ही सब कुछ मान बैठे थे और इस प्रकार साधन को साध्य मानने की पथभ्रष्टता में सभी तिरोहित हो रहे थे। हिन्दी नीति काव्य से इसके विरोध सम्बन्धी कुछ छन्द यहाँ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

माला—

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
करका मन का छाड़ि दे मन का मन का फेर।[3]

मूर्ति-पूजा—

किरतिम देव न पूजिए, ठेस लगे फुटि जाय।
कहें मलूक सुभ आतमा चारों जुग ठहराय।[4]

---

१ सतसई सप्तक, पृ० १७८।
२ सूफी काव्य संग्रह, पृ० २२०-१।
३ कबीर ग्रन्थ, पृ० ४५।
४ मलूक बा०, पृ० ३६।

जेती देषौ आतमा तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं नहीं पाथर सूं काम ॥[१]

तीर्थ—

कोई दौड़े द्वारिका कोई कासी जाहिं।
कोई मथुरा को चले साहिब घट ही माहिं ॥[२]

ब्रत तथा कर्मकांड—

तीर्थ ब्रत तप करहिं बहु विधि होम जग जप दान।
याहि माँ पचि रहत निसि दिन धरघो नाहीं ध्यान ॥[3]

कथादि सुनना—

कैसेहु मुक्ति न होयगी कोटिक सुनो पुरान।[४]

इस प्रकार के सभी आडम्बर रीतिकालीन युग में भी थे। बिहारी ने इन पर व्यङ्ग किया है।[५] इस प्रकार की कुछ बातें अपभ्रंश काल में भी थीं, इसी कारण वहाँ भी इसके कुछ चित्र मिलते हैं। पर मध्य युग में ये पराकाष्ठा पर पहुँच गई और वही दशा प्रायः अब तक है। मुसलमानों में भी कुरबानी चढ़ाना, नमाज पढ़ना तथा मक्का-मदीना की तीर्थ यात्रा करना आदि आडम्बर थे। इसका भी हिन्दुओं के आडम्बरों के साथ ही तत्कालीन नीति काव्य में विरोध हुआ।

तीर्थ—

मक्का मदिना द्वारिका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है कहैं मलूक विचार ॥[६]

गाय की कुरबानी—

हज काबें हौं जायगा आगे मिल्या खुदाइ।
साईं मुझस्यो लर पर्‌या तुझै किन फुरमाई गाइ ॥[७]

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४४।
२ दादू बा०, पृ० १४८।
३ जगजीवन शब्द, पृ० १४।
४ मलूक बा०, पृ० ३६।
५ जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम ॥ —बिहारी सत०, ६८०।
६ मलूक बा०, पृ० ३७।
७ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २६२।

मुल्ला की बाँग—

मुल्ला मुनारे क्या चढहिं, साँई न बहरा होइ।
जाँ कारन तूं बाँग देहि दिल ही भीतरि होइ॥[1]

शैव और वैष्णव—

हिन्दुओं में उस समय वैष्णव, शैव और शाक्त ये तीन सम्प्रदाय थे। शैवों और वैष्णवों में भी हिन्दू और मुसलमानों की ही भाँति बहुत विरोध था। इस विरोध को दूर करने के लिए ही मानस में तुलसी ने राम के हाथ से शिवलिंग की स्थापना कराई है तथा राम के मुख से धर्मनीति के सम्बन्ध में कहलाया है—

सिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा॥
संकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥[2]

शाक्त—

शाक्त लोग उस युग मे बहुत घृणित हो गए थे। मद्य, मांस आदि को उनकी उपासना में स्थान मिल चुका था। इसीलिये सन्तों ने अपनी साखियों मे न केवल मद्य मांस का विरोध किया अपितु शाक्तों को भी फटकारा। कबीर कहते है—

चन्दन की कुटकी भली नां वबूर की अबराउँ।
बेश्नों की छपरी भली नां साषत का बड़ गाँउ॥[3]
साषत से सूकर भला सूचा राखे गाँव॥[4]
मारी मरौं कुसंग की केले निकटि जु बेरि।
उह भूलै उह चीरियै साकत संगु न हेरि॥[5]

हिन्दू धर्म सम्बन्धी सामान्य स्थिति—

तुलसी ने मानस तथा दोहावली में कलियुगी धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत करने के बहाने भी लोगों को यथार्थ धर्म का उपदेश दिया है तथा तत्कालीन धार्मिक विशृंखलता पर व्यंग्य किया है। कहना न होगा कि इसी प्रकार के सभी वर्णन तत्कालीन युग से न केवल प्रभावित हैं, अपितु पूर्णरूपेण उस पर ही आधारित है। तुलसी के कुछ इस प्रकार के छन्द यहाँ उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं—

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २५८।
२ मानस, ६. २. ४।
३ कबीर ग्र०, पृ० ५२।
४ वही, पृ० ३६।
५ वही, पृ० २५७।

नारि मुई गृह संपति नासी ।
मूड़ मुड़ाय होहिं सन्यासी ॥[1]
... ...

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि बेद पुरान ।[2]
... .

निराचार जे श्रुतिपथ त्यागी । कलियुग सोइ ग्यानी सो बिरागी ॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥
असुभ बेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं ॥[3]

ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसर बात ।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात ॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्र वर आँखि देखावहि डाटि ॥[4]
....

स्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक ।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ॥[5]
... ...

सकल धरम बिपरीत कलि कल्पित कोटि कुपंथ ।
पुन्य पराय पहार बन दुरें पुरान सुग्रंथ ॥[6]
....

सुर सदननि तीरथ पुरिन निपट कुचालि कुसाज ।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज ॥[7]
....

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नर नारी ।

---

१ मानस, ७. १००. ३ ।
२ तुलसी, दो० ५५४ ।
३ मानस ७. ९८ ।
४ मानस ७. ९९ ।
५ तुलसी दो०, ५५५ ।
६ वही, ५५६ ।
७ वही, ५५८ ।
८ मानस ७. ९८. १ ।

धर्म की इस अवनति का कारण था लोगों मे अविद्या का प्रचार । जब ब्राह्मण ही निरक्षर थे, तो और लोगों के सम्बन्ध में कहना ही क्या ?

विप्र निरक्षर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषली स्वामी ।[1]

इसीलिए कबीर ने इस युग के ब्राह्मणों पर बहुत व्यंग्य किये है—

ब्राह्मण गुरू जगत का साधू का गुरु नाहिं ।
उरझि पुरझि करि मरि रर्‌या चारिउँ वेदाँ मांहि ।।

तथा

कलि का ब्राह्मण मसकरा ताहि न दीजै दान ।
स्यौ कूटंउ नरकहि चलै साथ चल्या जजमान ।।[2]

समाज—धर्म की भाँति ही तत्कालीन समाज भी बड़ा विशृङ्खल हो गया था । तुलसी ने मानस के उत्तरकांड[3], दोहावली[4] तथा सतसई के सप्तम सर्ग[5] में कलियुगी समाज के चित्र द्वारा सामान्य लोग, सधवा, विधवा, गुरु, शिष्य, पुत्र, धनी, गुणी, पडित, माता-पिता, असत्यभाषी तथा दोष-दर्शक आदि के सम्बन्ध में जो नीति की बातें व्यंग्य रूप से कही हैं पूर्णतः तत्कालीन समाज से ही उद्‌भूत है । इस प्रकार के कुछ छन्द यहाँ देखे जा सकते है ।

प्रीति लगाई सकल विधि बनिज उपाय अनेक ।
कल बल छल कलिमल मलिन डहकत एकहि एक ।।[6]

....

दंभ सहित कलि धरम सब छल समेत व्यवहार ।
स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार ।।[7]
चोर चतुर, बटमार, नट, प्रभुप्रिय भँडुवा भंड ।
सब भक्षक परमारथी, कलि सुपंथ पाषड ।।[8]

....

---

१ मानस, ७. १००. ४ ।
२ कबीर ग्रन्थ, पृ० ३६ ।
३ मानस, ७. ९८. १०२ ।
४ तुलसी दो०, ५३७–७३ ।
५ तुलसी सत०, ७. ६१–६४, १२०—३ ।
६ तुलसी दोहा०, ५४७ ।
७ वही, ५४८ ।
८ तुलसी दोहा०, ५४९ ।

जे अपकारी चार, तिनकर गौरव मान्य तेइ।
मन बच करम लबार, ते बकता कलिकाल महँ।[1]

... ...

सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कहं झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।[2]

... ...

गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।
सौभागिनी बिभूषन हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना।
हरइ सिख्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुं परई।[3]

... .

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।[4]
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।

... ...

सुत मानहिं मातु पिता तबलौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।[5]

... ...

कलि काल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कौ अनुजा तनुजा।
नहि तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मगता॥[6]

समाज की यही दशा रीतिकाल में भी थी, यद्यपि उस युग में लिखित बहुत कम नीति के छन्दों में इसके प्रतिबिम्ब हैं। दो उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं। ऊपर तुलसी की 'सुत मानहिं''''''''' अर्द्धाली उद्धृत है।

गिरिधर ने भी प्रायः यही बात कही है—

बेटा बिगरो बाप सों करि तिरियन को नेहु।
लटा पटी होने लगी मोहिं जुदा करि देहु।
मोहिं जुदा करि देहु घरी मे माया मेरी।
लेहौं घर अरु द्वार करौ मैं फजिहत तेरी।

---

१ तुलसी दोहा०, ५५१।
२ मानस, ७. ९८. ३।
३ वही, ७. ९९. २–४।
४ वही, ७. १०१. १।
५ वही, ७. १०१. २.।
६ मानस, ७. १०२. ३।

कह गिरिधर कविराय सुनहु गदहा के लेटा।
समय परो है आय बाप से झगरत बेटा।[1]

इस युग के धनिकों में गुण-ग्राहकता कम हो गई थी। किसी कवि ने लिखा भी है।

गुन ना हेरानो गुनगाहक हेरानो है।

बिहारी ने इसी बात की ओर लक्ष्य करते हुए कृष्ण से शिकायत की है—

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भए आज कालि के दानि।[2]

राजनीति—समाज और धर्म की भाँति ही राजनीति के क्षेत्र में भी पूरे प्राचीन युग में बड़ी अव्यवस्था थी। हिन्दी के आदि काल के कुछ संकेत इस अध्याय के आरम्भ में दिए गए हैं। भक्ति तथा रीतिकाल के वीर काव्यों तथा अन्य चरित-ग्रन्थों में युग की राजनीतिक अव्यवस्था का बड़ा ही स्पष्ट चित्र मिलता है।

प्राचीन नीति काव्य से राजा और राजनीति की दशा विषयक कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

इस युग में राजा लोग प्रजारक्षक न होकर प्रजा-भक्षक थे।

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन।[3]

वे पाप में डूबे थे—

नृप पाप परायन धर्म नही।[4]

और साम, दाम तथा भेद को छोड़ केवल दण्ड से शासन करते थे।

साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल।[5]

नृप पाप परायण धर्म नहीं। करि दण्ड विडंब प्रजा नितही।[6]

यहाँ तक कि सज्जनों को भी दण्ड दिया जाता था—

कलि कुचालि सुभमति हरनि सरलै दण्डै चक्र।
तुलसी यह निश्चय भई बाढ़ि लेति नव बक्र॥[7]

१ गिरिधर कुं०, ५।
२ बिहारी सत०, ६९५।
३ मानस, ७. ९८. १।
४ वही, ७. १०१. ३।
५ तुलसी, दो० ५५९।
६ मानस, ७. १०१. ३।
७ तुलसी दो०, ५३७।

तुलसी ने अपने एक दोहे में राजनीति के सम्बन्ध में कहते हुए कहा है कि राजा को स्वयं प्रजा की देखभाल करनी चाहिए नहीं तो यदि वह प्रजा को पूर्णतः अपने अधिकारियों के हाथ छोड़ देते है तो वे अधिक दुखदाई हो जाते हैं—

प्रभु तें प्रभु-गुन दुखद लखि प्रजहिं सँभारै राउ।
कद तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ।[1]

यह बात कवि ने तत्कालीन युग में देखकर ही लिखी है।

तुलसीदास के युग में अकाल और महामारी के प्रकोप भी हुए थे और प्रजा के लिये समय बड़ा खराब था, जिसे देखकर उन्होंने लिखा है कि यदि राजा अयोग्य और दुष्ट हो तो समय भी बुरा हो जाता है, जिस प्रकार शुद्ध और पवित्र वायु बुरी वस्तु के संयोग से दुर्गंधपूर्ण हो जाती है—

जथा अमल पावन पवन पाइ कुसंग सुसंग।
कहिय कुवास सुवास तिमि काल महीस प्रसंग॥[2]

बिहारी की एक प्रसिद्ध अन्योक्ति है, जिसमें उन्होंने ऐसे लोगों को फटकारा है जो दूसरे के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं। दोहा इस प्रकार है—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखु विहंग बिचारि।
बाज पराए पानि पर तू पच्छीनु न मारि।[3]

उस समय मिर्जा राजा जयशाह शाहजहाँ की ओर से हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ते थे। उन्ही के कृत्य को देखकर और सम्भवतः उन्हें लक्ष्य भी करके यह अन्योक्ति लिखी गई है।

इसी प्रकार बिहारी के समय में उस मुगल शासन का पूरे उत्तरी भारत में बोलबाला था। कुछ छोटे-मोटे राजे थे भी तो प्रायः अर्ध स्वतन्त्र। इस अर्ध-स्वतन्त्रता की दशा में वहाँ की प्रजा दोनों शासनों का ध्यान रखने के कारण स्वभावतः अधिक कष्ट पाती रही होगी, जिसे देखकर बिहारी को लिखना पड़ा—

दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़े अति दंद।
अधिक अँधेरो जग करै मिलि मावस रवि चंद॥[4]

आधुनिक नीति काव्य—

आधुनिक नीति काव्य और उसकी पृष्ठभूमि अपने पहले के काव्य

---

१ तुलसी दोहा०, ५०१।
२ वही, ५०५।
३ बिहारी सतसई, ६६६।
४ वही, ६३२।

एवं उसकी पृष्ठभूमि से बहुत से अंशों में भिन्न है। सन् १९३० के पूर्व पूरा आधुनिक युग धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनों का था। कांग्रेस, आर्यसमाज एवम् पश्चिम के प्रभाव तथा अन्य छोटी-मोटी बहुत सी संस्थाओं और सुधारवादी आन्दोलनों के कारण इस युग में जीवन के हर क्षेत्र में सुधारों के स्वर तीव्र थे, जिसके फलस्वरूप इस युग का साहित्य भी इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत था और प्रायः साहित्यकार

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥[1]

के मानने वाले थे। बीसवीं सदी के आरम्भिक दो-तीन दशकों की बहुत सी कविता पुस्तकें तथा सरस्वती, मर्यादा, विद्यार्थी, प्रभा, लक्ष्मी, इन्दु, मनोरंजन एवं प्रताप आदि की बहुत सी कविताएँ उपदेशात्मक तथा नीतिपरक हैं। ये युग की सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं, अतः युग से पूर्णतया सम्बद्ध हैं। इनमें युग की पुकार है। युग ने इनको प्रभावित किया है और बाद का युग इनसे प्रभावित हुआ है।

आधुनिक नीति साहित्य पर युग के प्रभाव को देखने के लिए

(अ) धर्म
(आ) राजा तथा कर्मचारी
(इ) राष्ट्रीयता
(ई) समाज
(उ) व्यवसाय
(ऊ) शेष

ये छः शीर्षक लिए जा सकते है। यहाँ इन पर निम्नांकित उपशीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जा रहा है।

(अ) धर्म—

विश्व की सचचाई—हिन्दू धर्म ग्रन्थों में विश्व को विवर्त और भ्रम कहा गया है। इसी के फलस्वरूप मध्ययुग में 'धुवाँ के से धौरहर' कह कर इसे अस्तित्वहीन और माया-जाल आदि कहा गया। भक्ति और रीतिकाल में इस भाव के सहस्रों छन्द मिल सकते है, पर आधुनिक युग में यह भाव बदल गया और विश्व को जंजाल मात्र कह कर उससे दूर भागना पलायनवाद कहा गया। जिस विश्व में रह कर हम कर्म करते

---

१ मैथिलीशरण गुप्त, इन्दु, कला ५, किरण १, पृ० ९५।

हैं, उसे अपने जीवन काल में सत्य मानना ही होगा। श्रीधर पाठक ने अपनी "जगत सचाई सार" कविता में इसी भाव को व्यक्त किया है—

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब संसार।
थोथा झगड़ा जी का रगड़ा केवल दुख का हेतु अपार॥

....

जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद।
पीओ, खाओ, सब सुख पाओ, कभी न लाओ मन मे खेद॥[1]

वियोगी हरि ने भी अपनी "वीर सतसई" में विश्व को झूठा मानने का विरोध किया है और जगत को मिथ्या कहने वालों को फटकारा है—

परखतु जीवन जौहरी प्रान रत्न जहँ गूढ़।
ता सांचे संसार कों कहत असाँचो मूढ़॥

....

जा जग की रोटीन तें सूझतु अलख अनंत।
मिथ्या ताकों कहत ए निलज निठल्ले संत॥[2]

साधु—एक समय था जब साधु साधना में लीन और संसार से विरक्त रहते थे, पर आज उनकी दशा बिल्कुल ही उलटी है। यही कारण है कि आज का प्रायः पूरा शिक्षित समाज उनका विरोधी है। कई आधुनिक नीतिकारों ने भी साधुओं पर व्यंग्य किये है। आज के बहुत से साधु रँगा वस्त्र पहनते हैं तथा शरीर पर राख मलते हैं। हरिऔध ने लिखा है—

रँगा जो रंग में उसके बना जो धूल पावों की।
रँगेगा वह बसन क्यों राख तन पर वह मलेगा क्या ?[3]

ये साधु बात तो वेदान्त की करते हैं पर इनका कर्म अत्यन्त निंद्य है। वियोगी हरि कहते है—

कथत मथत बेदांत पै रचत मंद छर-छन्द।
बहु किमि कामानन्द ए व्हैहैं रामानन्द॥[4]

---

१ **जगत सचाई सार**, पृ० १।
२ **वीर सतसई**, पृ० ९३।
३ **काव्य वाटिका**, पृ० २२३।
४ **वीर सत०**, पृ० ९३।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी साधुओं की सामयिक दशा का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है—

वे भूरि संख्यक साधु जिनके पंथ भेद अनंत हैं।
अवधूत, यति, नागा, उदासी संत और महंत हैं।

....

जो कामिनी कंचन न छूटा फिर विराग रहा कहाँ।
पर चिन्ह तो वैराग्य का अब है जटाओं में यहाँ॥
संख्या अनुद्योगी जनों की ही न उनसे बढ़ रही।
शुचि साधुता पर भी कुयश की कालिमा है चढ़ रही।
है भस्म-लेपन से कहीं मन की मलिनता छूटती।

....

दम की चिलम में लौ उठाना मुख्य इनका काम है।

गुप्त जी ने उनकी दशा पर दुख प्रकट करते हुए उनको जगाने की भी चेष्टा की है—

हे साधुओं सोए बहुत अब ईश्वराराधन करो।
उपदेश द्वारा देश का कल्याण कुछ साधन करो।[1]

अस्पृश्यता-निवारण—हिन्दू धर्म के लिए अस्पृश्यता बहुत बड़ा कलंक है। मध्ययुग में संतों ने इस बात का प्रयास किया था पर वह बहुत अधिक फलोत्पादक नहीं सिद्ध हो सका। आधुनिक युग में आर्य-समाज तथा गांधी जी के कारण इसका प्रायः आन्दोलन सा चला और उसी का फल है कि आज इस क्षेत्र में हम पूर्णतः नहीं तो अंशतः सफल कहे जा सकते है।

गांधी जी इसकी व्याख्या करते हैं—"अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहाँ-तहाँ धर्म में धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं।[2]

आधुनिक हिन्दी नीति काव्य में भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा गया है। रामचन्द्र शुक्ल "अछूत की आह" शीर्षक कविता में अछूत से कहलाते हैं—

पर अजब इस लोक का व्यवहार है,
न्याय है संसार से जाता रहा।
श्वान छूना भी जिन्हें स्वीकार है,
है उन्हें भी हम अभागों से घृणा।

---

१ भारत भारती, पृ० १६६।
२ धर्म-नीति, पृ० १४६।

... ...

छोड़ कर प्यारे पुराने धर्म को,
आज ईसाई मुसल्मी हम बने ।
नाथ कैसा यह निराला न्याय है,
तो हमें सानन्द सब छूने लगे ।[१]

वियोगी हरि ने अछूतों के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर बात कही है । हिन्दू शास्त्रानुसार गंगा विष्णु के पैर से निकली है और शूद्र भी उनके पैरों से उद्भूत हैं । इसी ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि एक ही स्थान से उत्पन्न होने पर भी एक छूत और दूसरा अछूत क्यों हो गया ?

सुरसरि औ अंत्यज दुहूँ अच्युत पद संभूत ।
भयौ एक क्यों छूत और दूजो रह्यो अछूत ।[२]

इसे और भी सुन्दर रूप में यों कहा जा सकता है कि एक ही स्थान से उत्पन्न होने पर भी गंगा को छूने से व्यक्ति क्यों शुद्ध और अछूत को छूने से अशुद्ध हो जाता है । यद्यपि तुलसी के "जलज जोंक ज्यों गुण बिलगाहीं" से यह तर्क काटा भी जा सकता है । पर इस रूप में तर्क द्वारा इसका काटना तर्क के लिए भले हो, समीचीन नहीं कहा जा सकता ।

अछूतों के लिये मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित है । दुलारेलाल भार्गव ने अपनी दोहावली में इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा है—

कलियुग ही में मैं लखी अति अचरजमय बात ।
होत पतितपावन पतित छुवत पतित जब गात ।।[३]

जाति-पाँति—अस्पृश्यता की भाँति ही जाति-पाँति का भी इस युग में विरोध हुआ है और यह यहाँ तक सफल हुआ है कि अब तो अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं । नाथूराम शर्मा ने लिखा है—

जाति-पाँति के धर्म जाल में उलझे पड़े गँवार ।
मैं इन सबको सुलझा दूँगा करके एकाकार ।।[४]

---

१ **काव्य वाटिका**, पृ० ३३७ ।
२ **वीर सत०**, पृ० ९४ ।
३ **दुलारे दो०**, ७१ ।
४ **सरस्वती खं० ९, संख्या ५** ।

एक अन्य कवि ने भी कहा है—

जाति-पाँति सब व्यर्थ है, एक पिता भगवान।
सब उसके ही पुत्र है, सब हैं एक समान ॥[1]

जाति का विरोध मध्य युग में भी संतों ने किया था। प्रसिद्ध है—

जाति पाँति पूछै ना कोय।
हरि को भजे सो हरि का होय ॥

सर्व धर्म-समभाव—सर्व धर्म समभाव आधुनिक युग की चीज़ है। ब्रह्म समाज, थियासाफिकल सोसाइटी तथा गांधी जी के कारण इसका भारत में प्रचार हुआ है। गांधी जी इसके दर्शन को स्पष्ट करते हुए लिखते है—

"सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण है। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य हैं। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि बनी है, तब तक सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती बल्कि स्वधर्म विषयक प्रेम अन्धा न रह कर ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मो के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते है। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म ज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहिचान सकते हैं।"[2] आधुनिक नीति काव्य में भी सर्व धर्म समभाव की भावना को अभिव्यक्ति मिली है :

ईसाई हिन्दू जवन ईसा राम रहीम।
बैबिल वेद कुरान में जगमग एक असीम ॥[3]

तथा

एक पिता के पुत्र सब सभी धर्म सम जान।
यदि यथार्थ रति धर्म में और सत्य-पहचान ॥[4]

अहिंसा—अहिंसा को प्राचीन साहित्य में भी स्थान मिला है, पर गांधी जी की अहिंसा उससे भी आगे है। पहले हिंसा का अर्थ किसी का जीव-हनन लिया जाता

---

१ नीति छन्द०।
२ धर्मनीति, पृ० १५९।
३ दुलारे दो०, ११३।
४ नीति छन्द०।

रहा है, पर गांधी जी ने इसकी बड़ी व्यापक व्याख्या की है। वे अहिंसा के बारे में लिखते हैं—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नही है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"[1]

आधुनिक नीति काव्य में गाधीजी की इस नवीन हिंसा को ही अपनाने का उपदेश दिया गया है। महेशचन्द्र प्रसाद अपनी "स्वदेश सतसई" में लिखते हैं—

टारहु हिंसा हिय सों गांधी टेर।
आदि अन्त यह उनके मृदु-मत केर।
मानव नियम अहिंसा धर्म निधान।
हिंसा नियम पशुन को पाप प्रधान।[2]

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। गांधीवाद में सत्य तथा अहिंसा आदि की भाँति ही इस शब्द का भी व्यापक अर्थ है। गांधी जी ने अपने "मंगल प्रभात" में इसकी विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी की कोई चीज चोरी से ले लेना मात्र ही चोरी नहीं है, अपितु अपनी आवश्यकता से अधिक किसी भी चीज का प्रयोग या उसे अपने पास रखना भी चोरी है। गांधी जी ने लिखा है—

"वस्तुतः अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्रायः हम सब अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने ही चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते है। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकता कम करता जायगा।"[3]

गांधी जी ने इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।[4]

इसका आशय यह है कि आज के बहुत से लोग और प्रधानतः सभी धनिक चोर हैं।

अस्वाद के लिए उद्धृत किए गए छन्द में अस्तेय के सम्बन्ध में भी उल्लेख

---

१ धर्मनीति, पृ० १२२।
२ स्वदेश सत०, पृ० २५, २६।
३ धर्मनीति, पृ० १३६।
४ वही, पृ० १३६।

है। यहाँ आधुनिक नीति काव्य में इस विषय का एक और छन्द देखा जा सकता है—

चोरी करो न सब कहते पर है यथार्थतः चोर सभी।
है अचोर वह जो न चाहता आवश्यक से अधिक कभी॥
और साथ ही जो ना चुराता वस्तु द्रव्य या भावादिक।
ऐसे कुछ भी हो जावें तो यह जगती हो स्वर्ग अभी॥[1]

(आ) राजा तथा कर्मचारी—

राजा—पीछे कहा जा चुका है कि मध्ययुग में राजा अन्यायी हो गये थे, केवल दण्ड से ही शासन करते थे। आधुनिक युग तक आते-आते उनकी दशा और भी बुरी हो गई और वे प्रजा-रक्षक न रह कर प्रजा-भक्षक हो गए। गुप्त जी ने लिखा है—

जो हैं अधीश्वर बस प्रजा पर कर लगाना जानते।
निर्द्रव्य डाका डालना भी धर्म अपना मानते।
जो स्वामि सम रक्षक रहे थे आज भक्षक बन रहे।
जो हार थे मंदार के वे आज तक्षक बन रहे॥[2]

वियोगी हरि ने आज के राजाओं को कलपाने वाला कहा है—

कलपावत कब तें हमें धारि निठुरता रूप।
करुनाधन! तुमहूँ भये आजु कालि के भूप॥[3]

प्राचीन काल के राजा कवि-कोविदों की रक्षा करते थे तो आज[4] के खुशामदी हैं और वेश्या तथा यूरोपीय सम्पर्क के कारण कुत्ते आदि पालते है। दुलारेलाल ने अपनी दोहावली में कहा है—

कवि कोविद पालत हुते जे नरपाल सुजान।
पालत आज खुशामदी मोटर गनिका स्वान॥[5]

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में तथा प्राचीन हिन्दी साहित्य में राजा की आज्ञा का पालन प्रजा का धर्म कहा गया है। कुछ आधुनिक लोगों ने भी इस नीति को दुहराया है।

---

१ नीति छन्द०।
२ भारत भारती, पृ० १३१।
३ वीर सत०, पृ० १०७।
४ 'आज' का यहाँ अर्थ है स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व का आधुनिक काल।
५ दुलारे दोहा०, १७६।

आज्ञा मानै भूप की प्रजा राखि निज धर्म।
जासों राजा सुख लहै करै सोइ कर्म॥

× ×

दीन कहै सु अधीन प्रजा या में हित जाने।
हरि की इच्छा जानि भूप की आज्ञा माने॥[1]

पर यथार्थतः यह बात तब के लिए ठीक है जब राजा न्यायी और प्रजा का पुत्र की भाँति पालन करने वाला हो। प्रजा-भक्षक राजा के साथ ऐसा करना राज्य को रसातल में ले जाना है। भगवानदीन ने परम्परागत नीति का विरोध करते हुए लिखा है—

सीखो आज्ञा मानना शासन की यह भूल।
वही सेव्य हो कर रहे जो सेवक अनुकूल॥[2]

आधुनिक युग में भारत अँग्रेजों के हाथ में रहा है। कहना न होगा कि उनका शासन भी अपवाद नहीं। इसीलिए आधुनिक युग के आरम्भ में कुछ लोगों ने 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कह कर या जार्ज वन्दना[3] शीर्षक कविताएँ लिखकर अँग्रेजी शासन की प्रशंसा की पर अधिक दिन तक उनके प्रति हमारी श्रद्धा नहीं अर्पित की जा सकी और आधुनिक नीतिकार कवि को कहना पड़ा—

लोग कहैं यहि राज में सूरज होइ न अस्त।
मों जानै वह उगै ना तमान्याय सब ध्वस्त॥[4]

अँग्रेजों ने कई बार प्रजा पर गोली चलाई। इसकी ओर लक्ष्य करके हरदीन त्रिपाठी कहते हैं—

बोली राजा से प्रजा सुनहु दयानिधि बात।
तुमसे हमसे है सदा पिता पुत्र को नात।
पिता पुत्र को नात पिता पुत्रहि प्रतिपालै।
पुत्र होइ पितु भक्त तात की बात न टालै।
दीन कहै करि कपट चलावत गोला-गोली।
पिता पुत्र के बीच प्रजा राजा सों बोली।[5]

---

१ सामान्य नीति-काव्य, पृ० ५६।
२ नीति के दोहे।
३ श्रीधर पाठक।
४ नीति छन्द।
५ सामान्य नीति-काव्य, पृ० ५७।

महेशचन्द्र प्रसाद ने भी अपनी स्वदेश सतसई में इसी ओर लक्ष्य करके शासन से कहा है—

विष बिटपौ काटत अति उपजत मोह ।
प्रजा पुंज पाटत महि तनिक न छोह ।।[1]

सरकारी कर्मचारी—सरकारी कर्मचारी गण अब तो कुछ सुधर गए हैं, नहीं तो भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व तक उनकी मनोदशा बड़ी विचित्र थी। स्वार्थ, अहं, राष्ट्र-द्रोह तथा अन्याय की वे साक्षात प्रतिमूर्ति थे और घूस तथा बेगार आदि लेना उनकी शोभा थी। आधुनिक नीति काव्य में इस विषय की ओर संकेत किया गया है। भारतेन्दु की एक मुकरी है—

मतलब की ही बोलै बात ।
राखें सदा काम की घात ।
डोलै पहिने सुन्दर समला ।
क्यों सखि साजन नहिं सखि अमला ।।[2]

महेशचन्द्र प्रसाद ने अपनी स्वदेश सतसई में लिखा है—

राजा इक बर चाहत चर चर चार ।
निसि अँधियार बढ़ावत निसिचर कार ।
सरकारी सेवक औ स्नेह स्वदेश ।
कप्फन ढक्यो मृतक जनु लख नभ-भेस ।
धिक चाकरि जहँ जननी चरचा पाप ।
देस-दास दुर बादक जहँ नित जाप ।[3]

एक कुण्डलिया में सरकारी नौकरों का बड़ा सुन्दर चित्र है—

सरकारी नौकर हुए जैसे हैं सर्वेश ।
अपनी मनमानी करें भोगें नित नव ऐश ।
भोगें नित नव ऐश अहं में रहते साने ।
नियम दया अरु सत्य न्याय का नाम न जानै ।
खाना जानैं घूस और लेना बेगारी ।
धन्य अमा को राज्य धन्य कौसिक सरकारी।[4]

---

१ स्वदेश सत०, ४०८ ।
२ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८११ ।
३ स्वदेश सत०, ६३४-३६ ।
४ नीति छन्द० ।

यथार्थतः सरकारी कर्मचारी को इन अवगुणों से रहित होना चाहिए।

पुलिस—ऊपर 'सरकारी कर्मचारी' पर लिखा जा चुका है। पुलिसों के सम्बन्ध में नीति काव्य में अलग भी कहा गया है।[1] आज की पुलिस अपनी असत्य-वादिता तथा धूर्तता आदि के लिए प्रसिद्ध है। प्रजा का भक्षण करती है। भारतेन्दु की एक मुकरी है—

रूप दिखावत सरबस लूटै। फन्दे में जो पड़े न छूटे।
कपट कटारी हिय में हुलिस। क्यों सखि साजन नहिं सखि पुलिस।[2]

पाटन ने अपने ज्ञान सरोवर में पुलिस से सर्वदा सतर्क रहने को कहा है—

सूम, सोनार, पुलिस को चाकर पातक विप्र लबार जुआरी।
पाटन भूलि करो न प्रतीति रखो इन बीसहुँ ते हुसियारी।[3]

एक अन्य कवि ने पुलिस के सारे गुणों को एक ही दोहे में दिखला दिया है—

घूस, धूर्तता झूठ अरु राक्षसीय व्यवहार।
सबने मिल कर लिया है पुलिस रूप अवतार।[4]

अँग्रेजी शासन पुलिस के ही बल पर था और पुलिस के व्यक्ति प्रायः भारतीय ही थे, अतः, उनका राष्ट्रविरोधी व्यवहार देशद्रोह था। एक नीति के कवि ने इस पर बड़ा सुन्दर व्यंग्य किया है।

पुलिस पाद पै ही इक ठहरो राज। पुलिस-आड पर ही अवलम्बित साज।
चुटकी भर सेन्दुर को नारि निवाहु। भर माथा को तुम्हरो! करहु न काहु।

अर्थात् नारी तो अपने स्वामी के चुटकी भर सिन्दूर को इतना निभाती है तो पुलिस के सिर पर तो स्वामी द्वारा दी गई पूरे माथे की लाल पगड़ी है फिर भला वे क्यों न निभावें?[5]

(इ) राष्ट्रीयता—

देश-प्रेम और उसके उद्धार की भावना—'जननी जन्म भूमिश्चस्वर्गादपि

---

१ सुधा, जनवरी १९३० में शिवमङ्गल पाण्डेय लिखित 'एक अज्ञात कवि' शीर्षक लेख।
२ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८११।
३ ज्ञान सरोवर।
४ नीति छन्द०।
५ स्वदेश सतसई, ६५७-५८।

गरीयसी' रूप में मातृभूमि या स्वदेश के प्रति विशेष स्नेह पहले भी प्रकट किया जा चुका है, पर आधुनिक युग में जब से हमें अपनी परतन्त्रता तथा देश की हीन दशा का ज्ञान हुआ, पूरे देश में देश-प्रेम की एक अप्रतिम लहर दौड़ गई। आधुनिक नीति काव्य भी इस लहर से अछूता नहीं रहा है। गुप्त जी लिखते हैं—

ऐसा करो जिसमे तुम्हारे देश का उद्धार हो।
जर्जर तुम्हारी जाति का बेड़ा विपद से पार हो।[1]

सनेही जी कहते हैं कि, जिसने देश से प्रेम करके मातृभूमि का ऋण नहीं चुकाया, उसने कुछ भी नहीं किया—

करके देश-प्रेम मातृ भू ऋण न पटाया।
बन कर जीवन समर सूर निज सर न कटाया॥
उस कुल कपूत से क्या हुआ कुचल काल बल ने दिया।
इस कर्म भूमि में आपही कहिए उसने क्या किया?[2]

वियोगी हरि देश-विमुख के संग से नरक का वास अच्छा मानते हैं—

भूलेहुँ कबहुँ न जाइए देश-विमुख जन पास।
देश विरोधी संग तैं भलो नरक कौ बास॥[3]

स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' कह कर तुलसी ने सदियों पूर्व स्वतन्त्रता के महत्व का ज्ञापन किया था, तथा परतन्त्रता की निन्दा की थी, पर आधुनिक युग में कांग्रेस के कारण इन दोनों के भेद का भारत के कण-कण ने बड़ी गहराई से अनुभव किया। इस युग की भारत की यह सम्भवत: सबसे बड़ी तथा महत्वपूर्ण अनुभूति है। नीति काव्य में भी इस युगानुभूति का प्रतिफलन हुआ है। वियोगी हरि अपनी वीर सतसई में कहते हैं—

जो अधीन तौ छांड़ियै स्वर्गहु विभव विलास।
जो पै हम स्वाधीन तौ भलो नरक कौ बास॥[4]

गांधी जी के अनुसार बहुत से देश-भक्त धीरे-धीरे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पक्ष में थे, और इसी प्रकार स्वतन्त्रता मिली भी, पर कुछ लोग इस विचार के भी थे कि थोड़ी-थोड़ी भीख की तरह माँगने से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। गरमदल वालों का यही मत था। नीति का एक दोहा है—

---

१ भारत भारती, पृ० १६४।
२ काव्य वाटिका, पृ० २१८-१६।
३ वीर सत०, पृ० ६१।
४ वही, पृ० ४८।

भीख सरिस स्वाधीनता कन कन जाचत सोधि।
अरे मसक की पांखुरिन पाट्यो कौन पयोधि ॥[1]

श्रीधर पाठक ने भी स्वतन्त्र लोगों को वन्दनीय और परतन्त्र को निन्दनीय कहा है—

वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अधिमानी हों।
बांधवता में बंधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों ॥[2]

एकता—एकता की शक्ति का उल्लेख तो प्राचीन नीति के कवि भी कर चुके हैं, पर, आधुनिक युग में स्वतन्त्रता प्राप्ति की दृष्टि से विभिन्न धर्मावलम्बियों, जातियों तथा वर्गों की एकता को बहुत महत्त्व दिया गया। आधुनिक नीतिकारों में प्रायः सभी ने इस दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है। रूपनारायण पाण्डेय लिखते हैं—

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कण्ठ मिल कर कह दो हम सब हैं भाई-भाई ॥[3]

स्वतन्त्रता के पूर्व और कुछ अंशों में बाद में भी हिन्दू और मुसलमानों में एकता का अभाव रहा है। इस साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण ही हमारी स्वतन्त्रता बहुत दिनों तक खटाई में पड़ी रही। श्री मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं—

आओ मिलें सब देश बांधव हार बन कर देश के।
साधक बनें सब प्रेम से सुख शान्तिमय उद्देश के।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों की कहो ?[4]

पूर्ण जी ने भी कहा है—

बन्दे हो सब एक के नहीं बहस दरकार।
है सब कौमों का वही खालिक औ करतार।
खालिक औ करतार वही मालिक परमेश्वर।
है जबान का भेद नहीं मानी में अन्तर।

---

१ वीर सतसई, पृ० ४८।
२ पद्य संग्रह, पृ० १६५।
३ सरस्वती, भाग १४ संख्या ६।
४ भारत भारती, पृ० १५७।

हो उसके बरअक्स करो मत चर्चे गन्दे।
कह कर राम रहीम मेल रक्खो सब बन्दे।[1]

देश की उन्नति के लिए न केवल धार्मिक अपितु सभी प्रकार की एकता आवश्यक है। पूर्ण जी ने इसे बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

पुर्जे किसी मशीन के हों कहने को साठ।
बिगड़े उनमें एक तो हों सब बारह बाट।
हों सब बारह बाट बन्द हो चलना कल का।
छोटा हो या बड़ा किसी को कहो न हलका।
है यह देश मशीन लोग सब दर्जे-दर्जे।
चलें मेल के साथ उड़ें क्यों पुर्जे-पुर्जे॥[2]

स्वाभिमान—स्वाभिमान मनुष्य का एक बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। परतन्त्रता की बेड़ी में बहुत दिन तक जकड़े रहने के कारण भारत में स्वाभिमान का अभाव हो गया था। यही कारण था कि हर बात में हम पश्चिम का बिना किसी संकोच के अनुकरण करने लगे थे। स्वदेशी तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन ने हममें स्वाभिमान की भी लहर दौड़ा दी। इस आधुनिक हिन्दी नीति काव्य का इस विषय का सबसे प्रसिद्ध छन्द आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखित है, जिसे कानपुर से प्रकाशित होने वाले प्रताप ने अपने सिद्धान्त-वाक्य के रूप में अपना लिया था।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है।

श्रीधर पाठक ने भी स्वाभिमानी व्यक्तियों के देश को वन्दनीय कहा है—

वंदनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।[3]

स्वाभिमान के अन्तर्गत अपनी सभी चीजों का अभिमान आता है। स्वाभिमानी व्यक्ति ही यथार्थतः स्वतन्त्र है। इसीलिए स्वाधीनता पर लिखते हुए वियोगी हरि ने लिखा है—

निज भाषा निज भाव निज असन बसन निज चाल।
तजि परता निजता गहूँ यह लिखियो बिधि भाल॥[4]

---

१ पूर्ण संग्रह, पृ० २१२।
२ वही, पृ० २११।
३ पद्य संग्रह, पृ० १६५।
४ वीर सत०, पृ० ४८।

और स्वाभिमानहीन व्यक्ति को परतन्त्र कहा है—

पर भाषा पर भाव पर भूषन पर परिधान।
पराधीन जन की अहै यह पूरी पहिचान ॥[1]

स्वदेशी व्रत—गांधी जी द्वारा चलाए गए स्वदेशी व्रत ने हमारे देश की उन्नति में बड़ी सहायता की है। इसे गांधी जी ने "मगल प्रभात" में इस युग का महाव्रत कहा है। आधुनिक नीति काव्य में भी स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया गया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। लक्ष्मीधर बाजपेयी कहते है—

दशा देश की देखो मित्र। क्या से क्या है हुई विचित्र।
उसका भी कर खूब विचार। भारत का तुम करो विचार।
देशी चीजों का अनुराग। वस्तु विदेशी का कर त्याग ॥[2]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है—

स्वदेशी वस्त्र को स्वीकार कीजै। विनय इतनी हमारी मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो। न जाओ पास उससे दूर भागो ॥[3]

इसके अतिरिक्त बालमुकुन्द गुप्त तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि और भी कई लोगों ने इस विषय पर लिखा है। पर, सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति राय देवी प्रसाद "पूर्ण" की है। उन्होंने इस विषय पर बहुत लिखा है। उदाहरण के लिए एक छन्द लिया जा सकता है—

खारा अपना जल पियो मधुर पराया त्याग।
सीठे को मीठा करै 'पूर्ण' देश अनुराग ॥
पूर्ण देश अनुराग सकल सज्जनों निबाहो।
है जो ह्याँ पर प्राप्त अधिक उससे मत चाहो।
बिना विदेशी वस्त्र नहीं क्या गुजर तुम्हारा।
काफी है जो मिलै होय गाढ़ा या खारा ॥[4]

नेता—यों तो प्राचीन नीति साहित्य में भी "मुखिया" आदि के रूप में नेता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है और बुद्ध, कबीर, नानक तथा शिवाजी आदि भी अपने युग के नेता ही थे पर आधुनिक युग में नेता शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और हो रहा है। इन नवीन नेताओं को देखकर आधुनिक नीति में बहुत सी बातें कही गई है।

---

१ वीर सतसई, पृ० ४६।
२ सरस्वती, भाग ८, संख्या ११।
३ सरस्वती, जुलाई १९०३।
४ पूर्ण संग्रह, पृ० २१५।

हमारे देश की सारी राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय इन विभिन्न क्षेत्र के नेताओं को ही है। इसका अनुभव श्री मैथिलीशरण गुप्त ने आज से कई दशक पूर्व किया था। उन्होंने भारत भारती में लिखा है—

हे देश नेताओ तुम्हीं पर सब हमारा भार है।
जीते तुम्हारे जीत है हारे तुम्हारे हार है॥[१]

हमारे कुछ नेताओं को छोड़ कर शेष में प्रधान रूप से चार अवगुण देखे जाते हैं। नीति काव्य में चारों के विषय में चेतावनी दी गई है—

पहली बात तो यह है कि बहुत से नेता भाषण मात्र से सम्बन्ध रखते हैं। वे केवल भाषण तथा नारों से ही देश की दशा सुधारना चाहते है। रामचरित उपाध्याय ऐसों के लिए कहते हैं—

गला फाड़ने से न कभी भारत सुधरेगा।
मोदक मोदक रटो कभी क्या पेट भरेगा॥[२]

दूसरे, बहुत से नेता, नेता बनकर अहं में डूब जाते हैं और अपने को शासक सा समझने लगते हैं। भगवानदीन कहते हैं कि यथार्थ नेता वही है जो अपने को हारा हुआ समझे अर्थात् अहं से शून्य और विनीत हो।

औरों का मन जीतकर हारा समझे आप।
वह नेता नेता नहीं सत्य प्रजा का बाप॥[3]

कुछ नेता स्वार्थ में इतने डूबे रहते है कि उनके सारे कार्य अन्ततोगत्वा देश के लिए या जनता के लिए न होकर अपने आप के लिए ही होते है। नीति का एक छन्द है—

स्वार्थ न जिसके कोष में वह नेता है साँच।[४]

ऐसे भी नेता कम नहीं होते जो सत्य बोलने, सादगी से रहने, देशी वस्तुओं का प्रयोग करने तथा सबको अपना भाई समझने आदि का उपदेश तो देते हैं पर स्वयं ऐसा नहीं करते। ये नेता दीपक की भाँति हैं जो अपने नीचे का अँधेरा दूर नहीं कर पाता पर औरों को प्रकाश देता है।

जिस दीपक ने तम न हटाया निज पैरों का।
उसने क्या उपकार किया धिक् धिक् गैरों का।[५]

---

१ भारत भारती पृ० १७०।
२ सरस्वती, भाग १७, संख्या ६।
३ नीति के दोहे।
४ नीति छन्द०।
५ सरस्वती, भाग १७, संख्या ५।

(ई) समाज—

ब्राह्मण—'अग्रजन्मा' ब्राह्मण आज अत्यन्त पतित हो गए हैं। **दामोदर सहाय** सिंह कहते हैं—

कलि कौतुक द्विज कुल कुपूत की सुनौ कहानी।
अब केवल उपबीत आइके रही निसानी।
गयी सुद्ध व्यवहार रह्यो पाखण्ड विडंबन।
संध्या वन्दन गयो रह्यो इक खण्डन मण्डन।[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने भी इनकी अवनतावस्था का चित्र खींचते हुए कहा है—

कुछ शीघ्र बोध रटा कि फिर वे गणक-पुंगव बन गए।
पंचांग पकड़ा और बस सर्वज्ञता में सन गए।
संकल्प तक भी शुद्ध वे साद्यंत कह सकते नहीं।
बिन पखरवाए पाद पंकज किन्तु रह सकते नही।
जिन ब्राह्मणों ने लोक को संतत तिरस्कृत था किया।
देखो उन्हीं के वंशजों को आज उसने ग्रस लिया॥
अब आप उनकी दक्षिणा पहले नियत कर लीजिए।
फिर निंद्य से भी निंद्य उनसे काम करवा लीजिए॥[2]

....

हे ब्राह्मणो फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्म गौरव धर्म के ध्यानी बनो॥[3]

यों ब्राह्मणों की मध्ययुग में भी प्रायः यही दशा थी। इसी कारण तुलसी आदि मध्ययुगीन कवियों में भी इनके ये चित्र कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

क्षत्रिय—ब्राह्मणों की भाँति ही क्षत्रियों की दशा भी बिगड़ गई है। वियोगी हरि लिखते है—

जोरि नाम सग सिंह पदु कियों सिंह बदनाम।
ह्वै है क्योंकरि सिंह यों करि शृगाल के काम॥[4]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ५७।
२ भारत भारती, पृ० १३०।
३ वही, पृ० १६७।
४ वीर सत०, पृ० १२।

गुप्त जी कहते हैं—

जो देश के प्रहरी रहे घर फूँकने वाले बने।
जो वीर वर विख्यात थे वे स्त्रैणता में हैं सने ।।
सुरकार्य साधक जो रहे अब दुर्व्यसन में लीन है।
जो थे सहज स्वाधीन वे ही आज विषयाधीन हैं ।।[1]

....

वीरो उठो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो ।।[2]

वैश्य—आज के वैश्य 'बनिए' कहे जाते हैं और कम तौलना, धोखा देना तथा धन के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहना ही उनका प्रमुख कार्य रह गया है। गुप्त जी कहते हैं—

वे वैश्य भी अब पतित होकर नीच पद पाने लगे।
बनिए कहा कर वैश्य से बक्काल कहलाने लगे ।।

....

कौशल्य उनका अब यहाँ बस तोलने में रह गया।
उद्यम तथा साहस दिवाला खोलने में रह गया ।।
बस हाय पैसा ! हाय पैसा ! कर रहें हैं वे सभी।
पर गुण बिना पैसा भला क्या प्राप्त होता है कभी ।।[3]

नारी—आधुनिक युग के पूर्व के नीति काव्य में नारी की बड़ी भर्त्सना की गई है, पर आधुनिक नीति साहित्य की दशा इससे विभिन्न है। सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण इधर युग ने इस बात का अनुभव किया कि नारी स्वभावतः बुरी नहीं हैं, अपितु समाज ने उसे अशिक्षित रखकर बहुत अंशों में बुरा बनने को बाध्य किया है। नीति साहित्य में भी यह भावना व्यक्त की गई है।

क्या दोष उनका किन्तु जो उनमें गुणों की है कमी।
हा क्या करें वे जब कि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं ।।[4]

....

ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे।
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।

---

१ भारत भारती, पृ० १३२।
२ वही, पृ० १६८।
३ वही, पृ० १३२-३३।
४ वही, पृ० १३५।

भागे न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ।
पातीं स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वही सब ऋद्धियाँ ॥[1]

और साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि स्त्रियाँ शिक्षित बनाई जायँ तो सभी गुणों से सम्पन्न हो सकती है—

क्या कर नहीं सकतीं भला यदि शिक्षिता हों नारियाँ।
रण रंग राज्य सुधर्म रक्षा कर चुकी सुकुमारियाँ।
लक्ष्मी, अहल्या, बायजाबाई, भवानी, पद्मिनी।
ऐसी अनेकों देवियाँ हैं आज जा सकती गिनीं।[2]

इसके साथ ही इस बात का भी अनुभव लोगों ने किया कि नारियों की अवनति का कारण अशिक्षा के अतिरिक्त पुरुषों के अवगुण भी हैं। पुरुषों के संसर्ग से ही प्रायः स्त्रियाँ भली या बुरी बनती हैं। प्राचीन युग में इस बात का अनुभव केवल रत्नावली ने किया है। उसने कहा है—

सस्त्र, सास्त्र, बीना, तुरग, बचन लुगाई लोग।
पुरुष विशेषहिं पाइ के बनत सुजोग अजोग ॥[3]

आधुनिक युग में गुप्त जी ने भी इसे स्वीकार किया है—

हम डूबते है आप तो अघ के अँधेरे कूप में।
हैं किन्तु रखना चाहते उनको सती के रूप में।
निज दक्षिणांग पुरीष से रखते सदा हम लिप्त है।
वामांग में चन्दन चढ़ाना चाहते विक्षिप्त हैं।[4]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

नारी पवन है शुद्ध जैसा पुरुष मिलता है यदा।
वैसी 'सु' 'दुर' से युक्त गन्ध प्रदान करती है सदा ॥[5]

नारी के सम्बन्ध मे दो अन्य नवीन बातें भी आधुनिक नीति काव्य में मिलती है। एक तो है दहेज सम्बन्धी और दूसरी विधवा सम्बन्धी। कहना न होगा कि आज भी हमारे समाज के लिए ये दोनों ही बातें कलंक स्वरूप है। ये दोनों समस्याएँ हैं तो पुरानी पर कभी भी नीति के कवियों ने इधर ध्यान नहीं दिया। यदि कुछ ने

---

१ **भारत भारती**, पृ० १३६।
२ **वही**, पृ० १३७।
३ **रत्नावली दो०**, ६२।
४ **भारत भारती**, पृ० १३६।
५ **नीति छन्द०**।

विधवा की ओर ध्यान भी दिया तो उसे विरक्त आदि रहने का आदेश मात्र दिया। हमारी नई मनीषा ने विधवा-विवाह का समर्थन किया तथा दहेज का विरोध किया। आधुनिक नीति काव्य में भी ये दोनों विचार व्यक्त किए गए हैं। एक-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

दहेज—

शिक्षित भी बन गए सभ्य भी हैं कहलाते।
बना सुधारक कभी सभापति भी बन जाते।
करते हुए कुकृत्य नहीं जी में शरमाते।
हो जो पुत्र विवाह हजारों ही ठहराते।
मिले मुनासिब मोल तभी होते हैं राजी।
तुर्की कोई पुत्र बना कोई है ताजी।[1]

विधवा-विवाह—

पुरुष ब्याह अगणित करें नारी करे तो एक।
शास्त्रों की या न्याय की धिक ! यह कैसी टेक ॥[2]

धनिक—आधुनिक युग के धनिकों की दशा बड़ी विचित्र रही है और बहुत अंशों में तो आज भी वैसी ही है। मानवता तो जैसे उनमें नाम मात्र को भी नहीं है। उनके बगल में कोई दीन भूख से तड़प कर मर जाय पर वे एक कौड़ी नहीं दे सकते। यों ऐश, आराम तथा इस प्रकार के अन्य व्यर्थ के कामों में वे रुपए को पानी की तरह बहाने में नहीं हिचकते। बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं—

हे धनिको क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार ॥[3]

मैथिलीशरण जी भी कहते हैं—

दुर्विध प्रजा का द्रव्य हर कर फूंकते हैं व्यर्थ वे।
सत्कार्य करने के लिए हैं सर्वथा असमर्थ वे ॥
चाहे अपव्यय में उड़े लाखों करोड़ों भी अभी।
पर देश हित में वे न देंगे एक कौड़ी भी कभी ॥[4]

---

१ सनेही : काव्य वाटिका, पृ० २१६।
२ नीति छन्द०।
३ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ५४।
४ भारत भारती, पृ० ११२।

इतने पर भी लोग इन्हें 'गरीब-परवर' कहते है। वियोगी हरि ने अच्छा व्यंग्य किया है —

चूसि गरीबनु को रकतु करत इन्द्र सम भोग।
तउ 'गरीब परवर' उन्हें कहत कहो ए लोग ॥[1]

बहुत से धनिक भक्त भी बनते हैं और पूजा आदि करते है। ऐसे लोगों की भक्ति व्यर्थ है—

दीनन देखि घिनात जे नहिं दीननु सो काम।
कहा जानि ते लेत हैं दीनबन्धु को नाम ॥[2]

साक्षी—आजकल के साक्षी प्रायः झूठे होते हैं और वकील की राय तथा अपने पक्ष के अनुसार तरह-तरह के झूठ बोलते हैं। आधुनिक नीति काव्य ने भी इसका विरोध किया है—

साखी ऐसो चाहिए न्यायाधिप के पास।
सत्य सत्य वर्णन करे त्यागि आस अरु त्रास ॥
त्यागि आस अरु त्रास प्रश्न को उत्तर देवै।
सुयश लहै जगबीच धर्म की नौका खेवै ॥
दीन कहै हो साखि कपट जो उर में राखी।
अयश लहै जग बीज नीच सो झूठा साखी ॥[3]

पड़ोसी का ध्यान—नागरिक शास्त्र का यह प्रथम सिद्धान्त है कि पड़ोसी की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए अपने पैर फैलाना चाहिए। बिना इसके समाज उचित ढङ्ग से नहीं चल सकता। आधुनिक नीति काव्य में कहा गया है—

जो पड़ोस में के ही सुख को मना नहीं पावेगा।
सोचो उसका दुख मनाने कौन कहाँ आवेगा ॥
औरों को भी वह सुविधा दो जो औरों से चाहो।
यही नागरिकता गृहस्थता सबसे निभौ निबाहो ॥[4]

सहनशीलता—सहनशीलता का महत्व यों तो भारतीय संस्कृति में बहुत पहले से गाया गया है पर आधुनिक युग में गांधी जी के 'सत्याग्रह' के कारण इसका

---

१ वीर सत०, पृ० १०२।
२ वही, पृ० ९६।
३ सामान्य-नीति काव्य, पृ० ६२।
४ गृहस्थ गीता, पृ० ९३।

महत्व बहुत बढ़ गया और इसी कारण आधुनिक नीति काव्य मे इसको बड़ी प्रतिष्ठा दी गई। कुछ छन्द देखे जा सकते है—

बूता भरि जूता सहि छमहु सुसील।
कुष्णहिं भृगु लातहुँ लहि का भा ढील॥
पानी आग बुझावत जान जहान।
अस विचारि सीतल रहु नित मतिमान॥[1]

सहनशीलता के लिए क्रोध का न आना आवश्यक है। गांधी जी का कहना था कि पुलिस या शासन के लाठी-डण्डे खाकर भी सत्याग्रही को क्रोध न कर उसे चुपचाप सहना चाहिए। नीति में भी कहा गया है—

उत्पीड़न अन्याय कहीं हो,
दृढ़ता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने,
करुणा करो न क्रोध करो॥[2]

गांधी जी के साथ ही आधुनिक नीतिकारों का भी विश्वास है कि ऐसा करने पर विरोधी अपने आप झुकेगा—

बाधक स्वय बनेंगे साधक,
यदि तुम हो दृढ़व्रत धारी।
सहनशीलता वह है जिससे,
छके आप अत्याचारी॥[3]

(उ) व्यवसाय—

कोई जीविका खोटी नहीं—आधुनिक युग के पूर्व तक अपनी जीविका के लिए छोटे काम करना बुरा समझा जाता था तथा छोटे काम करने वाले अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे, पर आधुनिक युग में पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव तथा अन्य कारणों से यह भावना बदल गई और लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि सच्चाई और ईमानदारी के साथ किया जाने वाला कोई भी काम छोटा नहीं है। आधुनिक नीति काव्य में भी यह भावना व्यक्त की गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

खोटी नहीं जीविका कोई खरे रहें यदि गेही।
छोटे काम जिन्हें कहते हो बड़े वस्तुतः वे ही।

---

१ स्वदेश सत०, २२–३।
२ अनघ, पृ० ५९–६०।
३ वही, पृ० ६०।

कोरी या चमार या धोबी कौन नहीं निज अंगी ।
महतो से बढ़कर मेहतर हैं जन समाज के संगी ।।[1]

साहित्य-सृजन—आधुनिक युग के पूर्व रीतिकाल में शृङ्गार-रस-प्रधान साहित्य की रचना हुई थी, अतः उसकी प्रतिक्रिया हुई और आधुनिक युग में उसका विरोध होने लगा । इसके अतिरिक्त हमने अपनी पराधीनता का भी अनुभव किया अतः उसके लिए वीर रस की आवश्यकता प्रतीत हुई जो हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम में सहायक हो । साथ ही विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनों ने हमारी भावना को सुधारवादी बना दिया । इन तीनों कारणों से साहित्य के विषय में हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और शृङ्गार-विहीन, श्लील, वीर रस प्रधान, स्वतन्त्रता-संग्राम में सहायक तथा समाज का सुधार कर उसे ऊपर उठाने वाले साहित्य की हमें आवश्यकता प्रतीत हुई । आधुनिक नीति-उपदेशपरक काव्य में इसके स्पष्ट प्रतिबिम्ब हैं । गुप्त जी लिखते हैं—

श्रुति, शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे ।
ये नायिका भेदादि उनके स्थान में हैं आ डटे ।
... ...

हा उच्च भावों को वही क्रम आज भी है खो रहा ।
अश्लील ग्रन्थों मे हमारा शील चौपट हो रहा ।
....

उद्देश्य कविता का प्रमुख शृङ्गार रस ही हो गया ।
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया ।
... .

वे रुचि विघातक ग्रन्थ ज्यों ही सैर करने को छुए ।
स्वीया हुई कुलटा बहुत अनुकूल बहुधा शठ हुए ।
... .

लिक्खाड़ ऐसे ही यहाँ साहित्य रत्न कहा रहे ।
वे वीर वैतरणी नदी का हैं प्रवाह बहा रहे ।
वे हैं नरक के दूत किंवा सूत हैं कलिराज के ।
वे मित्र रूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के ।[2]

---

१ गृहस्थ गीता, पृ० ७८ ।
२ भारत भारती, पृ० १२०–२ ।

तत्कालीन दशा को इस रूप में चित्रित करने के बाद वे कहते हैं —

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए ।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ।
क्यों आज रामचरित्रमानस सब कहीं सम्मान्य है ।
सत्काव्ययुत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है ।।[१]

वियोगी हरि ने भी देश की दशा देखते हुए कवियों पर व्यंग्य किया है—

बरषत विषम अंगार चहुँ भयौ छार बर बाग ।
कवि कोकिल कुहकत तऊ नव दम्पति रति राग ।।[२]

और उन्हें क्रान्तिकारी कविता करने के लिए कहा है—

ले बल विक्रम बीन कवि किन छेड़त वह तान ।
उठै डोलि जेहिं सुनत ही धरा मेरु ससि भान ।।[३]

इस प्रकार के आह्वान के बहुत से छन्द आधुनिक कविता में मिलते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनावो जिससे उथल-पुथल मच जावे ।[४]

तथा

कवि रे गा दे वह अनल गान ।
यह धरा आज थरथरा उठे ।
फट उठे आज यह आसमान ।[५]

वियोगी हरि ने कवियों के अतिरिक्त उन श्रोताओं पर भी व्यंग्य किया है जो शृङ्गार रस की कविता सुनना ही पसन्द करते हैं—

काहि सुनावतु वीर रसु वृथा करन चित खेद ।
हैं ए रसिक सिंगार के सुनत नायिका भेद ।।[६]

वकालत—वकालत आधुनिक युग की चीज है । वकीलों के विषय में दो बातें प्रधान रूप से कही जा सकती हैं । एक तो यह कि गवाहों से ये लोग मुकद्दमे में अपनी विजय के लिए झूठ बोलवाते हैं और दूसरे यह कि आजकल वकीलों की संख्या बढ़ गई है इस कारण सबको पर्याप्त मुकद्दमे नहीं मिल पाते, जिसके फलस्वरूप बहुत से वकील अपनी जीविका भी ठीक से नहीं चला पाते । नीति-काव्य में इन

---

१ भारत भारती, पृ० १७१ ।
२ वीर सत०, पृ० ७६ ।
३ वही, पृ० १८ ।
४ बालकृष्ण शर्मा नवीन ।
५ धधकती-ज्वाला, पृ० २ ।
६ वीर सत०, पृ० ८१ ।

दोनों ही बातों पर व्यंग्य है। दामोदर सहाय सिंह अपनी पुस्तक 'सुधा-सरोवर' के 'नीति-निचय' भाग में कहते है—

ये पद हैं अतिमय भरे अधिक-अधिक अधिकात।
याते याकी ओर ते बचियो युव जन तात।
पढ़न समय मासिक खरच सो नहिं सकत कमाय।
हाथ लिए कागज खबर रह जाते मुँह बाय॥

तथा

इमि मोखतारी हूँ समुझि सोखतारी पाखण्ड।
मिखवत साखी झूठ ही डरत न नरक प्रचण्ड।
नर जाके उपदेस ते करे पुन्य वा पाप।
सो तेहि में भागी अवसि निस्चित सास्त्र कलाप।[1]

कुछ वकील इजलास मे ठीक से बोल ही नहीं पाते। उनके सम्बन्ध में भी नीति-काव्य में कहा गया है—

एम० ए० बी० एल० हैं यद्यपि मुँह ते कढ़े न बोल।
अबा कबा समला दिए फिरते डामाडोल॥[2]

वकील सच का झूठ और झूठ का सच सिद्ध करा देते है, अतः उनके कारण झगड़े बढ़ते हैं। गांधीजी इसी कारण वकालत पेशे के पक्ष में नही थे। नीति का एक दोहा है—

झगरा बढ़वावत फिरें मरें अर्थ के अर्थ।
ये वकील स्वारथ मने इनकी विद्या व्यर्थ॥[3]

खेती—भारत कृषि-प्रधान देश रहा है और यों भी खेती हर दृष्टि से उत्तम है, यही कारण है कि हमारे यहाँ खेती को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निखिद चाकरी भीख निदान।

पर आधुनिक काल में प्रायः लोग खेती को सबसे नीचा और नौकरी को सबसे ऊँचा समझते हैं। इस दशा पर आधुनिक नीति-काव्य में व्यंग्य है—

खेती निधन गँवार कर चतुर चाकरी लोग।
भारत के दुर्भाग्य बस अस सिद्धान्त प्रयोग।[4]

---

१ **सुधा सरोवर, पृ० ३४-६।**
२ **वही।**
३ **नीति छन्द०।**
४ **सुधा सरोवर, पृ० ४०।**

इस स्थिति को दूर करने के लिए नीतिकारों ने कृषि की ओर झुकने के लिए भी उपदेश दिए हैं—

खेती धन को मूल है खेती जीवन प्रान।
याते खेती कीजिए पढ़ि कै कृषि-विज्ञान।[1]

खेती की ओर से नवयुवकों के विमुख होने का प्रधान कारण यह है कि खेती करने वाले आज सदियों से हर दृष्टि से बहुत कष्ट में हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने किसानों द्वारा ईश्वर को सम्बोधन करके ठीक ही कहलाया है—

बनता है दिन रात हमारा रुधिर पसीना।
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी छीना।
हा-हा खाना और सर्वदा आँसू पीना।
नहीं चाहिए नाथ हमें अब ऐसा जीना।।[2]

व्यापार—प्राचीन काल मे भारत विश्व के सभी समुन्नत देशों से व्यापार करता था। गुप्त जी ने भारत-भारती के वर्तमात खण्ड में हमारे प्राचीन व्यापारिक गौरव की संक्षिप्त पर अच्छी झलक दी है। आधुनिक युग में भारतीय व्यापार नष्ट हो चुका है। पश्चिम के सम्पर्क में आने पर भारत को पता चला कि यूरोप वालों के सुखी एवं धन-धान्य से पूर्ण होने का प्रधान कारण है उनकी व्यावसायिक उन्नति, अतः यहाँ भी लोग व्यापार को पिछले दो-तीन दर्शकों से महत्व देने लगे हैं। आधुनिक कविता भी इस भावना से अछूती नहीं है। गुप्त जी लिखते हैं—

वैश्यो सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार क्या है क्लेश का।
... ...
अब तो उठो हे बन्धुओ निज देश की जय बोल दो।
बनने लगें सब वस्तुएँ कल कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं।
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इण्डिया' ही सब कहीं।[3]

दामोदर सहाय सिंह व्यापार का महत्व दिखलाते हैं—

यहि विधि या व्यापार में जिन-जिन दीन्हों चित्त।
तिन-तिन थोड़हि काल में बहुत बटोरो बित्त।[4]

---

१ सुधा सरोवर, पृष्ठ ४०।
२ किसान।
३ भारत भारती, पृ० १६८।
४ सुधा सरोवर, पृ० ४७।

नौकरी—पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद से भारत में ऐसी हवा चली और बहुत अंशों में तो आज भी है कि पढ़े-लिखे लोग खेती आदि स्वतन्त्र काम करना न पसन्द करके नौकरी पसन्द करते है। आधुनिक नीति-काव्य में इस मनोवृत्ति पर भी व्यंग्यात्मक वा उपदेशात्मक छन्द बहुत से हैं। दामोदर सहाय सिंह कहते हैं—

लिखि-पढ़ि जो घर में रहै करै खेत-व्यापार।
हँसै लोग बिन चाकरी ऐसे निपट गँवार।
याते बहुधा चाकरी सिच्छित करत पसन्द।
परबसता-बेड़ी बड़ी पड़ी हथकड़ी बन्द।
पर, परबस में नौकरी जैसे छाँह खजूर।
करी खुसामद रात-दिन जी सरकार हजूर।[1]

रामचरित उपाध्याय 'नौकर' के लिए कहते हैं—

मान, लज्जा कोप ये रहते न उसके पास है।
है पड़े जिसके गले में दासता के पाश है।
बस इसी से शव-बराबर भृत्य को कहते सभी।
भस्म में क्या भस्मकारक शौर्य होता है कभी।[2]

हरदीन त्रिपाठी ने अपने एक छन्द में इन्ही बातों के कारण नौकरी का विरोध किया है।[3]

बेकारी—'बेकारी' इस युग की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या का आरम्भ भारतेन्दु के समय में ही हो चुका था। उनकी एक मुकरी है—

तीन बुलावें तेरह आवें, निज-निज बिपदा रोइ सुनावें।
आँखीं फूटे भरा न पेट, क्यों सखि साजन नहिं ग्रेजुएट।[4]

भगवानदीन जी बेकारी की निन्दा करते हुए लिखते हैं—

बेकारी सबसे बुरी निपट निराशा खान।
आशा बसती कर्म में, कर्म करें विद्वान।[5]

दुख है कि भारत में यह अभिशाप बढ़ता ही जा रहा है।

(ऊ) मिश्रित—

बुरा और बुराई—अब तक विश्व में बुरे और बुराई दोनों से घृणा की जाती रही

---

१ **सुधा सरोवर**, पृ० ३-३२, ३५।
२ **काव्य वाटिका**, पृ० २३४।
३ **सामान्य नीति-काव्य**, पृ० ३४।
४ **भारतेन्दु ग्रन्थावली**, पृ० ८१०।
५ **नीति के दोहे**।

है, पर गांधी जी को यह बात बड़ी अमानवीय लगी अतः उन्होंने इसका विरोध करते हुए 'बुरे से नहीं अपितु बुराई से घृणा करो' का सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखा। आधुनिक नीति-काव्य में भी यह स्वर है। भगवानदीन लिखते है—

द्वेष बुराई से करो, करो बुरे से राग।
भरो भलाई से बुरे, डाल बुराई आग।[1]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

बुरा भी आदमी ही है, किसी कारण से ऐसा है।
न क्यों कारण को उस काटो, घृणित वह जिस वजह से है।[2]

मैथिलीशरण गुप्त कहते है—

पापों से घृणा करो प्रयत्न करो पापी का।
व्यंग्य छोड़ संग दो सदैव अनुतापी का।[3]

पहुँच—'पहुँच' का स्थान तो संसार में सर्वदा से ही रहा होगा पर आज जैसी प्रधानता सम्भवतः उसे कभी भी नहीं मिली थी। आज जीवन के सभी क्षेत्रों में 'पहुँच' का बोलबाला है। जिसकी पहुँच है वह बड़ी से बड़ी सफलता भी सरलता से प्राप्त कर सकता है पर जिसकी पहुँच नही है वह लाख योग्य होने पर भी प्रायः सफल नहीं हो सकता। बेढब जी एक पैरेडी में कहते है—

तुलसी जैसी सोर्स हो तैसी मिले सहाय।
बिनु इन्टरव्यू बेधड़क सुघर पोस्ट मिल जाय।[4]

सैयद अमीर अली 'मीर' ने 'पहुँच' को 'वसीला' का नाम देते हुए आज के युग में इसके महत्व को बड़े विस्तार और सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त किया है—

चतुर गवैया होय, वेद को पढ़ैया चाहे,
समर लड़ैया होय रण भूमि चौड़ी में।
जानत समैया होय 'मीर' कवि त्यों ही चाहे,
बात को जनैया होय नैन की कनौड़ी मे।
नीति पै चलैया होय, पर उपकार आदि,
कुशल करैया काज हाथ की हथौड़ी में।

१ नीति के दोहे।
२ नीति छन्द०।
३ अनघ, पृ० ५६।
४ साप्ताहिक संसार, ३० नवम्बर १९४४।

गुनन को शीला होय, तौऊ ना वसीला बिन,
कोउ है पुछैया भैया तोहिं तीन कौड़ी में ।[1]

दिखावा—'दिखावे' का भी आज के युग में विशेष प्रचार है । संसार में आज बहुत से काम केवल दिखावे के लिए होते हैं पर, यथार्थतः दिखावा बहुत बुरी चीज है । भगवान दीन कहते हैं—

शब्द दिखावा कह रहा, नित्य पुकार-पुकार ।
मैं हूं देखै, छुवै का, है मुझमें नहिं सार ।[2]

विज्ञापन—विज्ञापन आज के युग का अभूतपूर्व साधन है । जिस वस्तु या व्यक्ति का विज्ञापन नही उसका लाख योग्य होना व्यर्थ है । उसकी कहीं भी पूछ या आदर सम्भव नहीं । यह बात पुस्तक तथा ओषधि आदि से लेकर नेता, वैद्य, कवि और विद्वान तक सभी के सम्बन्ध में सत्य है । बेढब कहते हैं—

लीडर प्लीडर भाँड़ कवि मेम्बर अरु अखबार ।
विज्ञापन के बल चलत ये सब बोलनहार ।[3]

एक अन्य कवि ने भी युग की विज्ञापनबाजी पर व्यग किया है—

सच्चाई का युग गया समय असत के साथ ।
धन विद्या आदर सुपद विज्ञापन के हाथ ।[4]

ख्याति—ख्याति और यश में बड़ा सूक्ष्म अन्तर है । किसी भी कारण यद्यपि—बुरे कारण से नहीं—किसी व्यक्ति की ऐसी प्रसिद्धि हो कि उसे बहुत से लोग जानने लगें तो यह ख्याति है, पर किसी अत्यन्त पुनीत और अच्छे काम के कारण किसी का नाम हो तो वह यश है । यश में अच्छे कार्य पर अधिक बल है पर ख्याति में प्रसिद्धि या नाम पर । प्राचीन नीति-काव्य में यश को बड़ा महत्व दिया गया है । सम्राट अकबर का एक दोहा है—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि ।
ताको जीवन सफल है कहत अकब्बर साहि ।[5]

आधुनिक युग में प्रायः लोग ख्याति के लिए बेचैन देखे जाते हैं, पर यथार्थतः ख्याति के लिए लालायित होना उचित नहीं । मनुष्य को कार्य करना चाहिए । ऐसा करने से ख्याति अपने आप होगी । ख्याति के लिए लालायित व्यक्ति खोखला होता है

---

१ **प्रसारिका, जनवरी-जून १६५४, पृ० २१ ।**
२ **नीति के दोहे ।**
३ **साप्ताहिक संसार, ३० नवम्बर १६४४ ।**
४ **नीति छन्द० ।**
५ **अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ३० ।**

और ठोस कार्य करने की ओर उसका ध्यान अपेक्षाकृत कम रहता है। इसीलिए प्रायः लोग तरुणों को ख्याति से यथासाध्य दूर रहने का आदेश देते है। नीति-काव्य मे भी यह आधुनिक भावना प्रतिबिम्बित है। महात्मा भगवान दीन ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक "नीति के दोहे" में ख्याति या प्रसिद्धि के विरोध में कई दोहे लिखे है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा--

मुख प्रसिद्धि का रोकते कर्मठ और सुजान।
नहीं नम्रता यह निरी किन्तु कर्म कल्यान।[1]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

ठोस कार्य की शक्ति, ख्याति घटा देती सदा।
हुई ख्याति में भक्ति, समझो कर्मठता गई॥[2]

यथार्थतः आज के युग में ख्याति के प्रलोभन में जाने कितने तरुणों ने अपने ठोस कार्य करने की क्षमता खो दी है। विशेषतः साहित्य के क्षेत्र में तो ख्याति के रोग ने हमारी बड़ी ही हानि की है। एक कवि ने उचित ही व्यंग्य किया है—

हाथ में लेखनी आई नहीं कि ख्याति की साध जगी मन में।
छप जाय सुपत्रन में रचना बस दृष्टि है नाम-प्रकाशन में।
रेडियो में कुछ प्रोग्राम मिले वाह वाह हो कवि सम्मेलन में।
बिना साधना तेल के दीप से ये बुझ जाते हैं नव कवि दो छन में।[3]

ख्याति पाने के लिए आज के युग में योग्यता या ठोस कार्य की आवश्यकता नहीं है। खूब बड़बड़ करने से ही इसकी प्राप्ति हो जाती है। हास्य रस के कवि बेढब ने कहा है—

तुलसी बड़-बड़ करत ही रोब जमत चहुँ ओर।
नाम करन कौं अस्त्र है खूब मचाओ शोर।[4]

अस्वाद—संसार में मनुष्य दो प्रकार के होते है। एक तो खाने के लिए जीते है और दूसरे जीने के लिए खाते है। कहना न होगा कि जीने के लिए ही खाने वाले यथार्यतः मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। ऐसे लोगों के लिए "अस्वाद" व्रत

---

१ नीति के दोहे। वियोगी हरि ने भी कहा है—
भीरु छिपावतु जीव ज्यों कृपनु छिपावतु दामु।
सूर छिपावतु शक्ति ज्यों चतुर छिपावतु नामु। वीर सत०, पृ० १००।

२ नीति छन्द०।

३ नीति छन्द०।

४ साप्ताहिक संसार, ३० नवम्बर १९४४।

का पालन आवश्यक है। अस्वाद का अर्थ है शरीर की आवश्यकतानुसार, स्वाद की ओर ध्यान दिए बिना, भोजन करना। दूसरे शब्दों में अस्वाद का व्रती मनुष्य दवा के रूप में ही भोजन का सेवन करता है। गांधी जी लिखते हैं—

'अस्वाद का अर्थ है 'स्वाद न लेना'। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने में इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकतानुसार समझकर उचित परिमाण में ही सेवन करते हैं, वही बात अन्न के विषय में समझनी चाहिये। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है[1]।

अस्वाद विषय के केवल एक छन्द आधुनिक नीति-काव्य मे मिल सका है।

मत खाने के लिए जियो तुम मत रसना के दास बनो।
खाओ जीवन के हित केवल यह है सच्ची सीख सुनो।
कण भी एक जगत का लेना आवश्यकता से ज्यादा।
चोरी है चोरी प्यारे मत इस पातक में कभी सनो।[2]

श्रम—उद्योग के रूप में श्रम करने की नीति प्राचीन साहित्य में भी मिलती है पर कायिक श्रम रूप में यह आधुनिक युग की चीज है। सन् १९३० में गांधी जी ने कहा था[3] कि 'गीता के तीसरे अध्याय मे यज्ञ किए बिना खाने वाला चोर कहा गया है। वहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम ही है।' कायिक श्रम का भाव गांधी जी ने टालस्टाय के एक निबन्ध एवं रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' से ग्रहण किया था। उनके कहने के बाद अपने देश मे कायिक श्रम को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और अब तो श्रम-सप्ताह भी मनाए जाने लगे हैं।

आधुनिक नीतिकारों ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। लोचनप्रसाद पांडेय[4] ने मधुमक्खी के उदाहरण द्वारा इसे समझाया है।

इसी प्रकार पूर्णजी[5] ने चींटी का उदाहरण लिया है। भगवान दीन कहते हैं—

श्रम से बढ़ कर कर्म, कर्म और पावन नहीं।
यही धर्म का मर्म, पूजा गुरु श्रुत देव यह।[6]

---

१ **धर्म नीति, पृ० १३१।**
२ **नीति छन्द०।**
३ **धर्म नीति, पृ० १५३।**
४ **काव्य वाटिका, पृ० ३०२-३।**
५ **कविता कौमुदी, भाग २, पृ० २५५।**
६ **नीति के दोहे।**

उन्होंने आगे भी कहा है—

लोहा चमके घिसे से लकड़ी रगड़े आग[1]
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग ।

सचमुच परिश्रमी व्यक्ति बहुत उन्नति कर सकता है । दूसरी ओर उन्नति प्राप्त व्यक्ति भी आलसी होने पर अभागा बन सकता है । भगवान दीन श्रम को पापों का नाश करने वाला भी मानते हैं--

भजन कुल्हाड़ी मार मत, पाठ गठीले काठ ।
श्रम अग्नी में झोंक दे, यही सुगम नव पाठ ।[1]

और वे बिना श्रम के प्राप्त ज्ञान को भी व्यर्थ मानते है—

श्रम से उपजा ज्ञान, उपादेय होता सदा ।
ज्ञान नहीं अज्ञान, पड़े पड़े जो प्राप्त हो ।[1]

कहना न होगा कि श्रम करना ही मानव जीवन की उपयोगिता है और इस कारण इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है । पर साथ ही श्रम उचित पथ पर होना चाहिये । उचित पथ का श्रम जितना उपादेय है, अनुचित पथ का श्रम उससे भी अधिक हानिकर है ।

सम्पादक—द्विवेदी-युग के बहुत से सम्पादक 'सदसद्विवेकहीनता के कारण सुन्दर रचनाओं का बहिष्कार और असुन्दर का स्वागत' करते थे । तत्कालीन नीति-उपदेश काव्य में इस पर भी व्यंग्य है । महावीरप्रसाद द्विवेदी की एक 'गर्दभ' पर अन्योक्ति है, जिसमें ऐसे सम्पादकों को ऐसा गर्दभ कहा गया है जिसे हरी घास (सरस रचनाएँ) और दाना (सारगर्भित लेख) तो नहीं रुचते और असार (नीरस रचनाएँ) तथा चीथड़े (रद्दी लेख) मोहन भोग की भाँति अच्छे लगते है । उदाहरणार्थ वह अन्योक्ति यहाँ देखी जा सकती है—

हरी घास खुरखुरी लगै अति भूसा लगै करारा है ।
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै काटै अस जस आरा है ।
लच्छेदार चीथड़े कूड़ा जिन्हें बुहारि निकारा है ।
सोई सुनो सुजान शिरोमणि मोहन भोग हमारा है ।[2]

आधुनिक नीति-काव्य पर युग-प्रभाव देखने के लिए यहाँ कुछ प्रतिनिधि विषय लिए गये हैं और उनसे सम्बन्धित कविताएँ उद्धृत की गई है । इस प्रकार की और भी अनेकानेक विषयों पर लिखी गई आधुनिक नीति कविताएँ युग से प्रभावित मिलती हैं ।

१ **नीति के दोहे** ।
२ **द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २१६** ।

(ए) उदाहरणों पर युग प्रभाव—

यहाँ तक हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित विचारो पर युग प्रभाव की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई, पर विचारों के अतिरिक्त नीति-काव्य में विषय की स्पष्टता के लिए लिए गए अप्रस्तुतों या उदाहरणों पर भी कुछ युग का प्रभाव पड़ा है। दूसरे शब्दों में परम्परागत उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ कवियों ने अपने युग से नए उदाहरण भी लिए हैं। इन नवीन युगानुकूल उदाहरणों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। यहाँ कुछ उदाहरण देखे जा सकते है।

संसार में भेड़िया-धसान चलती है अर्थात एक को कुछ करते देख प्रायः दूसरे भी भेड़ की भाँति बिना सोचे-समझे वैसा ही करने लगते हैं। इस बात को तुलसीदास कहते हैं—

लही आँख कब आँधरे बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाय।[1]

इसमें कवि ने 'बहराइच' का उदाहरण लिया है। बहराइच उत्तर प्रदेश का एक जिला है। महमूद गजनवी का भांजा सैयद सालारजग गाजी बनने के लिए अपनी सेना के साथ यहाँ बढ़ आया था और यहीं श्रावस्ती के जैन राजा सुहृददेव द्वारा मारा गया। उसका मृत्यु स्थल 'गाजी मियाँ की दरगाह' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ ज्येष्ठ के महीने में बहुत बड़ा मेला लगता है और लोग अपना दुख दूर करने के लिए जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि वहाँ दर्शन करने तथा पूजा (झंडी, निशान, रोट, चने की दाल, गुड़) चढ़ाने से अन्धे आँख पा जाते है, बंध्या पुत्रवती हो जाती हैं तथा कोढ़ी आदि अच्छे हो जाते है। 'बहराइच' की इस रूप में प्रसिद्धि तुलसी के समय में भी थी। वे उपर्युक्त दोहे में उसी का उल्लेख करते हुए कहते है कि जनता बड़ी विचित्र है, उसने यह सुन रखा है कि बहराइच में जाने से ये दुख दूर हो जाते हैं अतः बिना यह जानने का प्रयत्न किए हुए कि सचमुच वहाँ जाने से किसी का कुछ लाभ हुआ या नहीं, भेड़ों की भाँति एक दूसरे को देखकर जाती है।

तुलसी की स्त्री रत्नावली ने अपने बहुत से नीति के दोहों में अपने जीवन को ही उदाहरणस्वरूप लिया है। उदाहरणार्थ एक स्थान पर वे कहती है कि अच्छी बात भी यदि प्रकरण-विरुद्ध कही जाय तो विष के समान हो जाती है जैसे मैंने ईश्वर प्रेम की ही बात कही जो किसी भी प्रकार बुरी नही थी पर अवसर या प्रकरण का ध्यान नहीं रखा और फल यह हुआ कि मेरे लिए वह विष बन गई। दोहा यों है—

---

१ तुलसी दोहा०, ४९६।

सुभहु बचन अप्रकृति गरल, रतन प्रकृत के साथ।
जो मो कहँ पति प्रेम सँग ईस प्रेम की गाथ।[1]

इसी प्रकार एक और भी दोहा है, जिसमें परिणाम विचार कर बात करने की नीति है—

कहि अनुसंगी बचन हूँ परिनति हिये विचारि।
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि।[2]

अकबर के समय में राजा टोडरमल ने एक प्रथा चलाई थी, जिसके अनुसार घोड़े को बेचते समय उसके शरीर पर बिक्री की छाप लगाई जाती थी और वह छाप सवार को सही का काम देती थी अर्थात उस दाग का घोड़ा बिक्री का समझा जाता था। रहीम ने यही उदाहरण लेते हुए कहा है—

यों रहीम गति बड़न की ज्यों तुरंग व्यवहार।
दाग दिवावत आपु तनु, सही होत असवार।[3]

अर्थात् जिस प्रकार घोड़ा स्वयं कष्ट सहकर सवार का उपकार करता है उसी प्रकार बड़े लोग भी करते है।

ये आधुनिक युग के पूर्व के कुछ उदाहरण हैं। आधुनिक युग में भी कुछ नीतिकारों ने कुछ इस युग के उदाहरण लिए है। राजेश अपनी दोहावली में गाली के विषय में कहते हुए लिखते है कि गाली तो 'मनीआर्डर' के समान है। जिस प्रकार मनीआर्डर यदि स्वीकार न किया जाय तो भेजने वाले के पास लौट जाता है, ठीक उसी प्रकार गाली जिसे दी जाय यदि वह उस पर ध्यान न दे तो गाली देने वाले के पास स्वभावतः लौट जाती है—

आपु जु पै नहिं लीजिए गारी गारी खाय।
लौटि दैनहारेइ ढिग बित आयसु (मनीआर्डर) लौ जाय।[4]

दुलारेलाल भार्गव अपनी दोहावली में बिजली घर (पावर हाउस) का उदाहरण लेते हुए कहते है—

एक ज्योति जग जगमगै जीव-जीव के जीय।
बिजुरी बिजुरीघर निकसि ज्यों जारति पुर-दीय।[5]

---

१ रत्नावली, ११२।
२ वही, ११३।
३ नव सतसई सार, पृ० ४६।
४ राजेश दोहा०, १५३।
५ दुलारे दोहा०, १२०।

भार्गव जी एक अन्य दोहे में हाकी खेल का उदाहरण लेते हुए लिखते है—

सत-इसटिक जग फील्ड ले जीवन-हॉकी खेलि ।
वा अनन्त के गोल में आतम-बालहिं मेलि ।[1]

एक नीति-छन्द में सुई (इनजेक्शन) का उदाहरण गुरुजनों की कटुवाणी के लिए दिया गया है—

गुरुजन के कटु बैन, सूई हैं औषधि सुखद ।
छन भर को दुख-ऐन, और बाद में स्वास्थ्यकर ।[2]

महेश चन्द्र प्रसाद ने 'भाग्य-फेर' के सम्बन्ध में कहते हुए चरखा और तकली के उदाहरण लिए हैं—

एकहि वस्तु कहूँ पर हँस कहुँ रोय ।
भाग फेर ते सुख-दुख पावत सोय ।
कहूँ काठ औषधि बनि जीवन देत ।
कहूँ काल बनिकै सो जानहि लेत ।
काठ एक चरखे मे चमकत भाय ।
काठ एक लाठी में लानत लाय ।
काठ एक तकली में कली खिलाय ।
काठ एक बन्दूकहिं मचवत लाय ।[3]

शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने अपनी 'नीति-सतसई' में रेल, मोटर, वायुयान आदि बहुत सी आधुनिक वस्तुओं से नए उदाहरणों का प्रयोग किया है ।

इस प्रकार के उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक कवियों ने नवीन वस्तुओं को लेकर अन्योक्तियाँ भी लिखी हैं । इस प्रसंग में गौचरण गोस्वामी की 'रेल का 'सिग्नल'[4] तथा राय देवी प्रसाद पूर्ण की 'इंजन की शिकायत'[5] आदि अन्योक्तियाँ उल्लेख्य हैं । पूर्ण जी की 'इंजन की शिकायत' यहाँ देखी जा सकती है :

बल ना करत काठ दल है कतार सारी,
गिनती गिनन ही को साथी ये घनेरे हैं ।
देखिकै चढ़ाई आगे पीछे को करत खींच,
जानिकै उतार वृथा ठेलत करेरे हैं ।

---

१ दुलारे दोहा०, ५६ ।
२ नीति-छन्द० ।
३ स्वदेश सत०, पृ० ५० ।
४ सरस्वती, भाग १४, संख्या ५ ।
५ पूर्ण-संग्रह, पृ० २७२ ।

इंजन सबल बीर धूम सों कहत बात,
एक तो विघन मग माहिं बहुतेरे हैं।
तापे ये अलाल बिनु बूझ बिनु सूझवारे,
डब्बे मुरदार यार पीछे परे मेरे हैं।[1]

अन्त में युग प्रभाव की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के पूर्व का नीति-काव्य अपने युग से अपेक्षाकृत कम प्रभावित है। उसमें संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में परम्परागत रूप से कही गई बातों को ही विशेषतः अभिव्यक्ति मिली है। पर, आधुनिक नीति-काव्य पर युग का पर्याप्त प्रभाव है। यह स्थिति विषय की दृष्टि से है। उदाहरणों के क्षेत्र में प्राचीन और आधुनिक दोनों ही नीति-काव्य युग से कुछ ही प्रभावित हैं।



१ पूर्ण संग्रह०, पृ० २७२।

: ५ :

नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय

नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय धर्म, समाज,[1] राजनीति, शकुन एवं व्यापार, स्वास्थ्य तथा खेती आदि विषयक सामान्य ज्ञान हैं। आगे इन सभी पर अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया गया है। स्त्री के विषय में कही गई बातें यों तो समाज-नीति के अन्तर्गत ही आवेंगी पर नीति-काव्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण उन पर अलग प्रकाश डाला गया है।

(क) धर्म और आचार—

हिन्दी नीति-काव्य में धर्म और आचार विषयक वे बातें दी गई हैं जिनसे व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति हो पर साथ ही जिनसे उसकी लौकिक उन्नति में एवं समाज या परिवार के विकास में कोई व्यवधान न उपस्थित हो। भारतीय संस्कृति का आदर्श केवल अपने परिवार को ही नहीं अपितु पूरे विश्व को ही कुटुम्ब मानने का रहा है। यहाँ "वसुधैव कुटुम्बकम्" केवल आदर्शवाक्य ही नहीं रहा है, बल्कि हमारे बुद्ध तथा गांधी जैसे महापुरुषों ने इसे अपने जीवन में उतारने का भी सफल प्रयास किया है। यहाँ के आर्ष ग्रन्थ, महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ, एवं वातावरण सभी में यह भावना पूर्ण रूप से भरी है। ऐसी स्थिति में इसके अनुकूल नीति का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक है। यही कारण है कि हमारी धार्मिक और आचारिक नीति 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' है। व्यष्टि और समष्टि दोनों ही की उन्नति के लिए उसमें प्रशस्त पथ है। इस परिधि में आने वाली नीति की सभी बातें देहरी दीपक की तरह हैं, जिनसे व्यक्ति और विश्व दोनों को ही यथोचित प्रकाश का सम्बल मिलता है।

---

१. धार्मिक और सामाजिक नीतियों को पूर्णतः एक दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है। क्रोध तथा दया आदि ऐसी बहुत सी बातें हैं जो दोनों ही के अन्तर्गत आती हैं। आगे इस प्रकार के विषयों को किसी एक के अन्तर्गत स्थान दिया गया है पर इसका आशय यह नहीं है कि उनका दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध की प्रधानता के कारण ही ऐसे विषय किसी एक के अन्तर्गत रखे गए हैं।

धर्म और आचार विषयक नीति को मोटे रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। कुछ तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध प्रमुखतः केवल व्यक्ति से है। जैसे ईश्वर में विश्वास, संसार एवं शरीर को अस्थायी मान कर उनके प्रति अधिक आसक्ति न रखना एवं मादक द्रव्यों का सेवन न करना आदि। इस प्रकार की नीति वैयक्तिक कही जा सकती है। दूसरे वर्ग की धार्मिक एवं आचारिक नीतियाँ वे हैं जो व्यक्ति से सम्बद्ध या उस पर आश्रित होते हुए भी 'व्यक्ति से इतर पर' या 'समाज' पर अधिक आश्रित हैं। राग-द्वेष, ईर्ष्या, क्षमा, दया, सत्य तथा अक्रोध आदि इसी श्रेणी की हैं। इन्हें सामाजिक (या पराश्रित) धर्म एवं आचार नीति कहा जा सकता है।

धर्म एवं आचारनीति का यह वर्गीकरण वस्तुतः तात्त्विक न होकर औपचारिक या व्यावहारिक मात्र है। वैयक्तिक नीतियाँ भी अपरोक्षतः समाज से सम्बन्धित हैं। विश्व का कोई भी कार्य या सिद्धान्त पूर्णतः वैयक्तिक नहीं हो सकता। व्यक्ति समाज का अंग है, वह अपने आप में सीमित होते हुए भी समाज की इकाई है, अतएव उसकी वैयक्तिक बातें भी धीरे-धीरे समाज से प्रभावित होती हैं तथा समाज को प्रभावित करती हैं। उदाहरणस्वरूप मादक द्रव्यों का सेवन वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत है, पर, मादक-द्रव्य-सेवी के अनुकरण से अन्य लोग भी मादक द्रव्यों के सेवी हो सकते हैं, या वह स्वयं सेवनोपरान्त उन्मत्त होकर समाज के नियमों की अवहेलना कर सकता है एवं अन्य दृष्टियों से भी समाज के लिए कष्टकर सिद्ध हो सकता है। दूसरी ओर सामाजिक धर्म एवं आचार नीतियाँ भी जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है व्यक्ति पर ही अवलम्बित है। उनके अनुकूल या प्रतिकूल आचरण व्यक्ति ही करता है। साथ ही इनसे व्यक्ति के व्यक्तित्व में भी ह्रास या विकास होता है। दया तथा क्रोध का सम्बन्ध समाज से है पर दयालु या अक्रोधी व्यक्ति जिस मानसिक शान्ति एवं सन्तुलन से लाभान्वित होता है, अदयालु तथा क्रोधी उसकी छाया का भी स्पर्श नहीं कर पाता। उलटे इनके आधिक्य से उसे अपने स्वास्थ्य की भी हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार दोनों ही वर्गों के विषय एक सीमा तक अपने से इतर वर्ग में भी आ जाते हैं।

यहाँ हिन्दी नीति-काव्य के धर्म एवं आचार अंश पर एक विहंगम दृष्टि डालने के लिए ईश्वर, धर्म, गुरु, साधु, माया, मन तथा दया आदि कुछ प्रमुख शीर्षकों को अलग-अलग लेकर नीतिकार कवियों द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेधमय बातें संक्षेप में दी जा रही हैं।

धर्म—किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उसमें सदा रहे, उससे कभी अलग न हो 'धर्म' है। जैसे आँख का धर्म है देखना। यहाँ धर्म का अर्थ स्वभाव या नित्य नियम है। ऋग्वेद (१. २२. १८) में धर्म शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग है। धर्म का यही प्राचीनतम अर्थ है। पर प्रस्तुत अध्याय में धर्म का यह अर्थ हमें अभीष्ट

नहीं हैं। आचार्यों तथा आर्ष ग्रन्थों द्वारा निर्दिष्ट वे कर्म जिनका लक्ष्य पारलौकिक आनन्द या मुक्ति की प्राप्ति है 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। पर यह एक सामान्य परिभाषा है। सभी आर्ष ग्रन्थ इस विषय में पूर्णतः एक मत नहीं हैं। मीमांसा के अनुसार वेद विहित जो यज्ञादिकर्म है, उन्हीं का विधि-पूर्वक अनुष्ठान 'धर्म' है। यहाँ 'धर्म' कर्मकांड के समीप है। स्मृतियों में आचार को ही परम धर्म कहा गया है, और वर्ण तथा आश्रम के अनुसार उसकी व्यवस्था का निर्देश किया गया है। जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना तथा यज्ञ करना-कराना आदि, क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करना तथा दान देना आदि, वैश्य के लिए व्यापार तथा शूद्र के लिए सेवा आदि; इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए गुरुसेवा, स्वाध्याय तथा भिक्षा माँग कर भोजनादि; गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञ एवं अतिथि, भिक्षु तथा साधु आदि की सेवा; वानप्रस्थी के लिए गृहाग्नि लेकर वन में वास, बाल तथा नख आदि रखना, भूमि पर सोना तथा बलिकर्म आदि करना एवं संन्यासी के लिए सर्वस्व त्याग और केश तथा नख आदि कटा कर दंड-कमंडलु धारण करना आदि।

स्मृतियों में इस वर्ण और आश्रम धर्म के अतिरिक्त सामान्य धर्म का भी वर्णन है, जिसका पालन ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सभी के लिए श्रेयस्कर है। इसमें ऐसी बातों का उल्लेख है, जिनसे व्यक्ति और समाज दोनों की मर्यादापूर्वक रक्षा हो। इस प्रसंग में मनु द्वारा बतलाए गए धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

अर्थात् धृति (धृति का अर्थ धैर्य है, पर, श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने अपने हिन्दी विश्वकोष[२] में इसका अर्थ सन्तोष दिया है। धर्म के लक्षण के प्रसंग में यह अर्थ अधिक समीचीन लगता है), क्षमा, दम अर्थात् बाह्य विषयों से मन को रोकना, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, शौच अर्थात् बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धता, इन्द्रियों को रोकना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं।

पुराणों में भी धर्म पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत का 'अहिंसा परमो-धर्मः' प्रसिद्ध ही है। पद्मपुराण में धर्म के दस अंग ब्रह्मचर्य, सत्य, तपस्या, दान, नियम, क्षमा, पवित्रता, अहिंसा, शान्ति तथा अस्तेय कहे गए हैं।[3] मत्स्य पुराण में

---

१ मनुस्मृति, ६. ६२।
२ हिन्दी विश्वकोष, भाग ११, पृ० १०२।
३ वही, पृ० १०३।

अद्रोह, अलोभ, दम, जीवों के प्रति दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृति सनातम धर्म के मूल कर्तव्य कहे गए हैं।[1] सामान्य धर्म के इस प्रकार के लक्षण या अंग अन्य पुराणों में भी पाए जाते हैं।

हिन्दी के एक नीतिकार कवि ने धर्म को परिभाषा में बाँधने का प्रयास करते हुए कहा है—

जाके अनुदिन अनुसरत जन मन विकसत जाय।
वर विचार उर विमलता बिलसि बिलसि अधिकाय।
पावत जाते मनुज हैं पूत प्रेत को पन्थ।
कहत धर्म ताको विबुध निरखि सकल सद्ग्रन्थ।[2]

वैशेषिक में भी धर्म को अभ्युदय और निश्रेयस् की प्राप्ति करने वाला कहा गया है।[3]

हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित धर्म के अन्तर्गत ऊपर कही गई स्मृतियों एवं पुराणों की बातों का ही एक मिश्रित रूप मिलता है जिनमें प्रधान ईश्वर (उसमें विश्वास तथा उससे भय आदि), नामस्मरण, माया (उससे बचना), मन (उसको वश में रखना), सत्य, अक्रोध, सन्तोष, दया, क्षमा तथा परोपकार आदि हैं। आगे के पृष्ठों में अलग-अलग शीर्षकों में इन पर विचार किया गया है।

हिन्दी के नीति-कवियों ने धर्म के पालन पर बड़ा बल दिया है। तुलसी कहते हैं—

सहि कुबोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि, करि गये सुजान॥[4]

रत्नावली कहती है—

रतनावलि धरमहिं रषत, ताहि रखावत धर्म।
धरमहिं पाततिं सो पतति, जेहि धर्म को मर्म॥[5]

मनुष्य को धर्म-विमुख नहीं होना चाहिए। यदि कोई हो तो नीतिकारों ने

---

१ हिन्दी विश्वकोष, भाग ११, पृ० १०३।
२ सदाचार सोपान ११९-२०।
३ यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।
४ तुलसी दो०, ४६६।
५ रत्नावली दो०, ८०। इसी भाव का एक संस्कृत श्लोक भी है—
'धर्म एव हतो हंति, धर्मो रक्षति रक्षितः।'

उसे दण्ड देने का आदेश दिया है। रामचरित उपाध्याय ने तो यहाँ तक कहा है कि नारी, गुरु, पिता, माता, पुत्र, मन्त्री, राजा, मित्र, भाई और ब्राह्मण भी यदि धर्म-विमुख हों तो उन्हें दण्डित किए बिना नहीं रहना चाहिए—

नारी, गुरु, पितु, मातु, सुत, सचिव, महीपत, मीत।
बन्धु विप्रहूँ दण्डिये धर्म-विमुख यह नीत।[1]

आशय यह है कि धर्म से व्यष्टि और समष्टि की रक्षा होती है, अतएव उसका अनुसरण कष्ट सह कर भी करना चाहिए। इसके विपरीत आचरण समाज के लिए अश्रेयस्कर होता है, इसी कारण अपने से छोटे या बराबर को कौन कहे अपने से श्रेष्ठ भी यदि धर्म-विमुख आचरण करें तो नीतिकारों ने उन्हें दण्डित करने की आज्ञा दी है।

ईश्वर—'ईश्वर' का हिन्दी नीति काव्य में तात्त्विक विवेचन आदि नहीं मिलता। यहाँ उसके गुण एवं कार्य आदि के विषय में केवल कुछ सामान्य बातें ही दी गई हैं। गिरिधर कविराय 'ईश्वर' या 'राम' की परिभाषा देते हैं—

माया मोह मद राग पुन ममता दंभरु काम।
यह जामें नहिं पाइये सो परमेश्वर राम।
सो परमेश्वर राम सर्व का जानन हारा।
... ... आदि।[2]

यहाँ गिरिधर ने यह दिखाने का यत्न किया है कि हिन्दू धर्म की दृष्टि से संसार लिप्त व्यक्ति में जो बुराइयाँ होती हैं, ईश्वर उनसे शून्य है और साथ ही वह सर्वज्ञ है।

ईश्वर के गुणों एवं स्वरूप आदि को लेकर भी हिन्दी नीति काव्य में बहुत सी बातें कही गई हैं। कबीर कहीं तो उसे 'भारी' और 'हलका' दोनों ही से परे कहते हैं—

भारी कहौं त बहु डरौं हलका कहूँ त झूठ।
मैं का जानौं राम कूं नैनूं कबहुँ न दीठ।[3]

और कहीं 'निरगुन सरगुन तें परे' एवं 'पुहुप बास थैं पातरा' आदि। आशय यह है कि उसके विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता और वह अनिर्वचनीय है।

---

१ ब्रज सत०, पृ० ३६।
२ गिरिधर कुं०, १९५।
३ कबीर ग्रन्थ०. प० १७।

विश्व के सारे गुणों का आधार ईश्वर ही है, इसी के कारण उसके गुण अनन्त हैं—

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौ, तऊ हरि गुण लिखा न जाइ।[1]

उसने ही सारे संसार को बनाया है और जो कुछ, जितना, जैसा और जो भी बनाया है उससे न तो रत्ती घट सकता और न तिल बढ़ सकता है। कबीर कहते हैं—

जाको जेता निरमया ताकौं तेता होइ।
रंती घटै न तिल बढ़ै जौ सिर कूटै कोइ।[2]

ईश्वर की भक्ति एवं उसके प्रति प्रेम पर सभी नीतिकारों ने बल दिया है। तुलसी उसके भजन बिना मुक्ति को सम्भव नहीं मानते—

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।[3]

कबीर उसकी भक्ति बिना जीवन को व्यर्थ बतलाते है—

कबीर हरि की भगति बिन ध्रिग जीमण संसार।
धूवाँ केरा धौलहर जात न लागै बार।[4]

ईश्वर की दयालुता आदि के विषय में भी नीति-काव्य में कहा गया है। बिहारी कहते हैं कि जिसका कोई भी संसार में रक्षक नहीं है उसकी भगवान रक्षा करता है—

जाके एकौ एकहू जग व्यवसाय न कोय।
सो निदाघ फूलै-फलै आक डहडहो होय।[5]

मलूक का दोहा प्रसिद्ध ही है जिसमें उन्होंने ईश्वर को ही सब का ध्यान रखने वाला तथा दाता माना है—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सबको दाता राम।

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६२।
२ वही, पृ० ५८।
३ तुलसी दोहा०, १२६।
४ कबीर ग्रन्थ०, प० २३।

लोक साहित्य में 'निर्धन के धन राम देवैया' तथा 'निर्बल के बल राम गोसैंया' आदि में भी यही भावना व्यक्त की गई है।

अपने सारे काम को ईश्वर पर भरोसा रखकर करने का आदेश भी नीति काव्य में है—

आस भरोसा स्रद्धा औ' विश्वास।
रखहु राम पर जो सबकी है स्वास।
और करहु तब अपने नयमय काम।
सफल बनहु जीते जी मरने पर हरि-धाम।[१]

वृन्द ने ईश्वर के सम्बन्ध में एक विचित्र बात कही है। वे कहते है कि ईश्वर उसी को कुछ देता है, जिससे कुछ पाता है—

देत न प्रभु कछु बिन दिए, दिए देत यह बात।
लै तन्दुल धन दुर्जहिं मुनि तृपत कियो भखि पात।[२]

वृन्द का यहाँ आशय सम्भवतः श्रद्धा, भक्ति या प्रेम आदि देने का है। ठीक भी है। बिना इसके कोई उससे कुछ पा भी नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त हिन्दी नीति-काव्य में ईश्वर को धर्म तथा धार्मिकों का रक्षक, अधार्मिकों को नष्ट करने वाला, दयालु, न्यायी, अनन्त एव अनादि, शरणागत तथा भक्तवत्सल आदि भी कहा गया है।

साधु—संसार से विरक्त होकर साधना और भजन करने वाले साधु कहलाते हैं—

साधु वही जो काया सार्धं।
सब कछु छाँड़ि ईस आराधं।[3]

साधु होना सरल नहीं है। उसे ससार के बीच पानी में तैलबिन्दु सा रहना पड़ता है। राग और द्वेष दोनों ही से वह दूर रहता है। साधु का लक्षण बतलाते हुए सुन्दरदास कहते हैं—

कोउक निन्दत कोउक बन्दत कोउक आइकै देत है भक्षन।
कोउक आइ लगावत चन्दन कोउक डारत धूरि ततक्षन।
कोउ कहै यह मूरष दीसत कोउ कहै यह आहि विचक्षन।
सुन्दर काहु सों राग न द्वेष सुभे सब जानहुँ साधु के लक्षन।[४]

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, ५७०।
३ नीति छन्द०।
४ सुन्दर : सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४९३।

धनादि के आकर्षण उसके लिए ऐसे ही है जैसे हाथी के लिए मच्छर की लात। अर्थात् ऐसी चीजों से वह तनिक भी प्रभावित नहीं होते। रामचरित उपाध्याय का एक दोहा है—

क्यौं हूँ साँचो साधु नही कंचन लखि ललचात।
गिरि न मरत करिबर कि हूँ, लगे मसक को लात।[1]

'राजेश' साधु को पूर्णरूपेण पका हुआ फल कहते हैं जो सांसारिकता रूपी पेड़ की डाल को स्वभावतः छोड़कर अलग हो जाता है—

जे जन साँचे सन्त भे तिन्हैं कहाँ संसार।
पाके फल राजेस जू रहैं न तरु की डार।[2]

संतों का सबसे बड़ा गुण यह है कि वे केवल अपना भला नही करते। उनके समीप जो भी जाता है उनसे लाभान्वित होता है। कबीर सच्चे सन्त को चन्दन का पेड़ कहते हैं[3] जो अपने समीप के ढाक जैसे सामान्य पेड़ों को भी अपनी गन्ध से सुगन्धित कर देता है। यही नहीं सन्त इतने उदार होते हैं कि उनकी बुराई करने के संकल्प से भी जो उनके पास जाता है उसका भी वे भला ही करते हैं, जिस प्रकार चन्दन अपने काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित कर देता है। दुष्टों के कठोर वचन शान्तिपूर्वक सह लेना—

खूँदन कौ धरती सहै बाढ़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै दूजै सहा न जाइ।[4]

केवल अपने पेट भर ही लेना,[5] किसी से घृणा न करना तथा क्षमा एव अहिंसा की मूर्ति होना आदि उनके अन्य गुण है। इन्हीं गुणों के कारण साधुओं की संगति को पूरे नीति काव्य मे बड़ा महत्वपूर्ण कहा गया है। तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे।

मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साधु संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ।[6]

---

१ ब्रज सतसई, पृ० ४३।
२ राजेश दोहा०, ३५।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५०।
४ वही, पृ० ६३।
५ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५८·१०।
६ वही, पृ० ४६।

संत समागम कीजिए तजिए और उपाइ।
सुन्दर बहुते उद्धरे सत संगति में आइ।[1]

दारिद सुरतरु ताप ससि हरै सुरसरी पाप।
साधु समागम तिहु हरे पाप दीनता ताप।[2]

सन्तों के अन्य गुणों में उनका मद, मत्सर, अहंकार, क्रोध, काम, असत्य, निर्दयता, असन्तोष तथा कटुवचन[3] आदि से दूर रहना है। यही कारण है कि—

धोवत है संसार सब गंगा माहें पाप।
सुन्दर सन्तनि के चरण गंगा बंछै आप।[4]

सन्तों में इन गुणों के होने के साथ ही नीति के कवियों ने इस बात का भी अनुभव किया है कि इस प्रकार के यथार्थ साधु बहुत कम होते हैं। इस विषय के छन्द नीति-काव्य में भरे पड़े हैं। गरीबदास कहते हैं—

साधू ढूंढ़न नीकलूं बहु बिध काछूँ काछ।[5]

दीनदयाल गिरि कहते है—

साधु रहैं नहिं सकल थल कविजन कहै बखानि।
बन बन चन्दन होहिं नहिं गिरि गिरि मानिक खानि।[6]

इधर-उधर घूमने वाले साधु वस्त्र, जटा, टीका तथा इस प्रकार के अन्य वाह्याडम्बरों तक ही साधु होते है। यथार्थतः उनमें साधुता नहीं होती। मध्ययुगीन सन्तों ने इस प्रकार के आडम्बरपूर्ण साधु-सन्तों को बहुत फटकारा है। कबीर कहते हैं—

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराधु।
बाहरि दीसै साध गति माँहै महा असाधु।[7]

आजकल के बहुत से महन्त नामधारी साधु सम्पत्तिवान बने बैठे है तथा

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ७४१।
२ दृष्टान्त तरंगिणी, १६१।
३ वही, पृ० ७४४।
४ वही, पृ० ४७५।
५ गरीबदास की बानी, पृ० ८७।
६ दृष्टान्त तरंगिणी, १४०।
७ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४६।

दासियाँ आदि रखते हैं। नीति साहित्य में इन दोनों बातों का घोर विरोध है। कामिनी और कंचन भक्ति के प्रबलतम शत्रु हैं। नरहरि कहते है—

कुलवन्त पुरुष कुल विधि तजै बंधु न मानै बंधु हित।
सन्यास धारि धन संग्रहै ये जग में मूरख विदित।[1]

घाघ ने कहा है—

आलस नीद किसानै नासै चोरै नासै खाँसी।
अँखियाँ लीबर बेसवै नासै बाबे नासै दासी।[2]

मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती में आजकल के महन्तों और साधु-सन्तों पर बड़े सटीक व्यंग किये हैं।[3]

साधु के सम्बन्ध में गिरिधर ने एक बहुत ही सुन्दर कुंडलिया कही है—

बहता पानी निर्मला, पड़ा गध सो होय।
त्यों साधू रमता भला, दाग न लागे कोय॥
दाग न लागे कोय जगत में रहै अलेदा।
राग-द्वेष युग प्रेत न चित को करै बिछेदा॥
कह गिरिधर कविराय शीत उष्णादिक सहता।
होइ न कहुँ आसक्त यथा गंगाजल बहता॥[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नीति-काव्य मे साधु को, धार्मिक दृष्टि से एक पूर्ण मानव के रूप में चित्रित किया गया है। इसके द्वारा नीति के कवियों ने सम्भवतः संसारी व्यक्तियों के अनुकरण के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है।

गुरु—धर्म और शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में गुरु का बहुत बड़ा महत्व है। हर क्षेत्र में जीवन की सफलता-असफलता बहुत अंशों में गुरु पर ही निर्भर है। तुलसी कहते है—

राम नाम कलि काम तरु राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु॥[5]

---

१ कविता कौमुदी भाग, १, पृ० २२७।

२ घाघ, ४१।

३ भारत भारती, पृ० १२८-९।

४ गिरिधर कुं०, १२९।

५ तुलसी दो०, २७। सुन्दर ने भी कहा है—

गुरु बिनु ज्ञान नाहिं, गुरु बिनु ध्यान नाहिं,
गुरु बिनु आत्मा विचार न लहतु है
····भ्रम हू को नाश नाहिं, संशय रहतु है।
—सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ३८८।

इसीलिए गुरु का आश्रय आवश्यक है पर गुरु यों ही नहीं कर लेना चाहिये। लोकोक्ति है—

गुरु कीजै जान कर।
पानी पीजै छान कर॥

आशय यह है कि बहुत ही समझ बूझ कर गुरु करना चाहिए। गुरु का कर्तव्य इतना गुरु है कि सभी लोग उसे नहीं निभा सकते। आज तो कनफुँकुवा गुरु गली-गली घूमते हैं, पर ऐसे गुरुओं को गुरु की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सुन्दरदास ने अपने बहुत से छन्दों में गुरु के लक्षण कहे हैं। यहाँ उदाहरण के लिए एक छन्द देखा जा सकता है—

काहूँ सौं न रोष-तोष काहू सौं न राग दोष,
काहू सौ न बैर भाव काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद काहू सौ नहीं बिषाद,
काहू सौं न सङ्ग न तौ कोउ पक्षपात है।
काहू सौं न दुष्ट बैन काहू सौं न लैन-दैन,
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईशन कौ महाईश,
सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है।[1]

यहाँ प्रधान रूप से धर्म-गुरु के लक्षण दिए गए है।

बहुत से सन्त नीतिकारों ने सच्चे और योग्य गुरु को भगवान से भी बड़ा माना है। सहजोबाई कहती हैं—

राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ।
गुरु के साम हरि कूँ न निहारूँ॥[2]

आगे फिर वे गुरु की महत्ता प्रतिपादित करती हुई कहती हैं—

हरि ने जन्म दियो जग माहीं।
गुरु ने आवागमन छुटाहीं।
हरि ने कर्म-भर्म भरमायो।
गुरु ने आतम रूप लखायौ।

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ३८७।
२ सहजो बा०, पृ० ३।

हरि ने मोसूं आप छिपायौ।
गुरु दीपक दै ताहि दिखायो।[1]

उन्हीं के शब्दों में गुरु चार प्रकार के होते हैं। एक तो दीपक की भाँति होते हैं जो हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करते या उचित पथ हमारे लिए प्रकाशित कर देते हैं। दूसरे मलयागिरि की भाँति होते हैं, अर्थात् बुरों (बुरे पेड़ों) को भी अच्छा (चंदन) कर देते हैं। तीसरे पारस की भाँति अपने सम्पर्क में आने वाले शिष्यों को स्वर्ण में परिवर्तित कर देते हैं और चौथे गुरु भृंग की भाँति होते हैं जो शिष्यों (कीटों) को अपने सा कर लेते हैं। कहना न होगा कि अपने सा योग्य बना लेने वाले गुरु ही सर्वोत्तम हैं।

गुरु को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। आजकल के गुरु प्रायः धन-लोलुप होते हैं। तुलसी के समय में भी गुरुओं की दशा आज जैसी ही थी, इसीलिए उन्होंने इसका विरोध करते हुए लिखा है।

हरइ सिष्यधन सोक न हरई।
सो गुरु घोर नरक महं परई।[2]

इस प्रकार के अयोग्य गुरुओं को स्वयं गुरु न बनना चाहिए और साथ ही शिष्यों को चाहिए कि भली-भाँति समझ-बूझकर किसी का शिष्यत्व स्वीकार करें। अन्यथा करने पर गुरु-शिष्य दोनों ही अधोगति को प्राप्त होते है। कबीर कहते है—

जाका गुरु भी अंधला चेला खरा निरंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़न्त॥[3]

दादू आदि अन्य सन्त कवियों ने भी अनाड़ी और पाखण्डी गुरुओं का बड़ा विरोध किया है।[4]

यदि सच्चा गुरु मिल जाय तो उसकी आज्ञाओं का पालन आँख मूँद कर करने का उपदेश नीति-काव्य में दिया गया है। तुलसी कहते हैं—

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी।
बिनहिं विचारि करिय सुभ जानी।[5]

---

१ सहजो बा०, पृ० ३।
२ मानस सूक्तावली ७३८।
३ कबीर ग्रं०, पृ० २।
४ दादू बा०, पृ० १२।
५ मानस सूक्तावली, ५७५।

शिष्य का यह भी पुनीत कर्तव्य है कि वह अपनी कोई भी बात गुरु से न छिपाए। क्योंकि बिना शिष्य के व्यक्तित्व से पूर्णतः परिचित हुए गुरु उसकी उन्नति में पूर्णरूपेण सहायक नहीं हो सकता। सहजोबाई कहती हैं—

गुरु सूँ कछु न दुराइए गुरु सूँ झूँठ न बोल।
बुरी भली खोटी खरी गुरु आगे सब खोल।[1]

इस प्रकार नीति के कवियों ने योग्य गुरु को बहुत महत्व दिया है जो सर्वथा उचित है।

संसार—मध्ययुगीन तथा कुछ आधुनिक नीति-कवियों के अनुसार संसार और इसके सारे पदार्थ अनित्य तथा असार है। इनमें कोई भी सच्चाई नहीं है। कबीर के शब्दों में—

जो ऊग्या सो आँधवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै जो आया सो जाइ।[2]

तुलसी कहते है कि जिस प्रकार स्वप्न में भिखारी राजा हो जाता है और दीन स्वर्ग का स्वामी, पर जगने पर उसे कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार यह संसार भी स्वप्नवत् अर्थात् निस्सार है—

सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंच जिय जोय।[3]

कबीर कहते हैं—

कबीर यहु जग कुछ नहीं षिन पारा षिन मीठ।[4]

या

यहु ऐसा ससार है, जैसा सैबल फूल। दिन दस के व्यवहार कौ झूठै रागि न भूल॥[5]

संसार की असारता के कारण ही इसकी ओर से विमुख रहने का उपदेश नीतिकारों ने दिया है। तुलसी कहते हैं—

जग ते रहु छत्तीस ह्वै रामचरण छ तीन।[6]

पर आधुनिक युग में इस प्रकार की भावना प्रतिक्रियावादी कही गयी है।

---

१ सहजो बा०, पृ० ६।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७३।
३ तुलसी दो०, २४७।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७३।
५ वही, पृ० २१।
६ तुलसी सत०, पृ० ७७।

श्रीधर पाठक ने भारत की "संसार की असारता" विषयक इस प्राचीन काल से आती हुई विचारधारा का अपनी प्रसिद्ध कविता "जगत सचाई सार" में विरोध किया है—

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब संसार।
थोथा झगड़ा, जी का रगड़ा, केवल दुख का हेतु अपार।
... ...
जगत है सच्चा, तनक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद।
पीओ खाओ सब सुख पावो, कभी न लाओ मन में खेद॥[1]

कहना न होगा कि आज के युग में इसी विचारधारा का आधिक्य है।

संसार के सम्बन्ध में व्यक्त की गई ये दो विरोधी भावनाएँ जीवन के प्रति दो दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं। प्राचीन विचारधारा भारतीयता के निकट है तो आधुनिक यूरोपीय दृष्टिकोण से प्रभावित है। यों दोनों ही विचार भारत एवं यूरोपीय दोनों ही देशों में सभी कालों में खोजे जा सकते हैं पर भारत में प्रथम विचार का प्राधान्य रहा है तो यूरोप में दूसरे का। तथ्य यह है कि दोनों के समन्वय से ही इस दिशा में स्वस्थ पथ मिल सकता है।

शरीर—संसार की भाँति ही शरीर भी नीति के कवियों द्वारा प्रायः असार 'धुँआ का सा धौरहर' तथा अनित्य आदि कहा गया है। रहीम कहते हैं—

रहिमन ठठरी धूरि की रही पवन ते पूरि।
गाँठ युक्ति की खुलि गई अन्त धूरि की धूरि।[2]

सहजो इसके कारण उदास हैं—

यह तन झूठा देख कर सहजो भई उदास।[3]

गरीबदास तोते द्वारा सेमर के फूल को सेने की भाँति जीवधारियों द्वारा शरीर की सेवा को व्यर्थ कहते हैं—

सूआ सेमर सेइआ ऐसे नर या देह।
जम किंकर तुझ ले गया मुख में देकर खेह।[4]

सुन्दरदास इसे बुरा कहते हैं—

सुन्दर देह मलीन अति, बुरी वस्तु को भौन।
हाड़ मांस को कौथरा भली वस्तु कहि कौन।[5]

---

१ जगत सचाई सार, पृ० ३।
२ रहीम दो०, १९७।
३ सहजो बा०, पृ० १८।
४ गरीब बा०, पृ० ३।
५ सुन्दर ग्रन्थ० पृ० ७२०।

तथा इसकी अशुचिताओं की ओर संकेत करते हुए इस पर गर्व करने वाले को फटकारते हैं—

थूक रु लार भर्‌यो मुख दीसत आँखि में गीज रु नाक में सेढ़ो।
औरऊ द्वार मलीन रहै नित हाड़ के मांस के भीतरि बैठो।
ऐसे शरीर में बास कियौ तब एक से दीसत बामन ढेढ़ो।
सुन्दर गर्व कहा इतने पर काहे कौ तू नर चालत टेढ़ो।[1]

शरीर के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार पुराने लोगों के हैं। आधुनिक युग शरीर को अनित्य आदि मानते हुए भी उसकी उचित सेवा एवं उपयोग का उपदेश देता है। श्रीधर पाठक कहते हैं—

मिट्टी ही तन बदन हमारा सो सब ठीक कहानी है।
पर जो उलटा समझ के इसको बनै आप ही ज्ञानी है।
मिट्टी करता है जीवन को और बड़ा अज्ञानी है॥
... ...

आगे उन्होंने ऐसा कहने वाले साधुओं पर व्यंग्य किया है—

समझ के सारे जगत को मिट्टी मिट्टी जो कि रमाता है।
... .
कभी नहीं मूरख ऐसा नर सार सृष्टि का पाता है।[2]

कहना न होगा कि संसार की भाँति शरीर के सम्बन्ध में भी दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय आवश्यक है।

मन—मन ही वह धुरी है जिसके सहारे जीवन की गाड़ी चलती है। हमारी सफलता एवं असफलता का सारा उत्तरदायित्व मन पर ही है। कहा भी गया है—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत—

धार्मिक साधना या व्यावहारिक जीवन दोनों ही दृष्टियों से नीतिकारों ने मन को अपनी मुट्ठी में रखने पर बल दिया है, पर इसे मुट्ठी में रखना सरल नहीं है। इसकी चंचलता प्रसिद्ध है। तुलसी ने इसे पीपल का पत्ता[3] कहा है, जो कभी भी शान्त ही नहीं होता।

---

१ वही, पृ० ४३६।
२ जगत सचाई सार, पृ० १-२।
३ तुलसी सूक्त०, ४३५।

गिरिधर ने मन की चंचलता की ओर लक्ष्य करके कहा है—

जानी रे मन चंचला सब तेरी करतूत ।[१]

तथा

जैसा यह मन भूत है और न दुतिय बताल ।
छिन में चढ़ै अकाश को, छिन में धसै पताल ।।[२]

अपनी इस चंचलता के कारण ही मन भयावह है । सारी इन्द्रियां उसके ही वश में हैं । ऐसी स्थिति में यदि वह वश में नहीं हैं तो इन्द्रियां भी कहना न मान कर पथभ्रष्ट हो जाती हैं । रत्नावली कहती हैं—

पाँच तुरग तनु रथ जुरे चपल कुपथ ले जात ।
रत्नावलि मन सारथिहि रोकि रुकें उत्पात ।।[३]

दुलारे लाल अपनी दोहावली में मन को ही इस जीवन नौका का मल्लाह मानते हैं । आशय यह है कि यदि वह ठीक है, वश में है तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देगा और यदि वश में नहीं है तो चाहे धर्म का क्षेत्र हो या व्यवहार का, अपनी मनमानी करके मँझधार में डुबो देगा ।

जग नद में तेरी परी देह नाव मँझधार ।
मन मल्लाह जो बस करै निहचै उतरे पार ।।[४]

यह मन, अपनी चंचलता और अंकुशहीनता के कारण जितना भयावह है, वश में होने पर उतना ही सहायक भी है, क्योंकि, इसके सहारे हम उचित मार्ग पर चल सकते हैं तथा अनुचित मार्ग से बच सकते हैं । जान ने अपने "सत्तवाना" में इस विषय पर एक बड़ा सुन्दर सोरठा कहा है—

मन सौं मित न कोइ, जो अपने बस होत है ।
कहे माहिं ना होइ, तो ऐसौ अरि और ना ।।[५]

मन को वश में करने का पथ भी नीति-काव्य में बतलाया गया है और वह है पुन्य कार्यों में प्रवृत्त होना, पाप पथ से यथासाध्य बचना तथा भगवान के ध्यान में लीन होना आदि । एक कुंडलिया है—

पीपर को है पात मन, अति चंचल पवमान ।
पै पुन्यन में रुझै जो, यह गति मरे निदान ।।

---

१ गिरिधर कुंड०, ११३ ।
२ वही, ११४ ।
३ रत्नावली दो०, १८५ ।
४ दुलारे दो०, ३९ ।
५ जान सत्तनावा ।

यह गति मरे निदान, पाप को पंथ न गहिए।
राम नाम औ ध्यान अग्नि में मन को दहिए॥
सुद्ध स्वर्ण हो जाय, पतन को देय न अवसर।
और सांत हो जाय, आज जो पातहिं पीपर॥[1]

मन को लेकर नीति-काव्य में एक बड़ा मनोरंजक प्रश्न उठाया गया है। रहीम कहते हैं—

जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल में जो छाया परी काया भीजति नाहिं॥[2]

रहीम का आशय यह है कि शरीर प्रधान है। शरीर यदि अपने कहने में है तो मन कहीं भी जाय आदमी बुरा कर्म नहीं कर सकता। पर दूसरी ओर बीरबल का एक दोहा है—

तन जावे तो जान दे दृढ़ कर मन वर वीर।
रोदे बिना कमान के कैसे लागे तीर॥[3]

ये दोनों बातें एक दूसरे की विरोधी हैं। रहीम तन को प्रधानता देते हैं और बीरबल मन को। तथ्यतः रहीम की बात का कोई अर्थ ही नहीं है। मन के वश में न होने पर शरीर के वश में होने का प्रश्न ही नहीं उठता। शरीर जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व मन पर ही है। मन ही शरीर का संचालक है। ऐसी स्थिति में बीरबल की बात ही ठीक है और मन ही प्रधान है, शरीर नहीं।

माया—हिन्दी नीति-काव्य में माया शब्द का प्रयोग सांसारिक बन्धनों एवं आकर्षणों के लिए हुआ है, जिनके कारण जीव संसार में लिप्त रहता है और लाख कष्ट पाने पर भी उसे छोड़ना नहीं चाहता। तुलसी लिखते हैं—

मैं अरु मोर तोर तें माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥[4]

साथ ही अविद्या, भ्रम, मोह आदि अज्ञानजनित ऐसे अन्य विषय भी जो

---

१ नीति छन्द०।
२ रहीम दोहा०।
३ नीति छन्द०।
४ तुलसी सूक्त०, ५६७।

कह कर लोगों में उसके प्रति आस्था कम कर दी। कृष्ण साहित्य में तो भ्रमरगीत की परम्परा का एक मात्र ध्येय ही है ज्ञान पंथ की हँसी उड़ाना। तुलसी ने भी मानस के उत्तर कांड में ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है। पर यथार्थतः ज्ञान और भक्ति दो विरोधी चीजें न होकर एक दूसरे की पूरक या सहायक हैं। कबीर आदि भक्तों ने किया भी यही है। ज्ञान के बिना विवेक नहीं हो सकता और बिना इसके मनुष्य, भक्त हो या न हो, उचित पथ का अनुसरण नहीं कर सकता।

ज्ञान की प्रशंसा बहुत से सन्तों तथा अन्य नीतिकारों ने भी की है। गिरिधर कहते हैं—

हाइ हाइ तब लग रहै जब लग बाह्यहु दृष्ट।
अन्तर्मुख जब ही भई सब मिटि जाइ अनिष्ट॥
....
कह गिरिधर कवि धाम चारि फिरि आवै धाई।
जीव ब्रह्म इक ज्ञान बिना ना मिटिहै हाई॥[1]

दुलारेलाल भार्गव भी कहते हैं कि बिना ज्ञान के केवल कर्म से मुक्ति नही मिल सकती—

बिना ज्ञान के कर्म कहुँ तारि सकै संसार।
कहा काट करिहौ जु कर धार बिना करवार॥[2]

भार्गव जी मन की चंचलता के लिए भी ज्ञान को आवश्यक मानते हैं।

बिन बिबेक को मन भयो बिन लंगर कौ पोत।
भ्रमत फिरत भव सिंधु में छिन न कहूँ थिर होत॥[3]

तत्वतः ज्ञान धर्म नीति में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसकी अवहेलना कर कोई न तो भक्त बन सकता है और न धर्माचरण ही कर सकता है।

सत्य—धर्म और व्यवहार नीति दोनों ही दृष्टियों से सत्य जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। धर्म की दृष्टि से कहा गया है—

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है ताके हिरदय आप॥

---

१ गिरिधर कुण्ड०, १८८।
२ दुलारे दो०, ७६।
३ वही, १५५।

अर्थात् सत्य साक्षात् भगवान है। तुलसी ने लिखा है कि सत्य के समान दूसरा कोई धर्म ही नहीं है—

धर्म न दूसर सत्य समाना।

उन्होंने इसे सभी पुण्यों का मूल माना है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।[२]

व्यवहार की दृष्टि से सत्य ही साख और विश्वास की जड़ है। जो सत्यवादी नहीं है, उसका कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि वह यदि सत्य भी कहे तो लोग उसे असत्य समझते हैं। जान ने लिखा है—

सदा झूठि ही बोलिहै तिहि आदुर घटि जाइ।
कबहूँ बोलै साँचु बहु तऊ न कोऊ पतियाइ॥[३]

रत्नावली ने भी कहा है कि असत्य पाप तो है ही इससे जगत से साख भी उठ जाती है—

बचन आपनो सत्य करि, रतन न अनिरत भाषि।
अनृत भाषिबो पाप पुनि, उठति लोक सों साषि॥

इस प्रकार झूठ से लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं, पर दूसरी ओर सत्य से लोक-परलोक दोनों बनते हैं या स्वार्थ-परमार्थ दोनों सधते हैं। अर्जुनदास केडिया ने लिखा है—

स्वारथ परमारथ सधै एक क्रिया तें दोय।
निहचै जो नर नियम युत नित्य सत्यव्रत होय॥[४]

सत्य अपने आप में अच्छा तो है ही इसके अतिरिक्त उससे हृदय के अन्य विकार भी दूर हो जाते हैं, या उसके धारण करने से अन्य बुराइयों से भी मनुष्य को अपने को दूर रखना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। असत्यवक्ता तो अपनी बुराइयों को झूठ की आड़ में छिपा भी सकता है, पर सत्यवादी के लिए यह सम्भव नहीं।

गांधी जी की भाँति उसका पूरा जीवन खुली पुस्तक होगा, जिसे सभी देख सकते हैं। अतएव वह निश्चय ही ऐसे कर्मों से दूर रहना चाहेगा, जो संसार की दृष्टि

---

१ तुलसी हितोपदेश, पृ० ४४।
२ वही।
३ जान।
४ रत्नावली दो०, १६९।
५ सरस्वती भाग ३१, खण्ड १।

में अनुचित हैं। सत्य की इसी शक्ति की ओर लक्ष्य करके भार्गव जी ने उसे कल्मषों को जलाने वाली एवं चमकाने वाली आग के बराबर कहा है—

कंचन होत खरो खरो लहै आँच को संग।
सुजनन पै त्यों साँचतें चढत चौगुनो रंग ॥[1]

इन्हीं अच्छाइयों के कारण हिन्दी के नीतिकारों ने सत्य के अनुसरण पर बहुत बल दिया है तथा असत्य की भर्त्सना की है। कबीर ने तो स्वप्न में भी असत्यवादी के संग से बचना चाहा है—

जानि बूझि साँचहि तजै करें झूठ सूँ नेह।
ताकी संगति रामजी सुपिनै ही जिनि देहु ॥[2]

दया—दया को नीतिकार कवियों ने धर्म का मूल या सार माना है। वियोगी हरि लिखते हैं—

दया धर्म जान्यौ तुहीं सब धर्मनु को सार।
नृप शिवि तेरे दान पै बलिहूँ बलि सौ बार ॥[3]

हरिऔध जी ने भी इसी बात को अपने ढंग से कहा है—

यदि मानव तन मध्य है दयालुता का बासु।
तो होगा किस धर्म में उसका नहीं विकास ॥[4]

तुलसी दया को सभी धर्मों से ऊपर मानते हैं—

अघ कि पिसुन तामस कछु आना।
धर्म कि दया सरिस हरि जाना ॥[5]

दीनदयाल गिरि के अनुसार मनुष्य में धर्मोचित अन्य सारी बातें हों पर यदि दया नहीं है तो उसके धर्माचरण की शोभा नहीं—

सजै न बिन अंजन बधू भूषन भरी प्रवीन।
तैसेई सब धरम हैं एक दया करि हीन ॥[6]

दया सज्जनों में होती है, दुष्ट या दुर्जनों में नहीं। वृन्द कहते हैं—

---

१ दुलारे दो०, १९६।
२ कबीर ग्रन्थ, पृ० ५०।
३ वीर सत०, पृ० ४।
४ दिव्य दो०, ७२२।
५ मानस सूक्तावली, ६।
६ दृष्टान्त तरंगिणी, ९४।

दया दुष्ट के चित्त में कबहूँ उपजै नाहिं।
हिंसा छोड़ी सिंह यह क्यौं आवै मन माहि ॥[1]

दया की पूर्णता किसी को दुखी देखकर सहानुभूति के कारण केवल दुखी होने में नहीं है, अपितु यथाशक्ति उसे कष्ट से छुडाने के प्रयास मे है। इसी कारण दयालु व्यक्ति से समाज का कल्याण होता है।

परोपकार—बिना अपने किसी स्वार्थ के दूसरे की भलाई या उपकार का काम परोपकार है। परोपकार का धर्म-नीति एवं समाज-नीति दोनों ही दृष्टियों से उच्च स्थान है। तुलसी इसे धर्म में सर्वोच्च कहते है।[2]

हिन्दी नीति साहित्य के लगभग सभी कवियों ने इस पर कुछ न कुछ लिखा है। कवि किकर इसे संसार का सार कहते हैं—

ग्रन्थनि की मति है बुध सन्त सुजान सिरोमनिहूँ जे कहावै।
त्यों हि दमोदर सार अहै जग में सब ही उपकार बतावैं।
औसि प्रससिये पंकन को जल जाते विहंगम काम चलावैं।
आग लगै वहि सागर मे जेहि को जल काहु के काम न आवै।[3]

नीतिकारों ने उपकार करने तथा उपकारी बनने का उपदेश तो दिया है, पर साथ ही उपकारियों को दो बातों से बचने को भी कहा है। एक तो यह कि उपकार करके अपनी प्रतिष्ठा के लिए चारों ओर उसे कहना नही चाहिए—

परहित करि बरनत न बुध गुपत रपहि दै दान।
पर उपकृति सुमिरत रतन करत न निज गुन गान ॥[4]

दूसरे, उपकार कर के उसके बदले में कुछ इच्छा नही रखनी चाहिए—

रतन करहु उपकार पर, चहहु न प्रति उपकार।
लहहि न बदलो साधु जन बदलो लघु व्यवहार।[5]

इस प्रकार नीतिकारों की दृष्टि में उत्तम परोपकार वही है, जिसके बाद उपकारी उसका ढिंढोरा न पीटे तथा जिसे करते समय उपकारी के मन में प्रत्युपकार या बदले में कुछ पाने आदि की भावना न हो।

---

१ वृन्द सत०, ४६७।
२ परहित सरिस धरम नहिं भाई—तुलसी (तुलसी सूक्ति सुधा, ४२६)।
३ सुधा सरोवर, पृ० ५५।
४ रत्नावली दोहा०, १८२।
५ वही, १७५।

अपकार उपकार का उल्टा है। उपकार जितना ही अच्छा काम है अपकार उतना ही बुरा। इसीलिए नीतिकारों ने अपकार न करने का उपदेश दिया है। अपकार करने वाले का कभी भला नहीं होता।

होय बुराई तै बुरो यह कीनो निरधार।
खाँड़ खनैगो और कौं ताकौं कूप तय्यार॥[1]

इसीलिए एक नीतिकार ने कहा है—

जो तो को काँटा बुए ताहि बोइ तू फूल।
तो को फूल के फूल हैं बाको है तिरसूल।[2]

अहिंसा—अहिंसा शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। इसका अधिक प्रचलित अर्थ है किसी का प्राण न लेना या किसी को शारीरिक कष्ट न देना, पर इसका व्यापक अर्थ है किसी को मन, कर्म या वचन आदि किसी से भी दुखी न करना। गांधी जी ने इसी दूसरे अर्थ में 'अहिंसा' को ग्रहण किया। बौद्ध तथा जैन धर्म मे इस शब्द का प्रयोग प्रायः दोनों ही अर्थों में मिलता है।

प्रथम अर्थ की दृष्टि से अहिंसा धर्म नीति में है तो दूसरे अर्थ की दृष्टि से धर्म एवं व्यवहार नीति दोनों ही में।

अहिंसा को अपने यहाँ परम धर्म कहा गया है।[3] तुलसी ने भी कहा है—

परम धर्म स्रुति विदित अहिंसा।

तुलसी के अतिरिक्त अन्य प्राचीन नीतिकारों ने मांस-भक्षण[4] या वचन द्वारा किसी को कष्ट देने आदि के[5] विरोध में तो लिखा है, पर स्पष्टतः इस शब्द का उल्लेख कहीं नहीं किया है। आधुनिक युग में गांधी जी के कारण अहिंसा शब्द का अपने व्यापकतम अर्थ में प्रयोग होने लगा है। आधुनिक नीतिकारों में महेशचन्द्र प्रसाद तथा महात्मा भगवानदीन आदि ने हिंसा का विरोध करते हुए बहुत सी बातें कही हैं। महेशचन्द्र प्रसाद कहते है कि जिस प्रकार ठण्डा लोहा गर्म को काटता है, उसी प्रकार अहिंसा हिंसा पर विजयी होती है—

---

१ वृन्द सत०, १५०।

२ नीति छन्द०।

३ अहिंसा परमो धर्मः।

४ बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, ताको कौन हवाल॥ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४२।

५ पण्डित भया तो क्या भया, जो नहिं बोल बिचार।
हते पराई आत्मा लिये जीभ तलवार॥ कबीर।

पानी आग बुझावत जान जहान।
अस बिचारि सीतल रहु नित मतिमान।
ठण्डा लोहा गरमहिं काटत जानु।
तत्त्व अहिंसा के तब क्यों नहिं मानु।[१]

कहना न होगा कि यहाँ हिंसा में क्रोध आदि पाशविक वृत्तियाँ विशेष रूप से सम्मिलित हैं। यह बात व्यावहारिकता की दृष्टि से कही गई है।

जीव-हिंसा की दृष्टि से वे आगे लिखते है—

हिंसा तजि हरि भजि भा व्याधहु ब्रह्म।
या विधि तुमहिं बिलम्ब न मेटत जम्ह।[२]

नीतिकारों ने हिंसा के ही कारण युद्ध द्वारा प्राप्त जीत को हार माना है।

हिंसा-प्राप्त विजयहिं पराजय जानु।
छनिक युद्ध इच्छा दुर्भाग्य निधानु॥[3]

महात्मा भगवानदीन ने भी इसी ओर लक्ष्य करके लिखा है :

हिंसा द्वारा न्याय होता है अन्याय युत।[४]

इस सम्बन्ध में नीति-काव्य में कही गई सभी बातों का सार यह है कि अहिंसा मानवोचित नियम है। इसके पालन में ही मानवता है। इसके विरुद्ध जो हिंसा का अनुसरण करता है वह मनुष्य न होकर पशु है।

मानव नियम अहिंसा धर्म निधान।
हिंसा नियम पशुन को पाप प्रधान॥[५]

क्रोध—क्रोध वह उग्रभाव है, जो किसी अनुचित या विरोधी काम करने वाले के प्रति चित्त में उत्पन्न होता है। धर्म एवं व्यवहार दोनों ही नीतियों में क्रोध का विरोध किया गया है। धर्म की दृष्टि से इसे माया और पाप का सेनानी आदि कहा गया है। मनु ने अपने प्रसिद्ध श्लोक में अक्रोध को भी धर्म के दस लक्षणों में स्थान दिया है। गोरख क्रोध न करने को तीर्थ करने के समान मानते हैं—

काम क्रोध अहंकार निवारौ तो सबै दिसंतर कीया।[६]

---

१ **स्वदेश सत०, पृ० ४।**
२ **वही, पृ० ३।**
३ **स्वदेश सत०, पृ० ४।**
४ **भगवान दीन, नीति के दोहे।**
५ **स्वदेश सत०, पृ० ४।**
६ **गोरखबानी, २६।**

कबीर का कहना है कि क्रोध छोड़ने वाले को भगवान मिलता है—

काम क्रोध त्रिष्णां तजै ताहि मिलै भगवान ।[१]

तुलसी ने भक्ति की रीति में क्रोध को जीतना भी रखा है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति ।
तुलसी संतन के मतै इहै भगति की रीति ॥[२]

यथार्थतः मुनि और बड़े वे ही हैं जिन्हें क्रोध नही आता । दीन दयालु ने कहा है—

कोप न करै महान हिय, पार्य खलन तें दूष ।
लौन सीचि कर पीड़िए तऊ मधुर रस ऊख ॥[३]

व्यावहारिकता की दृष्टि से भी क्रोध बहुत बड़ा शत्रु है । इसके कारण मित्र शत्रु हो जाते हैं और बनती हुई बात बिगड़ जाती है । जान कहते हैं—

रिसु के बस ना हूजिए कीजै बात विचार ।
पुनि पछिताए ह्वै कहा जो ह्वै जाइ बिगार ॥[४]

क्रोधित व्यक्ति को शान्त करने के लिए आवश्यक है कि उससे शान्त करने वाली बाते कही जायँ । इसके उलटी बात कहने से क्रोध और बढ़ता जाता है । वृन्द कहते है—

रोस मिटै कैसे कहत रिस उपजावन बात ।
ईंधन डारै आग मँह कैसे आग बुझात ॥[५]

क्रोध के सम्बन्ध में नीति-काव्य मे एक और बात भी कही गई है, और वह है अपने से बहुत छोटे पर क्रोध न करना । रामचरित उपाध्याय लिखते है :

अपने तें जो छुद्र अति तेहि पर करिय न क्रोध ।
सोभा कबहु न देइगो केहरि ससक विरोध ॥[६]

इस प्रकार नीति-काव्य के अनुसार क्रोध धर्म का नाशक तथा व्यवहार में व्यवधान उत्पन्न कर क्रोधी को हानि पहुँचाने वाला है । साथ ही अपने से बराबर के

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० १० ।
२ तुलसी बो०, ८६ ।
३ दृष्टान्त तरंगिणी, ५१ ।
४ जान ग्रन्थावली ।
५ वृन्द सत०, ६३ ।
६ ब्रज सत०, पृ० ४६ ।

लोगों पर यदि कोई क्रोधित हो तो उतना बुरा नहीं जितना कि अपने से छोटे पर क्रोध करना। यह व्यक्ति के लिए विशेष रूप से लज्जाजनक है।

अभिमान—मस्तिष्क का एक विकार जो प्राय. विद्या, बुद्धि, बल, धन, या रूप आदि में अपने को दूसरों से बढ़कर समझने के कारण उत्पन्न होता है अभिमान, मद या गर्व कहलाता है। सभी नीतिकार कवियों ने अभिमान करने का विरोध किया है। अभिमान एक नशा है। जिस प्रकार मादक द्रव्यों से अभिभूत होकर व्यक्ति अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान नहीं रखता और सुधि-बुधि खो बैठता है, ठीक वही दशा अभिमान की अवस्था में भी देखी जाती है। शकर ने ठीक ही कहा है—

मद करि मद्यप सरिस नर मतवारो ह्वै जात।[१]

अभिमान धर्म तथा व्यवहार दोनों ही नीतियों की दृष्टि से निंद्य है। बिना अभिमान से शून्य हुए भक्तों ने भगवान की प्राप्ति सम्भव नहीं मानी है। कबीर ने लिखा है—

आपा मेट्यां हरि मिलै,[२]

रहीम भी कहते है—

रहिमन गली है सांकरी दूजो ना ठहराइ।
आपु अहै तो हरि नही हरि तो आपुन नाहिं॥[३]

अभिमान और स्वाभिमान दो चीजें है। अभिमान जितना ही निंद्य और गर्हित है स्वाभिमान उतना ही स्तुत्य एवं श्लाघ्य। द्विवेदी जी का प्रसिद्ध छन्द है :

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है॥[४]

लोभ—शुक्ल जी के शब्दों में "किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं।" लालच या तृष्णा भी इसके नाम हैं। यह मनोवृत्ति सन्तोष की विरोधी है। जीवन का सबसे बड़ा ध्येय है शान्ति की प्राप्ति। लोभी व्यक्ति इससे वंचित रहता है। एक मिलने पर वह दो पाने के लिए व्यग्र रहता है और दो पाने पर चार के लिए। सुन्दरदास ने लोभ की विशेषताओं पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है। उनके कुछ दोहे यहाँ देखे

---

१ **सदाचार सोपान**, १३५।
२ **कबीर ग्रन्थ०**, पृ० ६५।
३ **रहीम दो०**, १८२।
४ **प्रताप के मुखपृष्ठ का सिद्धान्त वाक्य**।

जा सकते हैं। लोभ की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है, कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की अवस्था ढलती जाती है इसकी मात्रा बढ़ती जाती है। कहा गया है—

ज्यों-ज्यों नर बूढ़ा होता है लोभ अधिक हो जाता है।

सुन्दरदास लिखते हैं—

पल पल छीजै देह यह घटत घटत घटि जाइ।
सुन्दर तृष्णां ना घटै दिन दिन नौ तन थाइ॥[1]

या

बालापन जोबन गयौ वृद्ध भयै सब कोइ।
सुन्दर जीरन ह्वै गयै तृष्णा नव तन होइ॥[2]

तृष्णा जिसके मन में घर करती है, उसे सन्तुष्ट नहीं रहने देती। वह रंक से राजा ही नहीं ईश्वर भी हो जाय तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। सुन्दरदास लोभी की मनोवृत्ति पर कहते हैं—

जब दस बीस पचास सौ सहस लाष पुनि कोरि।
नील पदम संख्या नहीं सुन्दर त्यों-त्यों थोरि॥[3]
बहुरि पृथीपति होन की इंद्र ब्रह्म शिव लोक।
कब दैहैं करतार ये सुन्दर तीनों लोक॥[4]

तृष्णा का वशीभूत मनुष्य क्या नहीं कर सकता? उसे तृष्णा अन्धा बना देती है, और फिर तुच्छ से तुच्छ काम करवाती है। सुन्दर लिखते हैं—

सुन्दर तृष्णा पकरि कै करम करावै कोरि।
पूरी होइ न पापिनी भटकावै चहुं वोरि॥[5]
सुन्दर तृष्णा करत है सबको बाँद गुलाम।
हुकम कहै त्यों ही चलै गनै शीत नहिं घाम॥[6]
मेघ सहै आँधी सहै सहै बहुत तन त्रास।
सुन्दर तृष्णां के लिए करै आपनौ नास॥[7]

---

१ सुन्दर ग्रन्थ, पृ० ७१२।
२ वही, पृ० ७१२।
३ वही, पृ० ७१३।
४ वही, पृ० ७१३।
५ सुन्दर ग्रं०, पृ० ७१३।
६ वही।
७ वही।

लोभी व्यक्ति इतना गिर जाता है, कि उसे मानापमान तक का ध्यान नहीं रहता—

तृष्णा कै बसि होइ कै डोलै घर घर द्वार।
सुन्दर आदर मान बिन होत फिरै नर ष्वार ॥[१]

उसमें लज्जा का तो लेश भी नहीं रह जाता—

तृष्णा पेट पसारियौ तृप्ति न क्यों ही होइ।
सुन्दर कहतै दिन गए लाज सरम नहिं कोइ ॥,[२]

लोभी व्यक्ति अपने लोभ में इतना लीन रहता है कि उससे धर्म तो हो ही नहीं सकता। दीनदयाल लिखते है—

लोभ लगै जग में सुप्रिय धरम न तैसे होय।
महिषी पालत छीर हित तथा न कपिला होय ॥[३]

इसीलिये कबीर ने भगवान की प्राप्ति के लिए इसका त्याग आवश्यक माना है—

काम क्रोध तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान।[४]

लोक-परलोक दोनों को बिगाड़ने वाला होने के कारण ही गिरिधर दास ने इसे सब से बड़ा अवगुण कहा है—

लोभ सरिस अवगुण नहीं तप नहि सत्य समान।[५]

वृन्द ने लोभी की मनोवृत्ति के एक और कौने का परिचय दिया है। साभान्यतः लोग जिस व्यक्ति या वस्तु से किसी इच्छा के पूरी होने की आशा रहती है, उसी के सम्बन्ध में लालच करते है, पर लोभी इतना अन्धा हो जाता है, कि, उसे इसका भी ज्ञान नहीं रह जाता। वृन्द ने उसे चेतावनी दी है—

लालच हू ऐसो भलो जासों पूरे आस।
चाटे हूँ कहुँ ओस के मिटत काहु की प्यास ॥[६]

---

१ सुन्दर ग्रं०, पृ० ७१३।
२ वही।
३ दृष्टान्त, तरंगिणी ४६।
४ कबीर ग्रन्थ० पृ० १०।
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६३।
६ वृन्द सत०, ६५।

लोभ इतना बुरा होते हुए भी मनुष्य के लिए इतना स्वाभाविक है, कि, कम लोग उससे बच पाते है। तुलसी कहते हैं—

ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार।
कैहि कै लोभ विडंबना कीन्हि न यहि संसार ॥[1]

तुलसी ने इच्छा और दम्भ को लोभ का बल कहा है।[2] इच्छा तो स्पष्ट ही लोभ का बल है। इच्छाओं के कारण ही लोभ में वृद्धि होती जाती है, पर, दम्भ से इसे किस प्रकार बल मिलता है, स्पष्ट नहीं है।

लोभ धर्म के अतिरिक्त समाज और व्यवहार नीति की दृष्टि से भी निंद्य है। लोभी का समाज में अनादर होता है। लोभ के कारण उसके व्यक्तित्व में वह शक्ति नहीं रह जाती कि लोभोत्पादक परिस्थिति में वह अपने को संभाल सके। इसी कारण लोग उसका विश्वास नहीं कर पाते या उसे कोई उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य देने में हिचकते हैं।

आशा—मन का यह भाव कि अमुक कार्य हो जायगा या अमुक वस्तु मिल जायगी 'आशा' कहलाती है। हिन्दू धर्म शास्त्र तथा हिन्दी के नीति-काव्य में 'आशा' का बड़ा विरोध किया गया है। गीता मे फल की आशा किए बिना कर्म करने की शिक्षा दी गई है। यह भी आशा का विरोध ही है। इन विरोधों का प्रधान कारण यह है कि आशा ही मूलतः सभी दुखों का मूल है। यदि व्यक्ति आशा न करेगा तो उसे जीवन में कभी निराश न होना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में शोक या दुख से बहुत अंशों में दूर रह शान्ति के साथ वह जीवन व्यतीत कर सकेगा। इसी ओर लक्ष्य करके तुलसीदास ने आशा को अद्‌भुत देवी कहा है। अद्‌भुत इसलिए कि अन्य देवी-देवता की सेवा करने से तो सुख और विमुख होने से दुख मिलता है, पर आशा ऐसी देवी है कि इनकी सेवा करने वाला ही दुखी रहता है और दूसरी ओर इनसे विमुख रहने वाला सुख और शान्ति से रहता है—

तुलसी अद्‌भुत देवता आसा देवी नाम।
सेए सोक समर्पई विमुख भए अभिराम ॥[3]

आशा की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ व्यक्ति इसकी ओर अभिमुख हुआ इसकी शृङ्खला समाप्त ही नही होती। एक आशा पूरी नहीं हुई कि दूसरी

---

१ **तुलसी दो०**, २६१।
२ **वही**, २६६।
३ **तुलसी दो०**, २५८।

पीछे पड़ जाती है। इसीलिए इसे कभी न मरने वाली कहा गया है। कबीर का दोहा है—

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णां नां मुई, यों कहि गया कबीर॥[1]

इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए "तजु आसा सब झूंठ ही" आदि कहते हुए सन्तों ने इससे विमुख रहने का उपदेश दिया है।

पर यह सिद्धान्त मात्र है। यथार्थतः बिना आशा के व्यक्ति रह ही नहीं सकता। इसी के कारण वह अपने कार्यक्षेत्र मे आगे बढता है। विद्यार्थी उत्तीर्ण होने की आशा में पढता है, प्रतियोगी नौकरी पाने की आशा में प्रतियोगिता-परीक्षा में बैठता है, अनुसन्धित्सु नवीन चीज खोज निकालने की आशा में दिन-रात एक करता है और योगी मुक्त होने की आशा में साधना करता है। इस प्रकार क्या बड़े और क्या छोटे सभी स्तर के लोग आशा के प्रकाश में ही अपने पथ को प्रशस्त करते है। नीति कवियों में केवल रहीम ने इस बात का अनुभव किया है, इसी कारण वे आशा का विरोध नहीं करते। वे इसे आवश्यक मानते हैं। आशा होने पर ही व्यक्ति जी-जान से परिश्रम करेगा और तब उसे प्राप्ति होगी, अतः वे केवल इतना कहते हैं कि ऐसी आशा करनी चाहिये जो सम्भव हो। सूखे तालाब से पानी की आशा नहीं करनी चाहिये—

जासों ही कछु पाइए कीजै ताकी आस।
रीते सरवर पर गए कैसे बुझै पियास॥[3]

आशा के विषय में रहीम द्वारा दिया गया दृष्टिकोण ही व्यावहारिक और स्वस्थ है। समझ-बूझकर आशा करने पर व्यक्ति को दुखी या निराश होने की भी कम सम्भावना रहेगी और साथ ही वह बिना आशा के होकर जीवन-पथ पर रुकेगा भी नही।

मोह—अज्ञान या भ्रम के वश में होकर ईश्वर का ध्यान छोड़, शरीर और सांसारिक पदार्थों को ही अपना सर्वस्व समझना मोह कहलाता है। मोह, माया (अथवा अविद्या माया) के अन्तर्गत आता है।

मोह की सबसे बडी विशेषता यह है कि इससे ग्रस्त व्यक्ति या जीव बार-बार धोखा खाकर भी इसी के कारण नहीं चेतता। तुलसी मोह की महिमा को सराहते

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३३।
२ जगजीवन शब्द०, पृ० १३०।
३ रहीम दो०, ६४।

हुए कहते हैं, कि वही सेमर है और वही तोता है, अर्थात् प्रतिवर्ष तोता इस बात का अनुभव करता है कि सेमर के सुन्दर लाल फूल से गूदा नहीं निकलता फिर भी वह मोहवश गूदा पाने की आशा में प्रतिवर्ष बसन्त ऋतु में सेमर के पेड पर बैठ उसके सुन्दर फूल के फूटने की प्रतीक्षा करता है। वे कहते हैं—

सोइ सेंवर तेइ सुवा, सेवत सदा वसंत।
तुलसी महिमा मोह की, सुनत सराहहिं संत॥[1]

हिन्दी के नीतिकारों ने अज्ञान छोड कर मोह से दूर रहने का उपदेश दिया है। जान कहते हैं—

सु ऊपज्यौ मोह तन भारी।
पर्‌यो तू लोभ की जारी।
न तिसना लषी दुखदाई।
अजौं कछु चेत रे भाई।[2]

कबीर तथा दादू आदि सन्त कवियों ने भी मोह से दूर रहने की चेतावनी दी है और इसे असत्य कहा है। साथ ही यह भी कहा गया है कि ईश्वर की ओर अभिमुख होने पर मोह अपने आप दूर हो जाता है और तब जीव इस स्थिति में हो जाता है कि उचित ढंग से सत्यासत्य का निर्णय कर सके। एक दोहा है—

मोह अँधेरो कारने दीखे सत्य-असत्य।
ईश दीप्ति ते दूर हो सत्य होइ तब सत्य।[3]

राग-द्वेष—मनुष्य अपने प्रिय जनों या विषयों के प्रति प्रेम या राग रखता है और अपने अप्रिय के प्रति द्वेष। धर्म नीति में राग और द्वेष दोनों का विरोध है। राग और द्वेष ये दोनों ही दो दिशाओं में मन को ले जाकर उसकी शान्ति भग करते हैं, इसी कारण इनका विरोध किया गया है। प्रायः सभी सन्तों ने तथा अन्य नीतिकारों ने भी इन दोनों का साथ-साथ नाम लिया है और धर्म में प्रवृत्त होने के लिए मन को इन दोनों ही से दूर रहने की शिक्षा दी है। कुछ छन्द देखे जा सकते हैं। तुलसी की अर्द्धाली है—

राग द्वेष इरिषा मद मोहू।
जनि सपनेहुँ इनके बस होहू।[4]

---

१ तुलसी दो०, २५९।
२ चेतन नामा, १५।
३ नीति छन्द०।
४ तुलसी सूक्तावली, ६२२।

एक अज्ञात कवि का दोहा है—

ना काहू सों राग है ना काहू सों द्वेष ।
उसे और क्या चाहिए वह तो है सर्वेश ।।[1]

गिरिधर कविराय ने भी कहा है—

कह गिरिधर कविराय सुखी सो कैसे होवै ।
तृष्णा राग रु द्वेष ईरषा मत्सर बोवै ।[2]

उन्होंने सच्चे साधु के लक्षणों में भी राग-द्वेष-विहीनता को स्थान दिया है ।[3]

काम—'काम' या वासना धर्म की दृष्टि से जीवन की चरमोन्नति में प्रधान रूप से बाधक है, इसीलिए तुलसी ने इसे माया के प्रधान सेनापतियों में स्थान दिया है ।[4] कामेच्छा को दबाने तथा ब्रह्मचर्य-पालन पर सभी धर्म-प्रधान नीतिकारों ने बल दिया है । पूरे सन्त साहित्य में नारी की निंदा और भर्त्सना इसी काम के कारण ही की गई है । कबीर लिखते है—

नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ ।
भगति मुकति निज ग्यान में, पैसि न सकई कोइ ।[5]

काम को तुलसी ने 'नरक का पथ' कहा है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।[6]

कामेच्छा की पूर्ति लोग मन की शान्ति के लिये करते है पर यह वह आग है जो शान्त नहीं होती और जितना ही इसमे घी डाला जाय प्रज्वलित होती जाती है ।

रतनावलि उपभोग सों होत विषय नहि सांत ।
ज्यों-ज्यों हवि होमें अनल, त्यों-त्यों बढ़त नितांत ।[7]

इसलिये लोक-परलोक दोनों में सुखी रहने के लिए यह अत्यावश्यक है कि कामेच्छा को रोककर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाय ।

ब्रह्मचर्य व्रत कठिन पै सब साधन तरु मूल ।
लोक और परलोक के सुख वाके फलफूल ।।[8]

१ **नीति छन्द०** ।
२ **गिरिधर कुण्ड०**, १६८ ।
३ **गिरिधर कुण्ड०**, १२६ ।
४ **तुलसी दो०**, २६३ ।
५ **कबीर ग्रन्थ०**, पृ० ४० ।
६ **तुलसी सूक्तावली**, १२८ ।
७ **रत्नावली दोहा०**, ५६ ।
८ **सदाचार सोपान**, २६ ।

यों तो कामेच्छा मात्र को हिन्दी के नीतिकारों ने बुरा कहा है पर परनारी विषयक कामेच्छा और भी बुरी कही गई है।

नारि-नेह दुख-मूल परनारी औरउ दुखद।[१]

और उससे बचने का उपदेश दिया गया है—

देषि पराई नारि कौ भूलि न तू अभिलाष।
सील फँधा ते ना छुटहि, जतन करहि जौ लाष॥[२]

मांस-भक्षण—मांस-भक्षण का धर्मनीति की दृष्टि से नीतिकारों ने विरोध किया है। इसके प्रमुखतः दो कारण है। प्रथमतः मांस असात्विक भोजन है, अतएव इसे खाने से व्यक्ति की प्रवृत्ति असात्विक हो जाती है, और उसमें धर्मविमुख भावनाओं का विकास होने लगता है। इसी ओर लक्ष्य करके गोरख लिखते है—

अवधू मांस भषंत दया धरम का नास।[३]

दूसरे, मांस-भक्षण करने वाला या तो स्वयं हिंसा में प्रवृत्त होता है या दूसरों को इसमें प्रवृत्त होने को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार उसके द्वारा हिंसा का प्रचार होता है।

मांस-भक्षण के विरोध मे यहाँ कबीर का प्रसिद्ध दोहा देखा जा सकता है—

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है ताको कौन हवाल॥[४]

कुछ लोग धर्म के नाम पर "बलिदान" या "हलाल जबह" की आड़ में प्रसाद स्वरूप मांस खाते हैं। इसका भी नीति-काव्य में विरोध है। तुलसी ऐसे हिन्दुओं की ओर लक्ष्य करके लिखते है—

बलि मिसु देखत देवता करनी समता देव।
मुये मार अविचार रत, स्वारथ साधक एव।[५]

कबीर ने ऐसे मुसलमानों से पूछा है—

जोरी करि जिबहै करैं, कहते है ज हलाल।
जब दफतर देखेगा दई, तब ह्वैगा कौन हवाल॥[६]

---

१ नीति छन्द०।
२ ज्ञान : सत्तनामा।
३ गोरख बानी, १६५।
४ कबीर ग्रन्थ, पृ० ४२।
५ तुलसी सत०, पृ० १२३।
६ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४२।

इस प्रकार नीति-काव्य के अनुसार मांस-भक्षण किसी भी रूप में उचित नहीं है।

मादक द्रव्यों का प्रयोग—मादक द्रव्यों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिये हानिकर होने के साथ-साथ मानसिक विकृति भी उत्पन्न करता है। इसी कारण नीतिकारों ने इसका विरोध किया है। मादक द्रव्यों में प्रधान मद्य, अफीम, तम्बाकू, भाँग तथा गाँजा आदि हैं।

इनमें तम्बाकू और गाँजा पीकर तो पीने वाला होश में रहता है, पर, अफीम, मदिरा या भाँग का पर्याप्त मात्रा में सेवन तो सेवी को पशु बना देता है। वह होश-हवाश खो बैठता है। महेशचन्द्र "मदिरा" को सम्बोधित करते हुए कह सकते हैं—

दु-पदहु चौ-पद बनत न लागत बार।
दया दृष्टि से देखे जो सरकार॥[1]

रामचरित उपाध्याय के शब्दों में मदिरासेवी को अपने हित-अनहित का ज्ञान नहीं रह जाता—

मदिरा मदिराक्षी रमा, मददायिनी समान।
पिये निरेखे संग्रहे हित-अनहित नहिं ज्ञान।[2]

भारतेन्दु ने अपनी एक मुकरी में कहा है :

मुँह जब लागै तब नहिं छूटै।
जाति मान धन सब कुछ लूटै॥
पागल करि मोहि करै खराब।
क्यों सखि साजन नहीं सराब॥[3]

साधु-सन्त लोग प्रायः नशा करते हैं और उसे अपनी साधना का अंग सा मानते हैं। गिरिधर इसका विरोध करते हुए कहते हैं—

पोसत पीवे बारुनी खात अफीम मजून।
गटके गंजा चरस जो सो वैराग्य ते सून॥
सो वैराग्य ते सून अन्यथा हैं अभिसन्धी।
अहो पोह से रहित बुद्धि तिनकी भइ अन्धी।
कह गिरिधर कविराय न दूजे तिनका दीसत।
भंग तमाखू खात बारुनी पियत जो पोसत॥[4]

---

१ स्वदेश सत०, ५०४।
२ ब्रज सत०, पृ० ३८।
३ भारतेन्दु सुधा, पृ० ३२।
४ गिरिधर कुं०, ४०१।

गिरिधर ने अपनी एक अन्य कुण्डलिया में हुक्का पीने वालों की दुर्दशा का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है—

हुक्का से हुरमत गई, नियम धर्म गयो छूट।
दाम खर्च कर लियो तमाखू गई हिये की फूट।
गई हिये की फूट आग को घर-घर डोलै।
जिस घर आग को जाय सोई कुरराती बोलै॥
कह गिरिधर कविराय लगै जब यम को रुक्का।
प्राण जायँगे छूट सहाय होवै नहिं हुक्का॥[1]

मादक-द्रव्यों के प्रयोग का विरोध धर्म और समाज दोनों ही दृष्टियों से उचित है। मादक-द्रव्य-सेवी अपनी शारीरिक एवं मानसिक हानि तो करता ही है, उसके इस कुटेव का दुष्परिणाम कभी-कभी समाज को भी भुगतना पड़ता है। सुध-बुध खोने पर निश्चय ही वह सामाजिक एवं व्यावहारिक मर्यादाओं की अपेक्षित रक्षा या उनके अनुकूल आचरण नहीं कर सकता।

(ख) व्यवहार तथा समाज—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में प्रायः विभिन्न परिस्थितियों मे उसे एक दूसरे के सम्पर्क में आना पडता है। इस प्रकार के सम्पर्क में उसे व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। किस प्रकार के व्यक्ति से कब किस प्रकार मिलें, कैसे बातचीत करें, किसका विश्वास करें और कब करें तथा किसका विश्वास न करें, कब कैसे आचरण करें, कैसे बोलें, किसके प्रति कैसा विचार रखें, क्या कहें, क्या न कहें, व्यक्तियों को कैसे पहिचानें; सज्जन, दुर्जन, मूर्ख, बुद्धिमान, शत्रु, मित्र के क्या लक्षण है तथा इनके साथ कैसा व्यवहार अपेक्षित है; धैर्य, वीरता, श्रम, नम्रता, उद्योग, प्रेम, मेल तथा गुण आदि में क्या अच्छाई है तथा इनका उपयोग क्या है, दोष, चापलूसी, अति, फूट, कायरता, हठ, निन्दा तथा चुगली से क्यों दूर रहना श्रेयस्कर है; धन किस लिए है, कितना व्यय उचित है तथा ऋण क्यों बुरा है, आदि ऐसी ही व्यावहारिक बातें हैं, जिनके उचित ज्ञान के बिना व्यक्ति सफलता के साथ जीवन बिता ही नहीं सकता। हिन्दी काव्य में वर्णित समाज तथा व्यवहार नीति आदि में इसी प्रकार की बातों के सम्बन्ध में विधि-निषेध-मूलक सिद्धान्त दिए गए हैं।

अपने मूल रूप में मनुष्य भी जंगली और पशुओं की भाँति रहा होगा। अपनी बौद्धिकता के कारण उसने धीरे-धीरे समाज तथा उसके नियमों एवं बन्धनों

---

१ गिरिधर कुण्ड०, ४०४।

का विकास किया। इसी प्रकार आवश्यकतानुसार व्यावहारिक एवं सामाजिक नीतियों का भी विकास हुआ है। ये नीतियाँ बीते युगों के अनुभवों पर आश्रित हैं और समय की गति के साथ इनमें युगानुकूल परिवर्तन तथा परिवर्धन हुए हैं।

पीछे धर्म एवं आचार नीति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य में वर्णित धर्म और आचार नीति ऐसी है, जिससे व्यष्टि और समष्टि या व्यक्ति और समाज दोनों ही की सर्वांगीण उन्नति सम्भव है। व्यवहार तथा समाज नीति भी बहुत अंशों में इसी प्रकार की है। इसके भी नियम ऐसे हैं, जिनसे व्यक्ति की अपनी उन्नति हो, पर साथ ही समाज या उसके विभिन्न वर्गादि की उन्नति में भी कोई बाधा न पड़े। परिवार, माता, पिता, भाई, शील, नम्रता, अति, बदला, चुगली, पड़ासी तथा धोखा आदि के विषय में कही गई बातें इसी प्रकार की है। पर इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी बातें भी व्यवहार और समाज नीति के अन्तर्गत कही गई हैं, जिनमें व्यक्ति की वैयक्तिक उन्नति पर समाज की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। गिरिधर कविराय कहते हैं—

जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग।
जो संग राखै ही बने तो करि डार निपंग॥

यहाँ स्पष्टतः कवि समाज के ध्यान से नहीं अपितु व्यक्ति विशेष की रक्षा के लिए यह कह रहा है, चाहे व्यक्ति ने धन-धरती अत्याचार से ही क्यों न ली हो।

धर्म एवं आचारनीति की भाँति ही समाज एवं व्यवहार नीति को भी वैयक्तिक एवं व्यावहारिक, दो वर्गों में रखा जा सकता है। धैर्य, उद्योग, चिन्ता, बीती ताहि बिसार दे, तथा आय-व्यय आदि यदि वैयक्तिक हैं तो नम्रता, विनय, निन्दा तथा फूट आदि व्यावहारिक। सज्जन, दुष्ट, नौकर, जाति, स्थान, भाग्य, तरुणाई तथा सूम आदि सामान्य विषयों के सम्बन्ध में भी कही गई बातें व्यावहारिक के अन्तर्गत ही रखी जा सकती है, क्योंकि इनमें से अधिक ऐसी ही हैं, जिनके जानने से व्यवहार में सहायता मिलती है। यों जैसा कि धर्म और आचारनीति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, यहाँ भी ये दोनों वर्ग कुछ अंशों तक एक दूसरे के अन्तर्गत आते है।

हमारा समाज इतना धर्म-प्रवण है और हमारे धर्म में समाज एवं यथोचित व्यवहार का इतना ध्यान रखा गया है कि धर्म तथा समाज व्यवहार नीति को पूर्णतः अलग करना सम्भव नहीं। पीछे कहा जा चुका है कि ऐसी बहुत सी बातें हैं, जो धर्म के अन्तर्गत होती हुई भी समाज एवं व्यवहार में भी आती हैं। प्रस्तुत अध्याय में उसी बात को उलट कर यों कहा जा सकता है कि समाज एवं व्यवहार नीति के अन्तर्गत आने वाली बहुत सी बातें ऐसी हैं, जो आचार एवं धर्म में भी रखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये यदि सत्य, क्रोध, परोपकार, दया तथा क्षमा आदि धर्म एवं आचार

नीति में होते हुए भी समाज एवं व्यवहार से अलग नहीं हैं, तो शील, विनय तथा निरभिमान आदि व्यवहार एवं समाज नीति में होते हुए भी धर्म से संलग्न हैं।

हिन्दी नीति काव्य में वर्णित समाज एवं व्यवहार नीति का सामान्य परिचय प्राप्त करने के लिये यहाँ परिवार, माता-पिता, पड़ोसी, बदला, चुगली तथा धन आदि कुछ प्रधान विषयों के सम्बन्ध में नीतिकार कवियों द्वारा कही गई बातों को संक्षेप में देखा जा सकता है।

समाज—सामाजिक बन्धनों, उसकी परम्पराओं तथा उसके व्यावहारिक नियमों के अनुकूल आचरण मनुष्य के लिए बहुत ही आवश्यक है। नागरिकता के सिद्धान्तों का विकास इसी भावना के आधार पर हुआ है। यदि ऐसा न हो तो सामान्य पशुओं की भाँति मनुष्य भी एक दूसरे के हितों की अपने हितों के लिए अवहेलना करने लगे और अन्ततोगत्वा न उसके स्वयं के हितों की ही रक्षा सम्भव हो सके और न समाज के ही। प्रसिद्ध लोकोक्ति

यद्यपि सुद्धम्
लोक विरुद्धम्
न करणीयम्
न करणीयम्।

में यही भाव है। यहाँ लोक-विरुद्ध अर्थात् सामाजिक परम्पराओं एवं नियमों के विरुद्ध शुद्ध या उचित काम तक करने का निषेध है। यथार्थतः इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्ध काम न किया जाय, अपितु इसके द्वारा लोक-लीक या समाज के बन्धनों एवं उसकी परम्पराओं के एकान्त महत्व की ओर निर्देश किया गया है।

हिन्दी नीति काव्य में इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक कहा गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

लोक लीक की रक्षा कर हम अपनी रक्षा करते हैं।
लोक विरोधी बातों से डर हम अनुचित से डरते हैं।
लोक वेद से नहीं तनिक कम लोक ध्यान सर्वोपरि जान।
लोक अनुकूल आचरण में ही अपनी चरमोन्नति तू मान।[1]

जाति—जाति-व्यवस्था भारत में बहुत पहले से चली आ रही है। इस दीर्घकाल के अनुभव के फलस्वरूप समवेत रूप से जाति के सम्बन्ध में तथा कुछ विशिष्ट जातियों के स्वभाव आदि के विषय में बहुत से विश्वास समाज के मस्तिष्क

---

१ नीति छन्द०।

में घर कर गए हैं। इनमें से बहुत तो लोकोक्ति भी बन चुके हैं। हिन्दी नीति काव्य में भी इन विश्वासों का प्रतिफलन हुआ है।

सामान्यतः लोगों का विश्वास है कि अपनी जाति के बिना विरुद्ध हुए अपना कुछ नहीं बिगड़ता। हिन्दी नीति काव्य में भी अपनी ही जाति को प्रधान रूप से अपने विनाश का कारण कहा गया है। दीन दयाल गिरि कहते हैं—

तहाँ नहीं कछु भय जहाँ, अपनी जाति न पास।
काठ बिना न कुठार कहुँ तरु को करत बिनास॥[1]

रामचरित उपाध्याय भी कहते है कि बिना अपनी जाति के फूटे या अपने विरुद्ध हुए अपना कुछ नहीं बिगड़ता।

बिनु फूटे निज जाति के हानि लह्यो कब कोय।
लोहा काट्यौ जात तब, लोह छिनी जब होय॥[2]

पर ऐसे नीचों को दुष्ट कहा गया है जो अपनी जाति के साथ विश्वासघात करते हैं। ऐसे लोग स्वयं भी कभी सुखी नहीं रह पाते—

सुखी होहिं नहिं जाति निज लखि खल महा अबोध।
स्वान अपर को देखि कै करैं परस्पर क्रोध॥[3]

यह प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य या कोई अन्य पशु-पक्षी आदि अपने जातीय गुणों या अवगुणों को जल्द नही छोड़ पाते। हिन्दी नीति काव्य में भी इस बात की पुष्टि की गई है। 'नरहरि' इस 'जाति स्वभाव' को कुल स्वभाव की सज्ञा देते हुए कहते हैं—

सरवर नीर न पीवही, स्वाति बूँद की आस।
केहरि कबहुँ न तृन चरै, जो व्रत करै पचास॥
जो व्रत करै पचास विपुल गज्जूह बिदारै।
धन ह्वै गर्व न करै निधन नहिं दीन उचारै॥
नरहरि कुल क स्वभाव मिटै नहिं जब लग जीवै।
वह चातक मरि जाय नीर सरवर नहिं पीवै॥[4]

जातियों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, पर धर्म-कर्म तथा अपने

---

१ दृष्टान्त तरंगिणी, ५६।
२ ब्रज सत०, ११३।
३ दृष्टान्त तरंगिणी, १००।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२८।

उपयुक्त कर्तव्य आदि की दृष्टि से आज वह सबसे पतित जाति हो गई है। पीछे[1] इस विषय मे प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है। दामोदर सहाय सिंह अपने सुधा सरोवर में लिखते है—

कलि कौतुक द्विज कुल कुपूत की सुनौ कहानी।
अब केवल उपवीत आइकै रही निसानी॥
गयो सुद्ध व्यवहार रह्यौ पाखंड विडंबन।
सध्या बन्दन गयौ रह्यौ एक खडन मंडन॥
अति सोक मिश्र श्रीकांत कर लखि द्विज मधु छकिबो करै।
अरु बैठि बरासन बादिहीं बर पुरान बकिबो करै॥[2]

अवनति की अवस्था के चित्रण के साथ-साथ ब्राह्मण के उचित कर्तव्य का भी नीति साहित्य में निर्देश है, जिसमे विद्या पढना-पढ़ाना, दान लेना-देना, यज्ञ करना-कराना एवं अन्य शुद्धाचरण आदि है।[3] यदि ब्राह्मण अपने क्रिया कर्म से शून्य है तो वह व्यर्थ है—

न कुछ क्रिया बिन बिप्र न कुछ कायर जिय छत्री।[4]

बैताल ने—

बाभन सो मरि जाय हाथ ले मदिरा प्यावै।[5]

कह कर मदिरा सेवन ब्राह्मण के लिए बहुत निंद्य कहा है।

तथा

विप्र सून बिन बेद॥[6]

कह कर ब्राह्मण के लिए वेदपाठी होना आवश्यक माना है।

पर, यह ब्राह्मणों के प्रति पुरानी परम्परा के लोगों का दृष्टिकोण है। कबीर ने वेद पढ़कर बाद-विवाद करना तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों में लीन होना आदि भी व्यर्थ कहा है—

ब्राह्मण गुरू जगत का साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या चारिउ वेदा माहिं॥[7]

१ 'नीति साहित्य पर युग प्रभाव' शीर्षक के अन्तर्गत।
२ सुधा सरोवर, पृ० ५७।
३ सदाचार सोपान, पृ० १०; सामान्य नीति काव्य, ६।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२८।
५ वही, पृ० ३६६।
६ वही पृ० ४०१।
७ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३६।

यह दृष्टिकोण सभी सन्त कवियों में मिलता है। ब्राह्मण जाति शास्त्रार्थ प्रेमी रही है, अतः उसका "चुप्पा" होना उचित नहीं कहा गया है। घाघ कहते है—

पडित चुपचुप बेस्वा मइल।
कहें घाघ पाँचों घर गइल ॥[1]

कहावत मे ब्राह्मणों के सम्बन्ध में और भी बातें मिलती है। जैसे उन्हें स्वादिष्ट भोजन बनाना नही आता,[2] ये एक दूसरे को देख कर जलते है[3], तथा पोंगे होते है[4]। पर, हिन्दी नीति काव्य में ये विचार नहीं मिलते।

क्षत्रिय के विषय में नीति काव्य मे उसके कर्त्तव्य का निर्देश ही प्रधान रूप से किया गया है। इस दृष्टि से वियोगी हरि की 'वीर सतसई" हरिदीन त्रिपाठी का "सामान्य नीति काव्य" तथा दयाशंकर मिश्र 'शंकर' का "सदाचार-सोपान" पुस्तके विशेष रूप से द्रष्टव्य है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

क्षत्री ताको जानिए जो सहि युद्ध कलेश।
करै प्रजा की पालना रक्षित राखै देश ॥
रक्षित राखै देश शस्त्रधारी बलवाना।
वेद पढ़ै मख करै देह ब्राह्मण को दाना ॥
दीन कहै जो लोभ विवश ह्वै बनै न खत्री।
संकट से द्विज धेनु बचावै सोई क्षत्री ॥[5]

कायरतारहित और वीरतापूर्ण हीना क्षत्रिय के लिये आवश्यक माना गया है। नरहरि कहते है—

न कछु क्रिया बिन विप्र न कछु कायर जिय छत्री।[6]

वियोगी हरि भी कहते है :

क्षत्रिय क्षत्रिय कहे तै क्षत्रिय होय न कोय।
सीसु चढ़ावै खंग पर क्षत्रिय सोई होय ॥[7]

---

१ घाघ, पृ० २८।
२ बाम्हन का बनाया कि बाम्हन खाय कि बैल खाय।
३ बाम्हन कूकर कौआ। जाति जाति के खौआ ॥
४ बाम्हन साठ बरस तक पौंगा।
५ सामान्य नीति काव्य, १०।
६ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२८।
७ वीर सत०, पृ० १२।

कायस्थों के विषय में लोगों का विश्वास है कि ये अपना काम निकालने में बहुत चतुर होते हैं। घाघ कहते हैं कि ये मुर्दे से भी रस लेते हैं—

अम्बा नीबू बानियाँ गर दाबे रस देंय।
कायथ कौआ करहटा मुर्दाहू सों लेंय ॥[1]

इनके सम्बन्ध में तो लोकोक्तियों में और भी बहुत सी बाते मिलती हैं, पर नीति काव्य में उन्हे स्थान नहीं मिला है।

वैश्यों का प्रधान कार्य व्यापार रहा है अतः स्वभावतः धन से विशेष प्रेम, कंजूसी और दूसरों को ठग कर पैसा बनाने की भावनाएँ समाज के मस्तिष्क में इस जाति के साथ सम्बद्ध हो गई है। नीति काव्य में भी इन बातों का दर्शन हो जाता है। ऊपर के उद्धरण में घाघ ने कहा है कि नीबू, आम और वैश्य बिना गला दबाए कुछ नहीं देते।

धन उन्हीं के पास रहता है, जो कंजूसी के साथ उसे बचा कर रखते है। इसीलिए बनिए का शाह खर्च होना जाति-गुण के विपरीत होने के कारण बुरा कहा गया है। घाघ कहते है—

बनिये का सखरज ठकुर क हीन।
बइद क पूत व्याधि नहिं चीन ॥
पंडित चुप चुप बेसवा मइल।
कहे घाव पाँचों घर गइल ॥[2]

बनिया जाति सामान्य रूप से ठगने के लिए बदनाम है। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है :

बनिया अपने बाप को ठगत न लावै बार।
निसि बासर जननी ठगै जहाँ लेत अवतार ॥
जहाँ लेत अवतार मास दस उदर में राखै।
गुरु से करे विवाद आप पंडित ह्वै भाखै ॥
कह गिरिधर कविराय ब्यचे हरदी औ धनियां।
मित्र जानि ठगि लेहि जहाँ लग भक्ता बनिया ॥[3]

इसीलिए नीति काव्य में बनिये का विश्वास न करने की भी सीख दी गई है—

---

१ घाघ, पृ० २८।
२ घाघ, पृ० ३८।
३ गिरिधर कुं०, १८।

बैरी बंधुवा बानियाँ ज्वारी चोर लबार ।
बटमारी, रोगी ऋणी नगर नारि को यार ॥
नगर नारि को यार भूलि परतीत न कीजै ॥[1]

सदाचार सोपान तथा सामान्य नीति काव्य में वैश्यों के उचित पथ का निर्देश किया गया है—

सो है वैश्य सुजान जो करै कृषी व्यापार ।
और करै पशु पालना धन को देइ उधार ॥
धन को देइ उधार ब्याजहूँ थोड़ो लेवै ।
वेद पढै मख करै दान ब्राह्मण को देवै ।
दीन कहैं धन धर्म-कर्म में त्यागत जो है ।
मन्दिर कूप तड़ाग बाटिका जाके सोहै ॥[2]

हिन्दी लोकोक्तियों में बनियों के विषय में और भी बहुत बातें कही गई हैं जैसे वे कायर[3] या दिल के छोटे[4] आदि होते है ।

अहीर अपनी सिधाई के कारण उजड्ड तथा अपने हिताहित को न समझने के कारण मैत्री के लिए अनुपयुक्त समझे जाते है । लोकोक्तियाँ है—

अहीर डपोर भुजावै माठा ।

या

अहिरो के छांटल बहुरी ।

या

अहिर मिताई तब करै जब सकल मीत मरि जायँ ।

हिन्दी नीति काव्य में भी इनके मैत्री के अनुपयुक्त होने की बात मिलती है :

अहिर मिताई बादर छाईं ।
होवै होवे नाहीं नाई ।[5]

अर्थात् अहिर की मैत्री का विश्वास नही ।

शूद्रों के विषय में केवल उनके सेवा धर्म का वर्णन ही नीति काव्य में

---

१ गिरिधर कुंड० पृ० १७ ।
२ सामान्य नीति काव्य, पृ० ११ ।
३ 'बनिक पुत्र जाने कहा गढ़ लेबे की घात ।' इस लोकोक्ति का वृन्द ने प्रयोग किया है ।
४ बनियां क जीव धनिया ।
५ घाघ, पृ० ५१ ।

मिलता है। उनके अन्य किसी गुणावगुण का उल्लेख नहीं मिलता। एक कुण्डलिया है—

सोई शूद्र सुजान है जो तजि के अभिमान।
करि प्रणाम द्विज वृन्द को सदा करै सन्मान।
सदा करै सन्मान वर्ण तीनों को सेबै।
सुख से भोजन वस्त्र आदि तिनहीं सो लेबै।
दीन कहै ये वेद वाक्य सुन चिढ़ै न कोई।
जो मानै यह बचन शूद्र साँचो है सोई॥[1]

जातियों के विषय में ऊपर नीति साहित्य में वर्णित जिन बातों का उल्लेख है उनमें जाति के विषय में हमारे समाज के सामान्य दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब मात्र है। सिद्धान्त रूप में इन्हे पूर्ण रूप से आज स्वीकार्य नहीं माना जा सकता।[2]

परिवार—मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के पूर्व कुछ अपवादों को छोड़कर कौटुम्बिक प्राणी है, अतः उसे सर्वप्रथम कुल के लोगों के साथ व्यवहार रखना पड़ता है। इस कौलिक व्यवहार का जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। यदि व्यक्ति कुल-व्यवहार मे कुशल हुआ तब तो उसका जीवन सुखी रहता है साथ ही उसकी प्रतिष्ठा भी बनी रहती है, पर यदि दूसरी ओर इसमें वह अकुशल है तो पारिवारिक कलह बढ़ता है और फल यह होता है कि पूरे परिवार का जीवन अशान्ति एवं दुःख का घर बन जाता है और कुल की प्रतिष्ठा भी नष्ट हो जाती है।

प्रत्येक परिवार की अपनी परम्परा और मर्यादा होती है। परिवार में रहने वाले व्यक्ति इनके अनुकूल चलते है। चाहे इससे थोड़ी हानि ही क्यों न हो। वृन्द ने कहा है—

कुल मारग छोड़े न कोउ होहु कितै की हानि।
गज इक मारत दूसरो चढत महावत आनि॥[3]

पारिवारिक वातावरण का प्रभाव उसमें रहने वाले व्यक्तियों पर भी पड़ता है और कुल की विशिष्ट बातें उसके स्वभाव से नही जाती। वृन्द ने अपने एक अन्य दोहे में इसी ओर संकेत किया है—

कुल बल जैसो होय सो तैसी करिहै बात।
बनिक पुत्र जाने कहा गढ़ लैवे की घात॥[4]

---

१ **सामान्य नीति काव्य, पृ० १२।**

२ **पीछे 'हिन्दी नीति' साहित्य पर युग-प्रभाव शीर्षक अध्याय में जातियों के विषय में आधुनिक नीति काव्य के विचार दिये गये हैं।**

३ **वृन्द सत०, पृ० ६६।**

४ **वही, पृ० ६५।**

कुल-गोत्र का निरादर करना अनुचित कहा गया है। जान का एक दोहा है—

करै निरादर गोत को नाहिन लज्जा गात।
निहचै वा कुल को नही है कछु औरे बात।[1]

माता-पिता—कुल में सबसे प्रथम स्थान माता-पिता का है। अपने शास्त्रों में माता-पिता को ईश्वर और गुरू का स्थान दिया गया है और उनकी आज्ञा सर्वोपरि बतलाई गई है। पाँचो पाण्डवों ने माता की आज्ञा से शास्त्र के विरुद्ध एक स्त्री—द्रोपदी- का वरण किया था। जान के अनुसार माता-पिता की इच्छा के अनुकुल कार्य करने वाला पुत्र भगवान् की कृपा का पात्र होता है।

मातु पिता मन पोषिहै बहुत करै मनुहार।
तापर निहचै होत है दयावन्त करतार॥[2]

माता-पिता में भी माता का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। माता अपने को बलिदान करके सन्तान का निर्माण करती है, इसी कारण कहा जाता है कि मनुष्य ससार में सब के ऋण से उऋण हो सकता है, पर माता से नही। रत्नावली ने कहा है—

रतन जनक धन ऋन उऋन बहु जग जनगन होइ।
पै जननी ऋण सों उऋन न होइ बिरल जन कोइ॥[3]

पुत्र—पुत्र परिवार का दीपक कहा गया है। वही उसका भावी कर्ता-धर्ता है। यदि वह अयोग्य निकला तो पारिवारिक सुख-शान्ति एव प्रतिष्ठा आदि की इतिश्री हो जाती है। इसीलिए कपूत की निन्दा की गई है। रत्नावली ने लिखा है—

रतन बांझ रहिबो भलो पै न सौउ कपूत।
बांझ रहै तिय एक दुख पाइ कपूत अकूत॥[4]

सचमुच ही कपूत माँ तथा परिवार के लिए शाश्वत दुख का कारण बन जाता है।

रामचरित उपाध्याय ने भी कहा है—

उपजे कहा कपूत के बरुक नास निज होय।
धूम बनत वारिद बरसि नासत अनल भिजोय॥[5]

---

१ जान।
२ वही।
३ रत्ना० दोहा०, १८६।
४ वही, पृ० १८५।
५ ब्रज सत०, पृ० ४०।

आगे भी—

कै बांझिन रहि जाय तिय जनमि मरै बरु सोय।
बिनु नारी रहिए बरुक पै कपूत जनि होय॥[1]

दूसरी ओर सपूत की नीतिकारों ने बड़ी प्रशंसा की है। रत्नावली ने तो यहाँ तक लिखा है कि घर में एक भी सपूत के पैदा होने से सारी स्त्रियाँ पुत्र वाली हो जाती हैं—

कुल के एक सपूत सों सकल सपूती नारि।
रतन एक ही चन्द जिमि करत जगत उजियार॥[2]

पुत्र को विनयी तथा आज्ञाकारी होना चाहिए। रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

तन अरोग विनयी तनय सुजन संग रिन हीन।
सुतिय, वृत्ति थिर जासु जग सो सपनेहु दुखी न॥[3]

पुत्र के प्रति पिता के व्यवहार की दृष्टि से यों तो छोटी-मोटी बहुत सी बातें कही गई है पर जो बात जरा विचित्र है वह यह है कि नीतिकारों के अनुसार पिता को अपने पुत्र से विद्या तथा बल आदि में हार कर जीते हुए व्यक्ति की भाँति सन्तोष की साँस लेनी चाहिए एवं प्रसन्न होना चाहिए।[4] सामान्यतः यदि कोई व्यक्ति अपने से बढता है तो जलन होती है, पर यहाँ उस प्रकार की भावना नहीं होनी चाहिए। पर, यह योग्य पिता के भाव है। पुत्र की दृष्टि से योग्य पिता के लक्षण है—

सुत के सुख कहँ सुख गनै मुदित लखै मुख होय।
मानै प्रान समान प्रिय पिता प्रशंसित सोय।[5]

पिता और पुत्र दोनों ही को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दोनों मे कभी अनबन न हो। ऐसा होने से और तो हानियाँ होती ही है, सबसे बड़ी हानि

---

१ ब्रज सत०, पृ० ४५।

२ रत्ना० दो०, १८६। रामचरित उपाध्याय ने लिखा है कि सपूत एक ही अच्छा है पर कपूत सौ भी नहीं।

बरु सपूत एकै भलो सौ कपूत भल नाहिं।
कौरव पाण्डव की अजौं जस अपजस जग माहिं। ब्रज सत० पृ० ५६।

३ ब्रज सत०, पृ० ३९।

४ पिता पुत्र से हारि, जीत मान ले आपनी। नीति छन्द०।

५ सदाचार सोपान, पृ० ७५।

यह होती है कि परिवार की मर्यादा चली जाती है। गिरिधर कविराय की एक प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

साई बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरणाकश्यप कंस को गयउ दुहुन को राज॥
गयउ दुहुन को राज बाट बेटा में बिगरी।
दुश्मन दावागीर हँसै बहु मण्डल नगरी॥
कह गिरिधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई॥[1]

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि बाप-बेटे में विरोध होता है और बेटा ससुराल चला जाता है। गिरिधर ने इसकी भी बड़े कड़े शब्दों में खिल्ली उड़ाई है—

साईं ऐसे पुत्र से बाँझ रहे बरु नारि।
बिगरी बेटे बाप से जाय रहे ससुरारि॥
जाय रहे ससुरारि नारि के नाम बिकाने।
कुल के धर्म नसाय और परिवार नसाने।
कह गिरिधर कविराय मातु झंखै वहि ठाईं।
असि पुत्र नहिं होय बाँझ रहतिउँ बरु साईं॥[2]

गिरिधर ने पुत्र के व्यवहार, अधिकार और कर्तव्य आदि को लेकर एक और भी बड़ी सुन्दर कुंडलिया लिखी है—

गया पिंड जो देइ पितर को अपने तारै।
करज बाप कर देइ लटै परिवार संभारै॥
हरी भूमि गहि लेइ द्रवन शिर खंग बजावै।
पर उपकारज करै पुरुष में शोभा पावै।
सोई वंश सराहिये तल बेरी सब दलमलै।
इतनो काम जो ना करै तो पुत्र खेह कन्या भलै॥[3]

इस प्रकार नीति साहित्य के अनुसार योग्य पुत्र को माता-पिता का आज्ञा पालक, कुल की मर्यादा तथा परम्परा के अनुसार आचरण करने वाला, पिता से सभी बातों में अधिक योग्य तथा कुल की उन्नति कराने वाला होना चाहिए।

भाई—कहा जाता है भाई जैसा मित्र और भाई जैसा शत्रु संसार में कोई

---

१ गिरिधर कुण्ड०, ४।
२ वही, ७।
३ वही, ३०।

नहीं है। बात भी ठीक है। एक ओर लक्ष्मण और भरत का उदाहरण है तो दूसरी ओर रावण और बालि का। नीति का एक छन्द है—

भाई सों नहिं मीत जो अपने अनुकूल हो।
भाई सों नहिं तीत, जो प्रतिकूल चलन लगे ॥[1]

शङ्कर ने योग्य भाई के लिए लिखा है—

विमल हियो जाको खरो प्यार भरो भरपूर।
है हित सितता से बलित भाई कलित कपूर ॥[2]

इस प्रकार के भाई जैसा अपना सहायक संसार में कोई दूसरा नहीं हो सकता—

समय सहायक प्रेममय ऐसो है कोउ नाहिं।
भायप भावन ते भरित जस भाई भुवि मांहि ॥[3]

इन्हीं बातों के कारण कहा गया है कि अपने भाई के साथ कभी ऐसा व्यवहार उचित नहीं है, जिससे वह रुष्ट हो जाय। उसका रुष्ट हो जाना पारिवारिक सुख-शान्ति में बाधक होने के साथ-साथ अपने लिए भी हर दृष्टि से अनिष्टकर है। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

साईं अपने भ्रात को कबहुँ न दीजै त्रास।
पलक दूर नहिं कीजिए सदा राखिये पास ॥
सदा राखिए पास त्रास कबहूँ ना दीजै।
त्रास दिया लकेश ताहि की गति सुनि लीजै।
कह गिरिधर कविराय राम सों मिलि गो भाई।
पाय विभीषण राज्य लंकपति बाज्यो साईं ॥[4]

पर ये सारी बातें बुद्धिमान और योग्य भाई के लिए है। यदि वह अयोग्य तथा मूर्ख है तो उससे दूर रहना चाहिए। बीरबल ने इसीलिए कुबुद्धि बन्धु को बाँध कर समुद्र में डालने का उपदेश दिया है।[5]

पड़ोसी—परिवार की परिधि से निकलने पर पडोसी ही व्यक्ति के सब से समीप की इकाई है। व्यक्ति को पग-पग पर पड़ोसी के सम्पर्क में आना पड़ता है। भाई

---

१ **नीति छन्द०**।
२ **सदाचार सोपान**, पृ० ८०।
३ **वही**, पृ० ७९।
४ **गिरिधर कुण्ड०**, पृ० ७१।
५ **कविता कौमुदी**, भाग १, पृ० २४०।

की भाँति ही समीप होने के कारण वह भी दुःख-सुख का साथी है।[1] ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने पड़ोसी के दुख-सुख का सर्वदा ही ध्यान रखना चाहिए। साथ ही न तो स्वयं उससे कभी रूठना चाहिए और न उसे ही रूठने का अवसर देना चाहिये। कबीर कहते हैं—

पडोसी सू रूसणां तिल तिल सुख की हाणि।[2]

पर, पड़ोसी में और अपने में अनबन न होना तभी सम्भव है जब अपने भले होने के साथ-साथ पडोसी भी भला हो। यदि वह बुरा होगा तो लाख प्रयत्न करने पर भी उससे निभना असम्भव है। इसी कारण बुरे पडोस में बसने का नीति काव्य में विरोध किया गया है। बीरबल ने बुरे या लड़ाके पड़ोसी की कपूत, कुलक्षणी स्त्री तथा कुबुद्धि बन्धु आदि के साथ गणना की है तथा उसे समुद्र में फेंकने को कहा है। आशय यह है कि बुरे पड़ोस में कभी नहीं रहना चाहिए। बीरबल का छन्दांश है :

पूत कपूत कुलच्छनि नारि लराक परोस लजाय न सारो।
....
ब्रह्म भनै सुन साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र में डारो॥[3]

शत्रु—संसार में अन्य बहुत सी स्वाभाविक बातों की भाँति शत्रुता का होना भी स्वाभाविक है। अजातशत्रु नामधारी युधिष्ठिर भी शत्रुविहीन नहीं रह सके थे। रामचरित उपाध्याय ने लिखा है :

नहिं कोऊ ऐसो कहूं जाको रिपु जग नाहिं।
मीन कहा कैहिको दुखद हनै जाहि जल मांहि॥[4]

पर इस स्वाभाविक बात को भी यथासाध्य बचाना चाहिए, क्योंकि शत्रुता से हानि ही होती है।

यों तो शत्रुता किसी से भी उचित नही है पर नीति काव्य में कुछ प्रमुख लोगों की सूची दी गई है। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है :

साई बैर न कीजिए गुरु पंडित कवि यार।
बेटा बनिता पंवरिया यज्ञ करावन हार॥
यज्ञ करावनहार राजमन्त्री जो होई।
विप्र परोसी वैद्य आपको तपै रसोई॥

---

१ वृन्द लिखते हैं : विपत परै सुख पाइए जो ढिग करिए भौन।
नैन सहाई बधिर के अंध सहाई श्रौन॥ वृन्द सत० २४७

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३७।

३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २४०।

४ ब्रज सत०।

अर्थात् मूर्ख ही साँप, शत्रु और आग को समाप्त कर संपोले, अंगार और शत्रु के बच्चे को छोड़ देते हैं।

शत्रु को समाप्त करने के लिए उसे धोखा देना भी उचित कहा गया है। यह बात धर्म-नीति के तो विरुद्ध है पर व्यवहार तथा लोकनीति में यह मान्य है। महाभारत के जानकारों से कहने की आवश्यकता नहीं कि कृष्ण ने धोखे से ही जयद्रथ और द्रोणाचार्य का बध कराया था। यह धोखा कई प्रकार से दिया जा सकता है। रामचरित उपाध्याय ने लिखा है कि जिस प्रकार बहेलिया मधुर स्वर से धोखा देकर मृग को मारता है, उसी प्रकार शत्रु को भी मारने के लिए उसकी प्रशंसा आदि करके उसे चंगुल में लाना चाहिए---

जब लौं परै न हाथ रिपु करिये तासु बखान।
मृग बाँधन हित व्याध ज्यों करत प्रपंची गान॥[1]

शत्रु के धोखे से बचने के लिए नीतिकारों ने दो गुर दिये हैं। एक तो यह कि शत्रु पर कभी भी दया न करे।

रिपु पर दया परम कदराई।[2]

हो सकता है कि उसकी दया-याचना छलमात्र हो। और दूसरे यह कि उस पर विश्वास कभी न करे। बाँकीदास ने कहा है कि बैरी का विश्वास करना मृत्यु को बुलाना है।

बैरी रो बेसास कीधौ मन छोड़े कपट।
बसिया नैड़ा वास अवस हुआ बेसास वे॥[3]

शत्रु को दबाने या परास्त करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार नीतियाँ कही गई हैं। आगे राजनीति पर विचार करते समय इन पर प्रकाश डाला गया है।

शत्रु से यथासाध्य दूर रहना उचित है। बाँकीदास ने कंटक, नाग, विष आदि अन्य बहुतों के साथ शत्रु से भी दूर रहने की सलाह दी है।

बैरी कंटक नाग विष बीछू कैंवच बाघ।
यां सू दूर रहंतड़ां दूर रहै दुख दाघ॥[4]

समीप में या सम्पर्क में रहने पर कभी-कभी धोखा हो सकता है। दूर रहने

१ ब्रज सत०, पृ० ३७।
२ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३९२।
३ बाँकीदास ग्रन्थ० १, पृ० ६३।
४ वही, पृ० ६४।

का प्रधान ध्येय शत्रु से बचने का है। शत्रु से बचने में ही अपनी बड़ाई है। उससे धोखा खाना या उसके हाथ से मारा जाना अपनी मूर्खता का द्योतक है—

बैरी आगे बाँकला बचियाँ तणा बखांण।
देश निकंटक कर दिये असमझ मर आरांण॥[1]

उपर्युक्त बातें मनुष्य को मनुष्य का शत्रु मानकर कही गई है। सन्त कवियों ने काम, क्रोध, लोभ आदि को बहुत प्रबल शत्रु कहा है और अन्य शत्रुओं की भाँति इन्हें भी येनकेनप्रकारेण समाप्त करने का उपदेश दिया है।[2]

मित्र—मित्र व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा सहारा है। पग-पग पर उससे सहायता मिलती है। अच्छे मित्र के लक्षण बहुत से कवियों ने अनेक प्रकार से दिये हैं। तुलसी की प्रसिद्ध चौपाइयाँ हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र के दुख रज मेरु समाना।
जिनके अस मति सहज न आई। ते सठ हठ कत करत मिताई।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनहिं दुरावा।
देत लेत मन संक न धरहीं। बल अनुमान सदा हित करहीं।
विपति काल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह सन्त मित्र गुण एहा।[3]

जान कवि कहते हैं—

छिद्र छिपावै गुन कहै सदा रहै इक रग।
निकट अनत नित एक सम गहिये ताको संग॥

गिरिधर लिखते हैं—

यारी ता सग कीजिए गहे हाथ सों साथ।
दुख सुख सम्पति विपति में छिन भर तजै न साथ॥
छिन भर तजै न साथ महत दृष्टान्त बखानो।
ज्यों आकाश संग पोल और इक सुनो बखानो।
कह गिरिधर कविराय निमक में ज्यों रस खारी।
या प्रकार जो व्यापक ता संग लइये यारी॥[4]

---

१ बाँकीदास ग्रन्थ०, १, पृ० ६४।
२ दे० धर्म तथा आचार नीति के विभिन्न शीर्षक।
३ तुलसी हितोपदेश, पृ० ६२।
४ जान।
५ गिरिधर कुण्ड०, पृ० १५४।

शंकर ने कहा है—

अवगुन गनहिं नेवारि के गुनहिं गहावै जौन ।
हितकारी उपकार रत मीत सरिस है कौन ।।[१]

इनमें मित्र के प्रधान गुण दुख में काम आना, उचित रास्ते पर ले जाना, गुणों को प्रकाश में लाना तथा अवगुणों को छिपाना आदि हैं ।

संसार में प्रायः देखा जाता है कि सुख में बहुत से मित्र हो जाते है पर दुख में किसी का पता नहीं चलता । रत्नावली ने लिखा है—

उदय भाग रवि मीत बहु छाया बड़ी लखाति ।
अस्त भए निज मीत कहँ तनु छाया तजि जाति ।।[२]

इसीलिए दुख को मित्र की कसौटी कहा गया है । रहीम लिखते हैं—

रहिमन बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होय ।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय ।।[3]

तुलसी ने भी कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
आपति काल परखिए चारी ।।[४]

रत्नावली ने इसी आधार पर लिखा है कि यथार्थ मित्र बहुत कम होते है ।[५]

यह तो सिद्धान्त है । संसार की दशा देखते हुए तुलसी इससे भी दो कदम आगे बढ कर कहते हैं—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं ।
सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं ।।[६]

अर्थात् निःस्वार्थ मित्र या दूसरे शब्दों में यथार्थ मित्र संसार में है ही नहीं । सच्चाई यह है कि बिना स्वार्थ के मैत्री का विकसित होना बिल्कुल ही सम्भव नहीं है, हाँ विकसित होने पर वह बिना स्वार्थ के भी रह सकती है, यदि मित्र बहुत ही उच्च विचार के हों ।

मित्र मित्र आपस में बराबरी का भाव रखते हैं और यह तभी सम्भव है जब

---

१ **सदाचार सोपान, पृ० ८१ ।**
२ **रत्नावली दोहा०, ८२ ।**
३ **रहीम दोहा०, २३६ ।**
४ **तुलसी हितोपदेश, पृ० ६५ ।**
५ **रत्नावली दोहा०, १८० ।**
६ **तुलसी हितोपदेश, पृ० ६४ ।**

वे हर दृष्टि से समान स्तर के हो। इसी कारण नीतिकारों ने अपने समान स्तर के व्यक्ति से ही मैत्री स्थापित करने पर बल दिया है।[1] असमान स्तर की मैत्री का निभना प्रायः कम सम्भव होता है।

मैत्री के दूध के लिये कपट सबसे भयावह खटाई है। इसी कारण इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। तुलसी इसे नहीं भूल सके है—

आगे कह मृदु वचन सुनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई।
जाकर चित अहिगति सम भाई। अस कुमित्र परिहरे भलाई।[2]

रामचरित उपाध्याय ने मित्र के लिए आवश्यक गुणों की एक सूची दी है जिसमे, ऊपर के लक्षणों में बतलाए गए एक भी गुण नहीं आते—

प्रेम दानी सरल सुचि सम सुख-दुख निरभीत।
धीर बीर बर विज्ञ जो ताहि कीजिए मीत।[3]

यहाँ उपाध्याय जी सम्भवतः यह कहना चाहते है, कि मित्र में सज्जनता निर्भीकता, धैर्य तथा ज्ञान आदि मानवोचित गुण होने चाहिए। कहना न होगा कि ऐसे मित्रों से की गई मैत्री निश्चय ही अपेक्षाकृत अधिक स्थायी एवं लाभकर होगी।

दुष्ट—हिन्दी नीति साहित्य में दुष्टों के विषय मे सबसे अधिक लिखा गया है। इसका प्रधान कारण सम्भवतः यह है कि दुष्टों की संसार में कमी नहीं है और उनकी कृपा का फल सभी को भुगतना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उनके विषय मे नीतिकारों का अपेक्षाकृत अधिक सजग होना सर्वथा स्वाभाविक है।

नीतिकारों ने दुष्टों को दुष्ट के अतिरिक्त ओछा, नीच, कुटिल, असज्जन, दुर्जन, बुरा, टेढ़ा, खल तथा असरल आदि कई नामों से पुकारा है। दुष्टों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी दुष्टता नही छोड़ते। वे साँप है जिनके भीतर जाकर उपदेश का दूध भी जहर बन जाता है। वृन्द दुष्टों को काजल समझते है जो लाख धोने पर भी सफेद नहीं हो सकता।

दुष्ट न छोड़े दुष्टता कैसे हू सुख देत।
धोये हू सौ बेर के काजर होय न सेत॥[4]

---

१ प्रीति विरोध समान सन करिय नीति अस आहि—तुलसी।
२ तुलसी हितोपदेश, पृ० ६४।
३ ब्रज सत०, पृ० ४५।
४ वृन्द सत०, पृ० ७१।

वे लाख समझाने पर भी नही समझते—

बिख भखि लहिए अमरता, बरु अमृत चखि मीच ।
पचि मरिये समुझाय के चेतहि नेकु न नीच ।।[1]

सुन्दरदास लिखते है—

आपुन काज सँवारन के हित और कौ काज बिगारत जाई ।
आपुन कारज होउ न होउ बुरौ करि और को डारत भाई ।
आपुहु पोवत, औरहु पोवत, पोइ दुवों घर देत बहाई ।
सुन्दर देषत ही बनि आवत दुष्ट करें नहि कौन बुराई ।।[2]

दुष्टों के अन्य अवगुणो मे सर्वदा बुरो ही से काम रखना,[3] थोड़े धन, उन्नति या विद्या से गर्व से भर जाना,[4] किसी के द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उनके विचारों का ठीक से न जाना जाना,[5] सर्वदा लोगों को खोटी राय देना,[6] अपने अवगुणों की ओर ध्यान न देकर सज्जनो में व्यर्थ के दोष दिखाना,[7] किसी का उपकार न मानना[8] सामने रहने पर और ढग का होना और व्यवहार करना तथा पीठ पीछे और हो जाना,[9] प्रायः कड़वी बात कहना और कभी यदि मधुर बोलना तो उस माधुरी की आड़ में कटुता छिपाए रखना या उनके द्वारा कही गई सभी बातों का बाहर या भीतर से बुरी होना,[10] बड़ो की महिमा देखकर जलना,[11] तथा दुष्टतापूर्ण कामों के करने में पटु होना,[12] आदि का हिन्दी नीति काव्य में प्रधान रूप से उल्लेख है ।

इन अवगुणों के कारण ही दुष्टों से दूर रहने का उपदेश नीति काव्य मे दिया गया है । भूपति कहते है—

---

१ ब्रज सत० पृ० ४१ ।
२ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ४४१ ।
३ दिव्य दो०, १००३ ।
४ ब्रज सत०; १०३; रहीम दो०, ८०; दृष्टान्त तरंग० १०२ ।
५ ब्रज सत०, पृ० १३७ ।
६ बाँकीदास ग्रन्थ० १, पृ० ६७ ।
७ गिरिधर कुण्ड०, पृ० ३९९ ।
८ तुलसी सत०, ७-९, ५२ ।
९ वही, पृ० २२ ।
१० वृन्द सत०, पृ० ४६; तुलसी सत०, ७-४४ ।
११ दृष्टान्त तरंग, पृ० ७६ ।
१२ वही, पृ० १०१ ।

नीचे नर ते ना करो भूलिहु मन में संग।
परै गांठ ज्यों जातु है छूटि कुसुम को रंग ॥[१]

दुष्टों के साथ रहने से सज्जनों को भी कलंक लगता है।[२] उनकी मैत्री एवं प्रेम में स्थायित्व नहीं रहता[३] अतः उनसे मैत्री या प्रेम न करना ही उचित है, चाहे वे गुणवान आदि ही क्यों न हों।[४] रहीम ने तो दुष्टों से बैर और प्रीति दोनों ही को बुरा कहा है—

रहिमन ओछे नरन सौ बैर भलो ना प्रीति।
काटे चाटे स्वान के दोउ भाँति विपरीत ॥[५]

घाघ ने ऐसों से लेन-देन के व्यवहार का भी वर्णन किया है—

नीचन के व्यौहार बिसाहा हँसि के माँगत दम्मा।
आलस नींद निगोड़ी घेरे घग्घा तीनि निकम्मा ॥[६]

इस प्रकार नीति काव्य के अनुसार दुष्टों से किसी भी प्रकार का सम्पर्क उचित नहीं है। यहाँ तक कि वे यदि कष्ट मे हों तो भी उन पर दया दिखलाकर कष्ट से छुड़ाना व्यवहार्य नहीं है। जो ऐसा करता है उसे दुख का भागी होना पडता है। दीनदयाल गिरि कहते हैं—

परे विपत में दुष्ट को मोचत नही प्रवीन।
बंधन तें अहि छुटि धरै करै प्रान तें हीन ॥[७]

कुछ नीतिकार कवियों के अनुसार दुष्टों पर संग का प्रभाव नही पड़ता। वे अच्छों के सग में रहकर भी दुष्टता या नीचता नहीं छोड़ते। तुलसी कहते है :

नीच निचाई नहि तजै जो पावहिं सत संग।
तुलसी चन्दन विटप बसि बिन बिष भय न भुवंग ॥[८]

---

१ भूपति सत०, पृ० ३९४।
२ रहीम दोहा०, पृ० २०९, २१०।
३ दृष्टान्त तरंग०, पृ० १०६।
४ रत्नावली दो०, पृ० १८३, १८४।
५ रहीम दोहा०, पृ० १७६।
६ घाघ, पृ० ३७।
७ दृष्टान्त तरंग०, १०।
८ तुलसी सत०, पृ० २१।

इतना ही नही । दीनदयाल गिरि के अनुसार तो वे सतसंग से भी अच्छाई या गुण न ग्रहण कर अवगुण ग्रहण करते है ।

दोष गहै गुन नहिं गहै, खल जन रहै अधीर ।
लगी पयोधरि रुधिर को पियै जोंक नहिं छीर ।।[1]

कुछ कवियों ने इन बातों का विरोध भी किया है । उनके अनुसार नीच या दुष्ट सतसंग से सज्जनता ग्रहण कर लेते है—

सतसंगति से सुजनता पा जाता है नीच ।
ज्यों लेती है मृत्तिका, गध सुमन से खीच ।।[2]

दुष्टों के सत्सग से प्रभावित होने और न होने के ये दोनों मत आपस मे विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं । अपने आप में पूर्ण कोई सिद्धान्त नहीं है । बहुत से नीच या दुष्ट सत्संग से प्रभावित भी होते हैं और दूसरी ओर बहुत से नहीं भी होते । ये बाते दुष्ट व्यक्ति की प्रकृति और सत्संग की प्रभविष्णुता पर निर्भर करती हैं ।

दुष्टों के सम्बन्ध में नीति काव्य मे कुछ और बातें भी कही गई हैं । कुछ लोग इस बात को मानते है कि संसार में अच्छे-बुरे सभी का अपना-अपना महत्व और उपयोग है । इसी को दुष्टों पर लागू करते हुए रामचरित उपाध्याय कहते है—

क्रूर जनहुँ ते लाभ बहु कहुं कहुँ देत लखाइ ।
जैसे विषधर साँप ते हरष होत मनि पाइ ।।[3]

बुरो की सराहना इसीलिए भी करते है कि उन्हीं के कारण अच्छे पहचाने जाते हैं—

बुरे न हों तो भलों की कैसे हो पहिचान ।
कटु से ऊब ही मधुर का जगत करे सम्मान ।।[4]

दुष्ट एवं दुष्टता या अच्छे और अच्छाई के सम्बन्ध में कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि संसार में कोई भी बुरा या भला नहीं हैं । दुष्टों के लिए लोग दुष्ट और अच्छों के लिए अच्छे होते है । वृन्द ने इसी बात को कहा है—

आप बुरे जग है बुरौ, भलो भले जग जानि ।[5]

---

१ वृष्टान्त तरंग०, पृ० ६८ ।
२ रुद्रदत्त मिश्र, कविता कौमुदी २, पृ० ६७० ।
३ ब्रज सत०, पृ० ५० ।
४ नीति छन्द० ।
५ वृन्द सत० पृ० ४३ ।

इस दृष्टिकोण में भी तथ्य है पर यह सिद्धान्त न होकर अर्थवाद है और कुछ ही लोगों पर लागू होता है। कुछ दुष्ट या नीच संसार में ऐसे भी निश्चय ही होते हैं, जो किसी भी प्रकार भले, अच्छे या ऊँचे नही कहे जा सकते और ऐसे लोगों से, लोगों को अवश्य ही सतर्क तथा दूर रहना चाहिए।

सज्जन—ऊपर दुष्टो पर विचार किया गया है, जिससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि उनमें कहे गए दोषों या अवगुणों के विरोधी गुण सज्जनों में होते है। गिरिधर कविराय ने सुई का उदाहरण लेकर सज्जन और दुर्जन का अन्तर बड़े सुन्दर ढङ्ग से समझाया है—

खल सज्जन दो जगत मे तिनकी है यह रीत।
ज्यों सूची को अग्र भग पृष्ठ भाग है मीत॥
पृष्ठ भाग है मीत एक तो छिद्र करिहै।
दूसरे तिसे अछादत तत छिन गुन करि भरि है।
कह गिरिधर कविराय आत्मा एकहि अमल।
निज माया करि बन रह्यौ सोई सज्जन खल॥[1]

तुलसी ने भी लिखा है—

मिथ्या माहुर सुजन कहँ, खलहि गरज सम साँच।
तुलसी परसि परात जिमि, पारद पावक आँच॥[2]

सज्जन की हिन्दी नीति साहित्य मे वर्णित अन्य विशेषताओं में प्रधान उनका दुष्टों को भी प्रसन्न रखना[3] दुख देने पर भी सुख देना,[4] मरते-मरते भी उपकार में रत रहना,[5] दुष्टों के साथ रह कर भी दुष्टता ग्रहण न करना,[6] दूसरों की उन्नति देख प्रसन्न[7] होना तथा स्वयं कष्ट में रहकर या कष्ट सहकर भी दूसरों को सुख देना[8] आदि है।

कुछ नीति के कवियों ने अत्यधिक सज्जनता को संसार के लिए कष्टकर बतलाया है। लोकोक्ति है—

१ गिरिधर कुण्ड०, पृ० ९५।
२ तुलसी सत०, ७. ४३।
३ वही, ७. ३५।
४ जान, सिषसागर पन्दनावा।
५ ब्रज सत०, पृ० ५१।
६ वही, पृ० ५३।
७ वही, पृ० १०८।
८ वही, पृ० १५७।

सीधा का मुँह कूकुर चाटे ।

अर्थात् बहुत सज्जन या सीधे को सभी परेशान करते है । रामचरित उपाध्याय लिखते हैं—

अहि सिखवत सुत वक्र गति, सुनहु तात जग बेड़ ।
टेढ़ो रहत निचित नित, सूधो कटियत पेड ।।[1]

वृन्द ने कहा है—

अति ही सरल न हूजियो देखो जो बनराय ।
सीधे-सीधे छैदिये, बाँको तरु बच जाय ।।[2]

यथार्थतः अति सज्जन होना निरापद नहीं है । यो अति किसी की भी अच्छी नहीं होती ।

मनुष्य—मनुष्य में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती है, जिनका उसके पूरे जीवन को उचित-अनुचित या विकास-ह्रास के पथ पर ले जाने में बड़ा हाथ होता है ।

निज प्रवृत्ति को वह कभी सकता है नहीं टाल ।[3]

इसके साथ-साथ युग या देश काल से भी वह प्रभावित होता है । हरिऔध कहते है—

होता है नर का सृजन देश काल अनुसार ।[4]

पर इन दोनों के अतिरिक्त स्वयं उसके अपने चाहने का भी उसके निर्माण मे कम हाथ नहीं होता । अच्छा से अच्छा व्यक्ति भी किसी कारण यदि बुरे पथ पर जाना चाहे तो बुरों के संग तथा अन्य साधनों से वह बुरा बन सकता है और इसके विपरीत बुरा से भी बुरा व्यक्ति यदि अच्छा बनना चाहे तो धीरे-धीरे सत्संग या अन्य प्रयासों से अच्छा बन सकता है ।

है जैसा नर चाहता बनता है सब काल ।[5]

इन्हीं तीनों के भेद या अन्तर के कारण सभी मनुष्य एक से नहीं होते ।

रन रन सूर न होत है जन जन होत न भक्त हरि ।
नर सुनो सकल नरहरि कहत सब नर होत न एक सरि ।।[6]

---

१ ब्रज सत०, पृ० ५१ ।
२ तुलसी ने भी लिखा है : कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू । इसका प्रचलित रूप है—अधिक सुधाइहु तै बड़ दोषू । भा० १ । २८१।३।
३ दिव्य दो०, पृ० ७३२ ।
४ वही, पृ० ७११ ।
५ वही, पृ० ७३२ ।
६ कविता कौ० १, पृ० २२६ ।

मनुष्य योनि में जन्म लेना ही मनुष्य बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। आहार, निद्रा तथा मैथुन आदि की दृष्टि से मनुष्य और पशु में कोई भी अन्तर नही—

मैथुन भोजन नींद भय कहत सकल मतिमान।
इन चारिहुँ में होत हैं नर पसु एक समान॥[1]

मनुष्य वही है जिसमें मानवोचित गुण हों। पीछे धर्म और आचार एवं प्रस्तुत अध्याय के विभिन्न शीर्षकों मे प्रधान मानवीय गुणों के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है।

दयाशंकर मिश्र कहते है :

धीर धर्म विद्या विभव, वर विवेक विज्ञान।
नर कहँ महि महँ करत है, महिमावान महान॥[2]
धर्म होत है मनुज महं, पसु महँ देखि परै न।
याते जन कहँ पसुन ते कहत बडो गुन ऐन॥
... .
जे अनहित को हित करहिं साँचे हितू कहाय।
तिन कहँ मानव कहत है सुधी सुजन समुदाय॥[3]

इस प्रकार के गुणों के अतिरिक्त मनुष्य कलाओं के कारण भी पशुओं से श्रेष्ठ है। संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक है—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात पशु पुच्छविषाणहीन.।

रामचरित उपाध्याय ने भी कहा है—

नहि धन बल नहिं सिल्प जेहि नहि कबिता नहिं नाद।
भाथी सम जग मांहि ते, स्वांस लेहिं धिग बाद॥[4]

नीतिकार कवियों ने मनुष्यों के अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार भेद करने के भी प्रयास किये है। तुलसी विवेकी तथा राग-द्वेष शून्य मनुष्य को बुध या पण्डित कहते है—

बुध सु बिबेकी बिमल मति जिनके रोष न राग।[5]

---

१ सदाचार सोपान, पृ० ४८।
२ वही, पृ० ६।
३ वही, पृ० ६।
४ ब्रज सत० पृ०, ५५।
५ तुलसी दो०, पृ० ३५६।

दूसरे सज्जन होते हैं जो सभी के लिए अच्छे होते है—

आपु आपु कहँ सब भलौ, अपने कहँ कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलौ, सुजन सराहिय सोइ ।।[1]

तीसरे वे होते हैं जो पांडित्य या सज्जनता से शून्य तथा तरह-तरह के अवगुणों से पूर्ण होते हैं। ऐसे लोग पशु या राक्षस हैं—

परद्रोही पर दार रत, परधन पर अपवाद।
ते नर पांवर पापमय देह धरे मनुजाद ।। [2]

मानस के लङ्का-काण्ड मे भी तुलसी ने राम के मुख से मनुष्यों के तीन भेद करवाए है—

ससार महं पुरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा।
इक सुमन प्रद, इक सुमन फल, इक फलै केवल लागहीं ।।
इक कहहि करत न, करहि कहहीं, करहि यक नहि बागही ।।[3]

इस दृष्टि से एक मनुष्य तो वे होते है जिनमें केवल फूल या दिखावा होता है, वे कहते है पर कुछ करते नहीं। दूसरे वे होते है जिनमें फूल और फल दोनों होता है, अथात् वे कहते भी हैं और करते भी है। और तीसरे श्रेष्ठ वे है जिनमें केवल फल होता है, अर्थात् वे दिखाना और कहना नही जानते, चुपचाप केवल काम करने में विश्वास रखते है।

कुलदीपा ने अपनी "सहस्र दोहावली" में प्रेम के आधार पर मनुष्यों (स्त्रियों और पुरुषों) के चार भेद किए हैं। उत्तम वे हैं जिनका केवल अपनी पत्नी या अपने पति में अनुराग है, और यह अनुराग शारीरिक आकर्षण के कारण न हो कर यथार्थ है। दूसरे मध्यम वे हैं जिनका प्रेम शारीरिक कारण से होते हुए भी अपनी ही पत्नी या पति तक सीमित है। तीसरे नीच वे है जिन्हे अपनी पत्नी या अपना पति अच्छा नही लगता पर जो लोक-लाज से अनुचित पथ का अनुसरण नहीं करते। चौथे क्षुद्र वे हैं जो लोक-लाज तोड़कर दूसरों से प्रेम करने लगते हैं।[4]

दीनदयाल गिरि ने कोमलता और कठोरता के आधार पर मनुष्य के तीन भेद किये हैं। एक तो वे होते है जो बेर की तरह बाहर कोमल और भीतर कठोर

१ तुलसी, दोहा० पृ० ३५७।
२ तुलसी दो०, पृ० ४०७।
३ मानस ६७०।
४ सहस्र दो०, ५१-७।

होते है, दूसरे बादाम की तरह बाहर कठोर और भीतर कोमल होते हैं तथा तीसरे अंगूर की तरह बाहर भी और भीतर भी कोमल होते हैं।

इक बाहर इक भीतरै इक मृदु दुहुं दिसि पूर।
सोहत नर जग त्रिविध ज्यों बेर बदाम अंगूर॥[1]

इन तीन के अतिरिक्त इस दृष्टि से पत्थर या लोहे की भाँति ऐसे भी आदमी होते हैं, जो बाहर और भीतर दोनों ही ओर कठोर होते है। आश्चर्य है कि कवि कैसे इस प्रकार के मनुष्यों को भूल गया।

मनुष्य में स्त्री और पुरुष दोनों ही आते हैं। स्त्रियों पर तो प्रस्तुत पुस्तक में अलग अध्याय मे विचार किया गया है, पर पुरुषों पर स्वतन्त्र रूप से स्त्रियों की भाँति नीतिकार कवियों ने विशेष नही लिखा है इसीलिए उन पर अलग से लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। यों राजनीति, धर्म और आचार नीति तथा समाज और व्यवहार नीति में वर्णित बहुत सी बातें पुरुषों के लिए भी या कुछ तो स्त्रियों से अधिक पुरुषों के लिए ही हैं।

पुरुषों में नीतिकारों ने वीरता, दृढ़ता तथा कर्मठता आदि गुणों का होना आवश्यक माना है। इस दृष्टि से बैताल का एक छप्पय बड़ा प्रसिद्ध है—

मर्द सीस पर नवै मर्द बोली पहिचानै।
मर्द खिलावै खाय, मर्द चिंता नहिं मानै।
मर्द देय और लेय मर्द को मर्द बचावै।
गाढ़े सँकरे काम मर्द के मर्द आवै।
पुनि मर्द उनहिं को जानिये दुख सुख साथी दर्द के।
बैताल कहै विक्रम सुनो लच्छन है ये मर्द के॥[2]

बचपन—जीवन की प्रवेशावस्था बचपन है। इस अवस्था का इस दृष्टि से बहुत महत्व है कि बचपन की आदतें प्रायः अन्त तक बनी रह जाती हैं—

बारेपन सों मातु पितु जैसी डारति बानि।
सो न छुटाए पुनि छुटत रतन भयहु सयानि॥[3]

इसीलिए अभिभावकों को इस अवस्था में बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन करना चाहिए—

---

१ **दृष्टान्त तरंग०**, पृ० १५४।
२ **कविता कौमुदी, भाग १**, पृ० ४००।
३ **रत्नावली दो०**, १३८।

बालहि लालहु अस रतन जो न औगुनी होइ।
दिन-दिन गुन गुरुता गहै साँचौ लालन सोइ॥[1]

बचपन हठ के लिए प्रसिद्ध है। बालक प्रायः बड़े हठी होते हैं :

हठ बालक को, गठ किरपिन को
नहिं छूटै कभूँ बरु प्रान छुटै।[2]

बालकों की बुद्धि परिपक्व नही होती, अतः उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए उनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। तुलसी ने लिखा है—

बालक बचन करिय नहिं काना।[3]

या

बाल दोष गुन गनहिं न साधू।[4]

बालकों को मित्र बनाना नीति-काव्य में उचित नहीं कहा है। वे अपरिपक्व होने के कारण मैत्री निभा नहीं पाते। रामचरित उपाध्याय कहते हैं—

बाल मिताई रुचति जो रासभ होहु सवार।
बिन बूझे नर हँसहिंगे सुनि ये सुखद विचार॥[5]

स्त्रियों की भाँति बालक भी गोपनीय बातों तथा भेद आदि के अनधिकारी कहे गए हैं। उनसे भेद की बातें नहीं कहनी चाहिए। जान लिखते हैं—

नारिन सों लरिकान सों भेद कहौ जिन कोइ।
वे दुराइ जानत नहीं निहचै परगट होइ॥[6]

तरुणाई—तरुणाई या जवानी के विषय में हिन्दी नीति साहित्य में प्रधान रूप से तीन बातें कही गई हैं। सन्त तथा अन्य नीतिकारों ने भी, सबसे अधिक बल तो इस बात पर दिया है कि तरुणाई क्षणिक है। थोड़े समय तक ही आदमी जवान रहता है, उसके बाद बुढ़ापा आ जाता है। जान लिखते हैं :

पाँच बात ये जगत में निबहत नाहिं निदान।
लछी सुख दुख रूप छबि तरुनाई कहि जान॥[7]

---

१ रत्नावली दो०, १८७।
२ नीति छन्द०।
३ मानस सूक्तावली, पृ० १४४।
४ ब्रज सत०, पृ० ५१।
५ पन्दनामा।
६ जान, सिषसागर पन्दनामा।

जमाल ने भी कहा है—

जमला जोबन फूल है, फूलत ही कुम्हलाय।
जाण बटाऊँ पंथ सरि वैसे ही उठि जाय॥[1]

अर्थात् इस क्षणिक का गर्व नहीं करना चाहिए, यद्यपि नीतिकारों ने इसे भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि टेढ़ों की कौन कहे सीधे भी तरुणाई में अभिमान करने लगते है —

जुवा अवधि में सुधिन हूँ ह्वै आवत अभिमान।
जैसे सरिता विमल जल बाढ़त होत मलान॥[2]

तरुणाई को बुराइयों का घर माना गया है। इन बुराइयों में प्रधान रूप से अभिमान तथा वासना के नाम लिए जा सकते है। इन बुराइयों से बचने के लिए विवेक की आवश्यकता है। इसी ओर लक्ष्य करके रत्नावली कहती हैं—

तरुनाई धन देह बल बहु दोषनु आगार।
बिनु बिबेक रतनावली पशु सम करत विचार॥[3]

आशय यह है कि तरुणाई में बहुत संभल कर चलना एवं विवेक से काम लेना चाहिए नहीं तो पथ-भ्रष्ट होने की आशंका रहती है।

बुढ़ापा—बुढ़ापा जीवन की अन्तिम अवस्था है। इस समय तक आते-आते मनुष्य जीवन में घिस-पिट कर काफी अनुभवी हो जाता है, पर दूसरी ओर परिश्रम करने की प्रायः उसमें शक्ति नहीं रह जाती। प्रताप नारायण मिश्र ने अपनी 'बुढ़ापा' कविता में वृद्ध व्यक्ति की शारीरिक असमर्थता का बड़ा अच्छा चित्र खींचा है। वे आरम्भ में लिखते हैं—

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नकनाय गयन।
करत करत कछु बनतै नाहीं कहाँ जान औ कैस करन॥[4]

बुढापे का लोग स्वागत नहीं करते। केशव ने लिखा है—

केशव केसनि अस करी जस अरिहूँ न कराहिं।
चंद्रबदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥[5]

यहाँ केशों के बहाने बुढापे को ही फटकारा है। हिन्दी के नीति काव्य में भी बुढ़ापा को बहुत बुरा कहा गया है। गिरिधर कविराय लिखते हैं—

---

१ जमाल दो०, ३७।
२ दृष्टांत०, तरंग १५५।
३ रत्नावली दो०, ८४।
४ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ५८।
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २६६।

जरा अवस्था के सदृश नहिं नीच अवस्था आन ।
अभिव्यंजक सब रोग की किरपनता की खान ।।
किरपनता की खान करै तृष्णा को जोरा ।
वैराग्य तोप पुरुषार्थ काटने को है आरा ।
कह गिरिधर कविराय उदारता को है गरा ।
लोभ मोह युग पुष्ट होय जब आवै जरा ।।[1]

वृद्धावस्था, रोग, कृपणता, लोभ[2] तथा मोह आदि की खान है । इसीलिए इसे अन्य बहुत सी बातों और वस्तुओं की भाँति पृथ्वी पर का नरक कहा गया है—

पापिन के अंग संग, अंगना अनगवश,
अपयश युत सुत चित हित हानिये ।
मूढ़ता, बुढ़ाई, व्याधि, दारिद झुठाई आदि
यहई नरक नर लोकनि बखानिये ।।[3]

नीति साहित्य में बुढापा के विषय में कुछ और बातें भी कही गई हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वृद्ध व्यक्ति प्रायः अनुभवी और बुद्धिमान होते हैं । लोकोक्ति है—

धूप में बाल नहीं पके हैं ।

भगवानदीन ने भी लिखा है—

श्वेत बाल बतला रहे कितनी उज्ज्वल बुद्धि ।
रगड़ रगड़ हमने करी वर्षों इसकी शुद्धि ।।[4]

बुढ़ापे में मन बूढा न होकर लड़कों की तरह चंचल हो जाता है—

बालपने में मन युवा, युवापने में वृद्ध ।
वृद्धपने मन बाल है, हुआ हमें यह सिद्ध ।।[5]

इसी प्रकार स्मरण शक्ति का खराब होना, सन्तोष का कम या समाप्त हो जाना, चित्त की दीनता, क्रोध का आधिक्य एवं दया तथा सहनशीलता की कमी आदि भी वृद्धावस्था की प्रधान विशेषताएँ कही है ।[6]

मृत्यु – मृत्यु, मौत या काल के विषय में प्रायः सभी सन्त कवियों ने तथा रहीम, तुलसी, जान, गिरिधर एवं दुलारेलाल भार्गव आदि अन्य नीतिकारों ने भी

---

१ गिरिधर कुण्ड०, २५३ ।
२ ज्यों-ज्यों नर बूढ़ा होता है लोभ अधिक हो जाता है—स्फुट ।
३ केशव, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३०० ।
४ नीति के दोहे ।
५ वही ।
६ गिरिधर कुण्ड० २५२, २५४, २५५ ।

लिखा है। इन सभी का प्रधान स्वर यही है कि काल से कोई नही बचा, अतः आदमी को प्रत्येक काम यह सोच कर करना चाहिए कि किसी भी क्षण मृत्यु सम्भव है। कबीर इस संसार को काल का 'चबेना' मानते है—

झूठे सुख कों सुख कहै मानत है मन मोद।
खलक चबींणा काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥[1]

काल या मृत्यु का भय प्रमुखतः दो दृष्टियों से दिखलाया गया है। एक तो इसलिए कि व्यक्ति यह सोच सके कि जब मर ही जाना है तो यहाँ की सुख-समृद्धि व्यर्थ है, और दूसरे इसलिए कि उसे यह भी स्मरण हो जाय कि मरने के बाद जीवन में किए गए कामों के अनुसार फल मिलता है। इन बातों को सोचकर स्वभावतः वह मानवोचित पथ की ओर अग्रसर होगा तथा अनुचित एवं पाप कर्मों के करने से डरेगा।

काल को वैद्य या औषधि आदि नहीं रोक सकते।

रहिमन भेषज के किए काल जीति जो जात।
बड़े-बडे समरथ भए तौ न कोउ मरि जात ॥[2]

कबीर ने भी—

बैद मुवा रोगी मुवा मुवा सकल संसार।[3]

में इसी ओर संकेत किया है।

मृत्यु के लिए कोई भी समय नहीं है। वह कभी भी आ सकती है। इसीलिए कहते हैं कि मरना अपने हाथ में नहीं है। गिरिधर ने कहा है—

जियबो मरिबो ये उभै नहिं हैं अपने हाथ।[4]

पेट—संसार के यदि सभी नहीं तो कम से कम नब्बे प्रतिशत से अधिक लोग प्रमुखतः पेट के लिए ही व्यग्र हैं। पेट मनुष्य की सब से प्रधान समस्या है। सुन्दरदास कहते है—

पाजी पेट काज कोतवाल कौ आधीन होत,
कोतवाल सु तौ सिकदार आगे लीन है।
सिकदार दीवान के पीछे लग्यौ डोलै पुनि
दीवान हू जाइ पतिसाइ आगै दीन है।
पातिसाह कहै या षुदाइ मुझै और देइ,
पेट ही पसारै नहिं पेट बसि कीन है।
सुन्दर कहत प्रभु क्यों हूँ नहिं भरै पेट,
एक पेट काज एक एक कौ अधीन है ॥[5]

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७१।
२ रहीम दो०, २२०।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६४।
४ गिरिधर कुण्ड०, २।

वृन्द ने भी लिखा है—

उदर भरन कै कारनै, प्रानी करत इलाज।
नाचै बाँचै रन भिरै, राचै काज-अकाज ॥[1]

और

भगवानदीन ने तो यहाँ तक लिखा है कि पेट ही मनुष्य की आत्मा, धर्म और राम है—

पेट हमारा आत्मा, पेट हमारा राम।
पेट हमारा धर्म है, पेट हेतु सब काम ॥[2]

सचमुच ही आज के विश्व के अधिक धंधे पेट के लिए ही हो रहे हैं। जिसका पेट भरा नहीं है उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, क्योंकि अन्य सारी आवश्यकताओं का स्थान इसके बाद ही है। रामचरित उपाध्याय ने कहा है—

नहिं सूझत अकरम करम होत सुजन हूँ क्रूर।
रुचत न नैकहुँ कहुँ कछू जो न उदर भरपूर ॥[3]

छुधा पीड़ सहि सकहि न जोगी।

कह कर तुलसी ने तथा

भूखै भजन न होहिं गोपाला।
लै लो अपनी कंठी माला ॥

कह कर किसी अज्ञात कवि ने भी पेट के महत्व पर प्रकाश डाला है।

पेट को पाप का घर भी कहा गया है। लोकोक्ति है 'पेट क्या नहीं कराता"। संस्कृत में भी कहा गया है कि भूखा व्यक्ति अपनी क्षुधा शान्ति के लिए कोई भी पाप कर सकता है।[4]

रहीम ने तो भरे पेट और भूखे पेट दोनों ही को बुरा कहा है, क्योंकि भूखा व्यक्ति रीति-नीति छोड़ कर पेट भरना चाहता है और जिसका पेट भरा रहता है उसकी दृष्टि बिगड़ जाती है या वह गर्वीला हो जाता है—

रहिमन कहत सुपेट सों क्यों न भयो तू पीठ।
रीते अनरीते करै भरे बिगारत दीठ।[5]

उद्योग—उद्योग पर ही बहुत अंशों में जीवन की सफलता और असफलता

---

१ वृन्द सत०, ५५३।

२ नीति के दोहे।

३ ब्रज सत०, १८७।

४ बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

रहीम दोहा०, १८०।

निर्भर करती है, यद्यपि बहुत से कवियों ने इस विषय में भाग्य को प्रधान कहा है। गिरिधरदास कहते हैं—

उद्यम कीजै जगत में मिलै भाग्य अनुसार।
मोती मिलै कि संख कर सागर गोता मार॥[1]

यदि इसे मान भी लें तो उद्यम या उद्योग का महत्व कम नहीं होता। मिलेगा भाग्यानुसार पर वह भी तभी सम्भव होगा जब कोई उद्योग करेगा। इसके अतिरिक्त भाग्य पर तो अपना अधिकार नहीं है अतः उसकी प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ रख कर बैठना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। उद्योग ही अपने हाथ में है अतः उसे करते रहना चाहिए। यों यह तो देखा जाता है कि कभी-कभी उद्योग करने पर भी कुछ लोग उन्नति नहीं कर पाते, पर यह अपवाद ही है। इसके विरुद्ध ऐसे लोग ही अधिक मिलते हैं, जिन्होंने उद्योग के कारण ही अपने को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया है। हरिऔध जी ठीक ही लिखते हैं कि उद्योगी को ऊसर में भी रत्न मिल सकता है—

उद्योगी को ऊसरों में मिलता है रत्न।
किसी काल में हो नहीं जीवन रहित प्रयत्न॥[2]

स्वभाव या प्रकृति को, जो कि स्वाभाविक देन है, यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो विद्या और धन दो ही है, जिनके कारण व्यक्ति का प्रायः आदर होता है। कहना न होगा कि ये दोनों ही उद्योग के ही आश्रित है। वृन्द कहते हैं—

विद्या धन उद्यम बिना कहौ जु पावै कौन।
बिना डुलाए ना मिले ज्यों पंखा को पौन॥[3]

किसी अन्य कवि ने भी कहा है—

पुरुष सिंह जो उद्यमी लछिमी ताकी चेरि।[4]

इस प्रकार उद्योग का मानव जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रम—उद्योग की भाँति श्रम पर भी जीवन की सफलता-असफलता निर्भर करती है। नीति के कवियों ने श्रम के महत्व का भी उचित रूप में अनुभव किया है। भगवानदीन श्रम को पवित्रतम कर्म मानते हैं—

श्रम से बढ़ कर कर्म, कर्म और पावन नहीं।
यही धर्म का मर्म, पूजा गुरु श्रुत देव यह॥[5]

---

१ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४९४।**
२ **दिव्य दोहा०, ६७१।**
३ **वृन्द सत०, २२।**
४ **नीति छन्द०।**
५ **नीति के दोहे।**

छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी कामों में श्रम अपेक्षित है। बिना उसके कुछ भी सम्भव नहीं। वृन्द कहते हैं—

श्रम ही तें सब मिलत हैं बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुली घी जम्यो क्योंहू निकरै नाहिं ॥[1]

श्रमी के लिए अशक्य भी शक्य है—

जितने उत्तम काम है दीखे सभी अशक्य।
काम मात्र संसार के सत्य श्रमी को शक्य ॥[2]

भगवानदीन कहते हैं कि श्रम के बदले में मिलने वाले यश या धन पर ध्यान न देकर श्रम के लिए श्रम या अनुभव आदि के लिए श्रम करना चाहिए।

श्रम का फल तो काम है, अनुभव आतम ग्यान।
धन जो रूँगे में मिले, धन पर फिर क्यों ध्यान ॥[3]

पर यह एक आदर्श की बात है। फल की ओर ध्यान दिए बिना यों ही कर्म या श्रम व्यावहारिक नहीं। इस दृष्टि से वृन्द ने एक बड़ी व्यावहारिक बात कही है। वे कहते हैं श्रम करना चाहिए और बिना श्रम के कुछ प्राप्य नहीं, पर श्रम करने के पूर्व यह भी सोच लेना चाहिए कि श्रम का फल क्या मिलेगा। यदि श्रम अधिक करना हो और प्राप्ति कम हो तो कभी नहीं करना चाहिए। पहाड़ खोद कर चुहिया निकालना कौन चाहेगा ?

क्यों करिए प्रापति अलप जामे श्रम अति होइ।
कौन गरज गिरि खोदि कै चूहो काढै कोइ ॥[4]

उद्योग की भाँति श्रम भी मनुष्य के भाग्य को चमकाने वाला अर्थात् उन्नति का कारण है—

लोहा चमके घिसे से लकडी रगडे आग।
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग ॥[5]

और इससे मनुष्य को पूर्णता की प्राप्ति होती है—

बस मनुष्य को जगत में श्रम ही करता पूर्ण।
श्रम द्वारा आपद शिला हो जाती है चूर्ण ॥[6]

---

१ वृन्द सत०, पृ० १९०।
२ नीति के दोहे।
३ वही।
४ वृन्द सत०, २५०।
५ नीति के दोहे।
६ नीति के दोहे।

कर्म—संसार को कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहाँ मनुष्य का प्रमुख धर्म कर्म है, अतएव मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए। बेकार रहना उचित नहीं। भगवानदीन कहते हैं—

बेकारी सब से बुरी निपट निराशा खान।
आशा बसती कर्म में, कर्म करें विद्वान॥[1]

तुलसी ने भी "कर्म प्रधान बिस्व करि राखा" तथा "कर्म प्रधान सत्य कह लोगू" आदि कह कर कर्म करने पर एवं उसकी प्रधानता पर बल दिया है।

कर्म करना जितना आवश्यक है, कर्म करने के पूर्व भली-भाँति सोच लेना उससे कम आवश्यक नहीं। बिना बिचारे हुए जो कर्म करता है उसे बाद में पछताना पड़ता है। गिरिधर का प्रसिद्ध छन्द है—

बिना बिचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय॥
जग मे होत हँसाय चित्त में चैन न पावै।
खान पान सन्मान राग रग मनहि न भावै॥
कह गिरिधर कविराय दुख कछु टरत न टारै।
खटकत है जिय माहिं कियो जो बिना बिचारै॥[2]

काम करने के पूर्व सोचने में प्रधान रूप से तीन बातो का ध्यान दना चाहिए। एक तो यह कि जो काम करे अच्छा हो—

अस करनी तू करि रतन सुजन सराहै तोहि।[3]

बुरा न हो क्योंकि बुरा कर्म अपना सबसे बड़ा शत्रु है। गिरिधर कहते है—

बैरी तेरो और नहिं बैरी इक बदफेल।[4]

साथ ही अच्छा होते हुए भी काम बे-मेल न हो। वृन्द कहते है—

अनमिलती जोई करत ताही कौ उपहास।
जैसे जोगी जोग में करत भोग की आस॥[5]

काम अच्छा और मेल का हो, फिर भी यदि अपने स्वभाव एवं सामर्थ्य का न हो तो न करे। क्योंकि ऐसा काम अपने वश का नहीं होता।

---

१ वही।
२ गिरिधर कुण्ड०, ६८।
३ रत्नावली दोहा०, १७८।
४ गिरिधर कुण्ड०, ४०८।
५ वृन्द सत०, २५।

जो जाको करतब सहज रतन करि सकै सोय ।
पावा उचरतु ओठ सो हाहा गल सों होय ।।[१]

तथा

अपनी पहुँच बिचारि कै करतब करिए दौर ।
तेतो पाँव पसारिए जेती लांबी सौर ।।[२]

कर्म के सम्बन्ध में दो और बातों की ओर भी नीतिकारों ने संकेत किया है । एक तो यह कि काम करने में तरह-तरह के लोग तरह-तरह की राय देते हैं पर चतुर का काम यह है कि बात सब की सुने पर अपने लाभ के लिये स्वयं सोच-विचार कर जो उचित समझे करे, साथ ही यदि ऐसा किया जा सके जो किसी को बुरा न लगे तो अधिक अच्छा हो ।

सुनिये सब ही की कही करिये स्वहित विचार ।
सर्व लोक राजी रहै सो कीजै उपचार ।।[३]

यद्यपि किसी काम मे ऐसा रास्ता निकालना सरल नहीं, जिससे सभी लोग प्रसन्न हों । "बूढे, बच्चे और घोड़े" की लोक-प्रसिद्ध कहानी इस बात का प्रमाण है ।

नीतिकारों ने यह भी कहा है कि जब तक काम न हो जाय भरसक उसे दूसरों से न कहे । इससे सहायता तो कम मिलती है पर बाधाएँ बहुत सी खडी हो जाती हैं । गिरिधर कहते है—

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिये कोइ ।
तब लग मन में राखिये जब लग कारज होइ ।।
जब लग कारज होइ भूलि कबहूँ नहि कहिए ।
दुरजन हँसै न कोय आप सियरे ह्वै रहिए ।।[४]

नौकर और नौकरी—

नौकर का धर्म बहुत कठिन माना गया है । तुलसी कहते है—

सब तें सेवक धर्म कठोरा ।[५]

इस कठिनाई का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य को अपनी भलाई पहि-

---

१ रत्नावली दोहा०, पृ १६३ ।
२ वृन्द सत०, १६ ।
३ वही, ५८४ ।
४ गिरिधर कुण्ड०, ७० ।
५ मानस सूक्त०, ६७६ ।

चौनैना ही कठिन होता है, फिर पग-पग पर आत्मस्वार्थ, जो मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है, को त्याग कर दूसरे की भलाई के उपयुक्त आचरण करना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नहीं और सच्चे सेवक का कर्तव्य यही है। तुलसी ने कहा है—

करहि स्वामि हित सेवक सोई।[1]

सेवक को अपने प्राण पर खेल कर भी स्वामी का नमक अदा करने को तैयार रहना चाहिए। सूर्यमल्ल ने अपनी वीर सतसई में लिखा है—

दमगल बिण अपचौ दियण वीर धणी रौ धान।
जीवन धण बाल्हा जिकाँ छोड़ौ जहर समान॥[2]

अर्थात् वीर स्वामी का अन्न युद्ध बिना नहीं पचता। अतः जिन्हें जीवन और स्त्री प्रिय है वे उस अन्न को जहर समझ कर छोड़ दें। वृन्द ने यथार्थ सेवक उसे कहा है, जो स्वामी पर विपत्ति पड़ने पर भी उसका साथ न छोड़े—

सेवक सोई जानिए रहै विपति में संग।
तन छाया ज्यों धूप में रहै साथ इक रंग॥[3]

सर्वदा साथ रहने वाले निजी नौकर के सम्बन्ध में नीति-काव्य में दो-तीन बातों पर विशेष बल दिया गया है। उसे बहरा नहीं होना चाहिए—

पति मूरख वेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र।
सूम स्वामि सेवक बधिर सुखद न रामचरित्र॥[4]

साथ ही उसका चोर होना भी बहुत बुरा है :

चाकर चोर राज बे पीर।
कहै घाघ का धारी धीर॥[5]

ऐसा नौकर भी अच्छा नहीं होता जो प्रसन्न रहने पर तो काम करे और जरा भी अप्रसन्न हो जाय तो काम बिगाड़ दे।

तुष्टहिं निज रुचि काज करि रुष्टहिं काज बिगारि।
तिया, तनय, सेवक, सखा मन के कंटक चारि॥[6]

---

१ तुलसी हितो०, पृ० १२५।
२ वीर सत, १०।
३ वृन्द सत०, ५११।
४ ब्रज सत०, पृ० ३६।
५ घाघ, ३०।
६ तुलसी सत० ७. २६।

सदा साथ रहने वाले निजी नौकरों के सम्बन्ध में दो अन्य बातों का ध्यान भी अत्यावश्यक है। एक तो यह कि उनका यथोचित आदर करना चाहिए।[1] इससे वे अपने काम को अधिक प्रेम और दत्तचित्तता से करते है और दूसरे उनसे अधिक नहीं बोलना चाहिए। ऐसा न करने से वे अपनी और अपने स्वामी की मर्यादा का ध्यान नहीं रख पाते। रत्नावली कहती है—

करमचारि जन सों भली जथा काज बतरानि।
बहु बतानि रत्नावली, गुनि अकाज की षानि॥[2]

नौकर होना या नौकरी करना अच्छा नहीं समझा जाता, यद्यपि बहुत से लोग नौकरी करते है और उससे भी अधिक लोग करना चाहते है। प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम वान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान।

आधुनिक युग मे नौकरी का बहुत अधिक विरोध हुआ है। नीति के आधुनिक कवियों ने इस सम्बन्ध में लिखा भी है। दामोदरसहाय सिंह लिखते है—

लिखि पढ़ि जो घर में रहै करै खेत व्यापार।
हंसै लोग बिनु चाकरी ऐसे निपट गँवार॥
याते बहुधा चाकरी सिच्छित करत पसन्द।
परबसता बेड़ी बड़ी पड़ी हथकड़ी बन्द॥
पर परबस मैं नौकरी जैसी छाँह खजूर।
करी खुसामद रात दिन जी सरकार हजूर॥

... ...

उत्तम खेती जानिए मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम भीख कहावत सार॥[3]

सच्चाई यह है कि परिश्रम और ईमानदारी से किया गया कोई भी उचित कार्य बुरा नहीं है और नौकरी भी इसका अपवाद नहीं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है खेती या व्यापार जैसे स्वतन्त्र कामों की तुलना में नौकरी में परतन्त्रता और प्रतिबन्ध अधिक हैं, अतः कुछ कष्ट भी है साथ ही उसकी अपनी अच्छाइयाँ

---

१ रत्नावली दोहा०, १५७।
२ वही, पृ० १०५।
३ सुधा सरोवर, पृ० ४०।

भी कम नहीं है। व्यापार की भाँति घाटा लगने का या खेती की भाँति अकालादि से हानि उठाने का उसमें कोई प्रश्न ही नहीं है।

आय-व्यय—व्यावहारिक नीति मे आय और व्यय का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। बड़ा या छोटा चाहे कोई भी क्यों न हो, जो अपनी आमदनी के अनुसार व्यय नहीं करता, उसे पश्चाताप करना पड़ता है। हिन्दी नीति काव्य में बहुत से नीतिकारों ने इस बात पर बल दिया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। रत्नावली कहती है—

जे न लाभ अनुसार जन मितव्यय करहि विचारि।
ते पाछे पछतात अति रतन रंकता धारि॥[1]

अर्थात् जो अपने लाभ या आमदनी के अनुसार विचार कर ठीक-ठीक खर्च नहीं करते, उन्हें दरिद्र होकर पछताना पड़ता है।

जान कहते है कि आमदनी के अनुसार अच्छी तरह सोच विचार कर व्यय करना ही अच्छा है—.

मन में भले विचारि के जैसी आमद होइ।
तैसो ही करि है खरच भलौ दिखावै सोइ॥[2]

धन—संसार के सारे व्यापार धन के ही बल पर चल रहे है। इसी कारण सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने का एक माध्यम मात्र होने पर भी इसका महत्व सबसे अधिक है। संस्कृत के बहुत से श्लोकों में इसका महत्व गाया गया है।[3] और यथार्थतः यह इस महत्ता का आज अधिकारी भी है। हिन्दी नीति काव्य में धन के विषय मे दो दृष्टि से छन्द लिखे गए है। भक्त तथा कुछ अन्य कवियों ने माया का सेनानी तथा पाप का घर आदि कह कर इसका विरोध किया है, पर अन्य नीतिकारों ने संस्कृत के नीतिकारों की भाँति इसकी आवश्यकता एव इसके महत्व को खुले शब्दों में स्वीकार किया है।

कबीर तथा दादू आदि सन्त कवियों ने प्रायः 'कनक और कामिनी' का साथ-साथ विरोध किया है। दादू कहते है सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या जो धन और स्त्री के पीछे पागल रहते है। ऐसे व्यक्ति जिनका मन 'मृतक' हो चुका है तथा इन्द्रियाँ अपने अधीन है, उन्हें भी कनक और कामिनी का साथ नही करना चाहिए।

---

१ रत्नावली दोहा०, १५६।

२ जानः पंचनामा।

३ यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पंडितः स च श्रुतिमान गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ते॥

टका करता टका धरता टका मोक्षप्रदायकः।
टका सर्वत्र पूज्यन्ते बिन टका टकटकायते॥

दादू मन मिरतक भया इन्द्री अपणैं हाथ ।
तौ भी कदै न कीजिए कनक कामिनी साथ ।।[1]

कबीर कहते है कि इन दोनों को देखने से ही विष का सा प्रभाव पड़ता है और जो इनका सेवन करता है, उसकी तो मृत्यु ही हो जाती है ।

एक कनक अरु कामिनी विष फल कीएउ पाइ ।
देखें ही तें विष चढ़ै खायें सूं मरि जाय ।।[2]
तथा
एक कनक अरु कामिनी दोऊ अगनि की झाल ।
देखे ही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल ।।[3]

रत्नावली ने धन को बुराइयों का घर कहा है । गिरिधर इसे रुलाने वाला मानते हैं ।

रोय रोय के पाइए रुपिया जिसका नाम ।
जब जाये फिर रोइए इह मुख जिसको नाम ।।[4]

बिहारी के शब्दों में धन धतूरे से भी अधिक मादक है, क्योकि धतूरे को तो खाने से आदमी पागल हो जाता है, पर धन को पाने से ही पागल हो जाता है—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय ।
वा खाए बौरात है या पाए बौराय ।।[5]

इस प्रकार लोगों ने धन की तरह-तरह से बुराई की है,[6] पर दूसरी ओर अन्य नीतिकारों ने धन के पक्ष मे भी बहुत कुछ कहा है ।[7] बैताल का प्रसिद्ध छप्पय है—

---

१ दादू बा०, पृ० ११४ ।
२ कबीर ग्रंथ० पृ० ४० ।
३ रत्न०, ८४ ।
४ गिरिधर कुण्ड०, २०७ ।
५ बिहारी सत० ६५१ ।
६ क्या उत्तम लोकोक्ति है 'धन हाथों का मैल' । ——भगवानदीन
७ सम्पति के बढ़े सो, पतिष्ठा बाढ़ै । —रघुनाथ (कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४२३), बित्त बिना सब शून्य हैं ।— रुद्रदत्त मित्र (कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ६७०); द्रव्य बिन मिले न आदर । ——बैताल (कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१) तथा
निरबुद्धी धनमान को मानत सकल जहान ।
लखि दरिद्र विद्वान को जगजन करें गिलान ।
दीनदयाल : दृष्टान्त तरंग० ७३ ।

टका करै कुल हूल टका मिरदग बजावै ।
टका चढ़े सुखपाल टका सिर छत्र धरावै ।।
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया ।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया ।।
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन ।
बैताल कहै विक्रम सुनो धिक जीवन इक टके बिन ।।[1]

धन के लिए कही गई दोनों ही पक्षों की बाते सही हैं। संसार में रहते हुए धन की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता पर साथ ही धन बहुत दृष्टियों से बुरा भी है, विशेषतः भक्ति मार्ग में।

इन दोनों बातों के अतिरिक्त धन के विषय मे कुछ और सामान्य बातें भी नीति काव्य में मिलती है।

इस बात पर बहुत से कवियों ने बल दिया है कि धन किसी के यहाँ टिकता नही। वह चंचल होता है। इसी कारण जो आज धनी है कल दीन हो जाता है और दूसरी ओर कल जो दीन था आज धनी हो जाता है। इस विषय में कुछ छन्द देखे जा सकते है। गिरिधर कविराय कहते हैं—

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान ।
चंचल जल दिन चारि को ठाउँ न रहत निदान ।।
....
कह गिरिधर कविराय करै यह सब घट दौलत ।
पाहुन निस दिन चारि रहत सब ही के दौलत ।।[2]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३६६ ।
कुल को कुलीन होय, उपकार लीन होय, पंडित प्रवीण होय, दोष सब खोई है ।
उदित उदार होय, पूर्ण परिवार होय, चाबुक सवार होय, बेद बुध सोई है ।
बल को निधान होय, बोल को प्रमाण होय, सब गुण समान होय, शील संत सोई है ।
शूर होय, वीर होय, सुन्दर शरीर होय, लक्ष्मी न होय, ताहि पूछत न कोई है ।।
पैसे के तात मात, पैसे के बहिन भ्रात, पैसे के हीत-यार पैसे के लुगैया हैं ।
पैसे से आदर सन्मान होत, पंचन में, पैसे बिन यार कोई बात ना पुछैया है ।
पैसे से धरम करम भरम सब पैसे से, पैसे से चला जात परपट पर नैया है ।
कहैं सतसाची मन में विचार देखौ दैया ने बनाया बड़े यत्न से रुपैया है ।।
पैसे बिन बाप कहै पूत को कपूत भए, पैसे बिन भाई कहै जी कौ दुखदाई है ।
पैसे बिन यार कहै मेरा तेरा प्यार नहीं, पैसे बिन ससुर कहै कौन को जमाई है ।।
पैसे बिन बंदे की प्रतीत नहिं पंचन में पैसे बिन माई घर रोय रोटी खाई है ।
कहैं बलदेव दास सजोबजौ आठो जाम, आज के जमाने में पैसे की बड़ाई है ।।

२ गिरिधर कुण्ड०, २६ ।

वृन्द का दोहा है—

धनी होत निरधन बहुरि निरधन ते धनवान ।
बड़ी होति निसि सीत ऋतु ज्यों ग्रीषम दिन मान ॥[१]

तथा रहीम का प्रसिद्ध छन्द है—

कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय ॥[२]

धन और विद्या या लक्ष्मी और सरस्वती में प्रायः बैर देखा जाता है । विद्वान लोग प्रायः निर्धन होते हैं और धनवान लोग विद्या-शून्य । वृन्द ने कहा है—

विद्या लक्ष्मी पुरुष पे होय नही इक ठाँय ।
नाहिन सुख ह्वै सौति में पिय पै एकहि जाय ॥[3]

ऊपर गिरिधर कविराय की कुण्डलिया मे कहा जा चुका है कि धनी होने पर गर्व नहीं करना चाहिए । रत्नावली ने भी कहा है—

तन धन जन बल रूप को गरब करौ जनि कोय ।
को जाने विधि गति रतन छन में कछु-कछु होय ॥[४]

धन के सम्बन्ध में कुछ अन्य बाते भी संक्षेप में देखी जा सकती हैं । धन कृपणों के यहाँ रहता है—

नेह करति तिय नीच सों धन किरपन घर माहिं ।
बरसै मेंह पहाड़ पै कै ऊसर बरसाहि ॥[५]

धन का उचित उपयोग व्यय तथा दान है—

खायो जाय जो खाय रे दिया जाय सो देह ।
इन दोनों से बचै जो सो तुम जानो खेह ॥[६]

इसके बाद जो पैसा जोड़कर रखा जाता है वह मिट्टी के बराबर है । पर बिहारी इसके उलटे कहते हैं—

मीत न नीत गलीत ह्वै जो धन धरिये जोरि ।
खाए खरचै जो बचै तो जोरिये करोरि ॥[७]

---

१ वृन्द सत०, ६६० ।
२ रहीम दोहा०, २५ ।
३ वृन्द सत०, ६८७ ।
४ रत्नावली दोहा०, १६० ।
५ वृन्द सत०, ५१७ ।
६ गिरिधर कुण्ड०, १२० ।
७ बिहारी सत०, ६४६ ।

अर्थात् खाने और खर्चने से यदि बचे तो बटोर कर धन रखो। गिरिधर के कथन की अपेक्षा बिहारी का कथन अधिक व्यावहारिक है। संचित धन विपत्ति के समय काम आता है, अतः अवश्य ही असमय के लिए कुछ बटोर कर रखना चाहिये। गिरिधर की दोनों ओर से मोमबत्ती जलाने वाली नीति[1] श्रेयस्कर नहीं कही जा सकती।

वृन्द कहते है कि धन खरचने-खाने से नहीं जाता बल्कि दिल में बुरी भावनाओं के आने पर जाता है :

खरचत खात न जात धन औसर किए अनेक।
जात पुन्य पूरन भये अरु उपजे अविवेक॥[2]

पर ससार को देखते हुए यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। अविवेकी तथा पापी व्यक्ति भी समार मे धनवान है और साथ ही कितने ही लोग खरचने और खाने के कारण ही निर्धन हैं।

धन का व्यय अपनी आय के अनुसार करना चाहिए। जितनी बड़ी चादर हो पैर उतना ही फैलाना उचित है। तुलसी लिखते हैं—

तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती, साधु, सयान।
जो विचार व्यवहरइ जग खरच लाभ अनुमान॥[3]

धन के विषय में नीतिकारों का यह भी कहना है कि इसका स्वभाव छाया की तरह बड़ा विचित्र है। यदि छाया की ओर अभिमुख न होकर उसके उलटे कोई जाय तो वह भी पीछे-पीछे जायेगी पर दूसरी ओर यदि कोई उसकी ओर अभिमुख होकर उसे प्राप्त करना चाहे तो वह भागती जायेगी। तुलसी कहते हैं—

दिये पीठि पाछे लगे सनमुख होत पराय।
तुलसी सम्पति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गँवाय॥[4]

तुलसी की इस बात को पूर्णतः ठीक नहीं कहा जा सकता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बहुत से लोग धन के पीछे पागल रहते हैं, पर उन्हें कुछ भी नहीं मिलता पर दूसरी ओर यह भी कहना अयथा नहीं है कि बिना चाहे और उसके लिए प्रयत्नशील हुए धन नहीं मिलता। किसी अज्ञात कवि की उक्ति है—

---

१ **पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।**
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥

२ **वृन्द सत०**, ६१५।

३ **तुलसी दो०**, ४७१।

४ **वही**, २५७।

पुरुष सिंह जो उद्यमी लक्ष्मी ताकी चेरि ।[1]

धनी—ऊपर धन के सम्बन्ध मे विचार करते समय धनी के सम्बन्ध में भी बहुत सी बातें प्रसंगवश आ गई है। उनके अतिरिक्त भी नीतिकारों ने कुछ बातें कही हैं। धनी व्यक्ति को अपने धन का उचित ढग से उपयोग करना चाहिए। सूम बनकर कौड़ी-कौड़ी जोड़ना व्यर्थ है। ऐसे धन का उपयोग प्रायः चोर ही करते हैं। वृन्द कहते हैं—

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै ले जाय ।
पीछे ज्यों मधु मच्छिका हाथ मले पछताय ।।[2]

धनी लोग प्रायः कृपण या सूम होते हैं। यदि वे ऐसे न हों तो उनका धनी बनना सम्भव नहीं। वृन्द का ही एक दोहा है—

नेह करति तिय नीच सों धन किरपन घर माहिं ।
बरसै मेह पहाड पर, कै ऊसर जल माहिं ।।

धनी व्यक्तियों का संसार आदर करता है। बुद्धिहीन होने पर भी वे आदर पाते है—

निरबुद्धी धनमान कों मानत सकल जहान ।[4]

उनका अवगुण छिप जाता है और गुण प्रकट होने लगता है—

गुन प्रगटै अवगुन दुरै, जाके कमला साथ ।[5]

धनी व्यक्तियों के सभी लोग मित्र बनना चाहते है—

सम्पत्ति में सबकौ सबै, बनहिं मीत अकलेस ।
पिये जलधि कुम्भज लखत बिधि-हरिहर-अमरेस ।।[6]

धनी दो प्रकार के होते हैं। एक तो उच्च कुल के और दूसरे नीच कुल के। उच्च कुल के धनी नम्र होते हैं पर नीच कुल के घमण्डी। वृन्द कहते हैं—

भले बंस कौ पुरुष सो निहुरै बहु धन पाय ।
नवै धनुष सदवंश को जिहिं द्वै कोटि दिखाय ।।[7]

---

१ नीति छन्द० ।
२ वृन्द सत०, ४७७ ।
३ वृन्द सत०, ५१७ ।
४ वृष्टान्त तरंग०, ७३ ।
५ वृन्द सत०, ६८८ ।
६ ब्रज सत० ५८ ।
७ वृन्द सत० ६२१

जान ने भी धनिकों को दो वर्गों में रखा है। एक तो नए धनी और दूसरे पुराने। नए धनी, या जो बहुत दीन दशा के बाद अभी हाल में धनी बने रहते है अधिकतर बड़े घमण्डी होते है—

नए धनेसु जो होत है अमित गर्व तिहि होइ।[1]

तथा

भिच्छक लच्छी पाइ है सूधे परे न पाय।
अनअमली की अमल तें थोरे में सुधि जाय॥[2]

पर दूसरी ओर पुराने धनी नम्र होते हैं—

जौ धनेस है आदि लौ सो ना करत गुमान।
जैसै अमली को अमल नाहिन खोवत ज्ञान॥[3]

धनी व्यक्तियों को दान अवश्य देना चाहिए। यही उनकी शोभा है। वृन्द कहते हैं—

इनकौ मानुष जन्म दै कहा कियो भगवान।
सुन्दर मुख बोल न सकै दे न सकै धनवान॥[4]

इस बात पर सभी नीतिकारों ने बल दिया है कि धनी व्यक्तियों को गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि सर्वदा कोई धनी नहीं रह सकता। जान कहते हैं—

पाँच बात ये जगत में निबहत नाहिं निदान।
लछी सुप दुष रूप छबि तरुनाई कहि जान॥

रहीम धनिकों का मजाक उड़ाते हुए कहते हैं :

थोथे बादर क्वार के ज्यों रहीम घहरात।
धनी पुरुष निर्धन भए करैं पाछिली बात॥[5]

इसका कारण यह है कि धन के बढ़ने के साथ उनका मन भी बढ़ जाता है पर फिर धन घटने पर वह नहीं घटता—

बढ़त बढ़त सम्पति सलिल मन सरोज बढ़ जाय।
घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुंभिलाय॥[6]

---

१ जानः सिषसागर पन्दनावा।
२ वही।
३ वही।
४ वृन्द सत०, ६४८।
५ जानः सिषसागर पन्दनामा।
६ बिहारी सत०, ६४३।

अतः अपनी तुष्टि बात करके ही वे करते हैं। कुछ धनी प्रायः अपनी सीमा का ध्यान नहीं रखते और मनमाना खर्च करते है, जिसका फल यह होता है कि उन्हें कष्ट उठाना पड़ता है। उन्हें अपने धन के अनुसार ही अपनी प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातों को बढ़ाना चाहिए।

छोट वित्त मरजाद बड़ यहु विपत्ति कर खान।[१]

या

धन की सीमा देख कर धनी करहु निज खर्च।[२]

निर्धन—ऊपर धनी तथा धन आदि के बारे में जो कुछ कहा गया है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि निर्धनता बहुत बड़ा अभिशाप है। निर्धन व्यक्ति लाख गुणी हो तथा अच्छे स्वभाव वाला हो फिर भी लोग उसकी प्रतिष्ठा नहीं करते।[३] दीनदयाल लिखते हैं—

निरबुद्धी धनमान को मानत सकल जहान।
लखि दरिद्र विद्वान को जग जन करैं गिलान॥[४]

या

लखि दरिद्र को दूर तें लोग करें अपमान।
जाचक जन ज्यों देखि के भूकत हैं बहु स्वान॥[५]

यही नहीं अपने घर में भी निर्धन का आदर नहीं होता :

निज सदनहुँ नहिं मानहीं निरधन जन को कोय।
धनी जाय पर घर तऊ सुर सम पूजा होय॥[६]

इसीलिए निरधन होकर अपने भाइयों के भी बीच रहना रहीम उचित नहीं मानते—

बरु रहीम कानन भलो बास करिय फल भाग।
बन्धु मध्य धनहीन ह्वै बसिबो उचित न योग॥[७]

---

१ **नीति छन्द०**।

२ **वही**।

३ **कविता कौमुदी भाग १, पृ० ३९९, ४२३ तथा ४०१**।

४ **वही, पृ० ६७०। वृन्द सत०, ६८८**।

५ **दृष्टान्त तरंग०, ७३**।

६ **वही, ३९**।

७ **रहीम दो० २५३। रहीम के इस दोहे का आधार है संस्कृत का प्रसिद्ध श्लोक—**

वरं वनं व्याघ्र गजेन्द्र सेवितं द्रुमालयं पक्व फलाम्बु भोजनं।
तृणानि शय्या परिधान वल्कलं न बंधुमध्ये धनहीन जीवनं॥

सन्त कवियों ने निर्धन तथा निर्धनता को धनी और धनाढ्यता से अच्छा कहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि धनी धन के कारण चिन्तित रहता है पर निर्धन में यह बात नहीं होती। वह निश्चिन्त रहता है। सहजोबाई की एक साखी है—

साहन कूं तो भय घना, सहजो निर्भय रंक।
कुंजर के पग बेड़ियाँ चींटी फिरै निसंक ॥[1]

सूम—कृपण, मूजी या कंजूस को सूम कहते हैं। सूम व्यक्ति अपने धन का उपयोग न तो अपने लिए करता है और न परोपकार या दान आदि के रूप में दूसरे के लिए। इसीलिए उसके धन का उपयोग उसकी मृत्यु के बाद ही सम्भव है—

दाता नर अरु सूम में लखिये भेद इतेक।
देत एक जियतेहिं हरखि देत मरे पर एक ॥[2]

या फिर चोर उसका उपभोग करते हैं—

खाय न खरचै सूम धन चोर सबैं लै जाय।
पीछे ज्यों मधुमच्छिका हाथ मलै पछताय ॥[3]

लोकोक्ति है—

सूम का धन शैतान खाय।

कविवर बांकीदास ने सूमों पर दो स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हैं, जिनके नाम "कृपण पचीसी" तथा "कृपण दर्पण" हैं। उनके अनुसार कृपण में सन्तोष की कमी होती है।[4] चाहे जितना भी धन वह संचित कर ले, उसे सन्तोष नहीं होता। कृपण लोभी[5], मरते समय भी अपने धन मे ही चित्त लगाए रखने के कारण मोक्ष का अनधिकारी तथा सर्पयोनि को प्राप्त होने वाला[6] कहा गया है। साथ ही यश[7] तथा सुख[8] आदि उसके लिए दुर्लभ होते हैं।

सूम का हृदय पत्थर का होता है। दूसरे के दुख का उस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

---

१ सहजो बा०, पृ० ३७।
२ ब्रज सत०, पृ० ४०।
३ वृन्द सत०, ४७७।
४ कृपण दर्पण, ४।
५ वही, २३।
६ वही, १२।
७ कृपण पच्चीसी, १२।
८ वही, १।

घृत लहिये जल मथि बरुक अनल स्रवै बरुनीर ।
पर सपनेहु न सुनि द्रवै, सूम पराई पीर ।।

नीतिकार कवियों ने सूम की सेवा को व्यर्थ कहा है, क्योंकि वे सेवा के बदले पुरस्कृत करना नहीं जानते —

'दास' वृथा जिन साहब सूम की सेवनि में अपनो दिन खोयो ।[२]

तुलसी के शब्दों में सूम से नीति की बात कहना व्यर्थ है । इस भय से कि कहीं उसे कुछ व्यय न करना पड़े वह उसके अनुसार आचरण करना नहीं चाहेगा—

सठ सन विनय कुटिल जन प्रीती ।
सहज कृपिन सन सुन्दर नीती ।।
... .
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा ।
ऊसर बीज बये फल जथा ।।[3]

दीनदयाल गिरि के शब्दों में सूम चाहे कितना भी धन वाला हो उससे कभी कुछ माँगना न चाहिए—

कृपन धनी नहिं जाँचिए वरु निर्धन दातार ।
तजिकै कुसुमित आक अलि करै कमल कुस प्यार ।[४]

सूम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके पास धन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है वह अधिकाधिक सूम होता जाता है । बिहारी कहते हैं—

जेती सम्पति कृपन कों तेती सूमति जोर ।
बढ़त जात ज्यों-ज्यों उरज त्यों-त्यों होत कठोर ।।[५]

दान—किसी को अपनी कोई वस्तु बिना उसके बदले में कुछ लिए या चाहे दे देना दान है । माघ के शब्दों में किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा कर दूसरे का जमा देना दान है ।[६] दान का नीति काव्य में बहुत महत्व गाया गया है । वियोगी हरि अपनी "वीर सतसई" में "दान वीर" के विषय में लिखते हुए दधीचि की अस्थि पर करोड़ों सुमेरु वारने को कहते हैं ।[७] दादू भी दान देने पर बल देते हुए कहते हैं—

---

१ **ब्रज सत०, पृ० ४१ ।**
२ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१० ।**
३ **मानस सूक्ता०, ६६१ ।**
४ **दृष्टान्त तरंग०, ६२ ।**
५ **बिहारी सत० ।**
६ **स्वस्वत्व निवृत्य परस्वत्वोत्पादनंदानम्—माघ ।**
७ **वीर सत०, पृ० ८–४४ ।**

दादू दीया है भला दिया करो सब कोइ ।

वे दान को जग में यशस्वी होने का कारण बतलाते है तथा इसे इस लोक के बाद परलोक में भी साथ जाने वाला मानते हैं—

दीया जग में चाँदना, दीया चाले साथ ।[२]

हिन्दी नीतिकार कवियों के अनुसार दानी व्यक्ति को दान देने के सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए । पहली बात तो यह है कि जो कुछ भी दे प्रसन्न होकर अर्थात् खुशी-खुशी देना चाहिए ।[३] देते समय यदि देने वाला दुख का अनुभव करता है तो वह दान उचित नहीं । दूसरी बात यह है कि बिना माँगे दिया गया दान सर्वोत्तम है । इसीलिए रामचरित उपाध्याय ने "ब्रज सतसई" में ऐसे दाता को दुर्लभ कहा है—

दुर्लभ सो नर जगत में मानव कुल सिर नेत ।
जो बिनु माँगे ही रहे जो बिनु माँगे देत ।।[४]

दान के सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि दान उचित व्यक्ति को दे । उचित व्यक्ति का आशय है ऐसा व्यक्ति जिसे उसकी आवश्यकता हो और साथ ही जो उसका सदुपयोग करे । इस बात पर जमाल[५] तथा वृन्द[६] आदि ने बल दिया है । वृन्द दान को औषधि मानते हैं । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार ठीक तरह से सोच-विचार कर आवश्यकतानुसार औषधि देनी चाहिए उसी प्रकार दान भी । वृन्द लिखते हैं—

दान दीन को दीजिए मिटै दरिद की पीर ।
औषधि बाको दीजिए जाके रोग सरीर ।[६]

पर दूसरी ओर वृन्द ने ही एक ऐसा दोहा भी लिखा है जो इस बात का विरोधी है । वे "दाता" उस व्यक्ति को कहते हैं जो सबको दे—

जो सब ही को देत है दाता कहिए सोइ ।
जलधर बरषत सम विषम थल न विचारति कोइ ।।[७]

बादल भले-बुरे, योग्य-अयोग्य, तालाब (जिसे आवश्यकता न हो) तथा सूखा

---

१ **दादू बानी**, पृ० ४–३७–८ ।
२ **वही** ।
३ **ब्रज सत०**, पृ० ४० ।
४ **वही**, पृ० ३८ ।
५ **जमाल दो०**, ३२
६ **वृन्द सत०**, ४८४ ।
७ **वही**, १०० ।

खेत (जिसे आवश्यकता हो) आदि का ध्यान न रखकर जल बरसाता है। भगवानदीन ने भी अपने एक दोहे में दानी के लिए सुपात्र, कुपात्र के ध्यान को अनावश्यक बतलाते हुए कहा है—

देते समय न सोच तू पात्र, कुपात्र, सुपात्र।
दान सदेच्छा से दिया करे सुपात्र कुपात्र ॥[1]

यह बात तो मान्य हो सकती है कि "दानी को दान सदेच्छा से देना चाहिए पर "कुपात्र, सुपात्र परख कर देने की आवश्यकता नहीं", यह उचित नहीं। एक शराबी को चाहे जितनी भी सदेच्छा से दान दिया जाय वह उसका मद्यपान में ही उपयोग करेगा और दूसरी ओर मान लें कि कोई विचारवान दीन व्यक्ति है और उसके पास अपनी लड़की के विवाह के लिए पैसे नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति को चाहे जिस भावना से दान दिया जाय उसका वह सदुपयोग ही करेगा, अतः दान के विषय में दान पाने वाले की सुपात्रता एवं उसकी आवश्यकता का ध्यान अत्यावश्यक है।

दान के विषय में एक चौथी बात यह भी है कि दान गुप्त रखना चाहिए। दान देकर उसका ढिंढोरा पीटने से दानी के अहं को प्रोत्साहन मिलता है। रत्नावली ने कहा है—

पर हित करि बरनत न बुध गुपत रखहिं दे दान।
पर उपकृति सुमिरत रतन करत न निज गुन गान ॥[2]

यों आज के युग में लोग इस सीख को मानते नहीं। अब तो प्रायः दान इसी-लिए किया जाता है कि समाचार पत्रों में नाम निकले।

घूस—उचित या अनुचित किसी भी अनुकूल कार्य को कराने के लिए दिया गया अनुचित धन (या वस्तु) घूस, अंकोर, उत्कोच या रिश्वत आदि कहा जाता है। घूस समाज के लिए दो दृष्टियों से हानिकर है। एक तो लेने वाले इसके अभ्यस्त होने पर ऐसे हो जाते हैं, कि बिना कुछ पाए उचित से उचित काम भी नहीं करते, अतः उचित कामों के होने में बाधा पड़ती है। दूसरी ओर घूस खिलाकर अनुचित काम कराने वाले भी जब इससे लाभान्वित होने लगते हैं तो अनुचित काम करवाने का उनका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार घूस से उचित के पथ में व्यवधान खड़ा होता है और अनुचित को प्रोत्साहन मिलता है। हिन्दी नीति काव्य में घूस का विरोध किया गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। घाघ अंकोर खाने वाले को गहरे समुद्र में बोरने का आदेश देते हैं—

---

१ भगवानदीन : नीति के दोहे।

२ रत्नावली दो०, १८२।

नारि करकसा कट्टर घोर।
हाकिम होइके खाइ अँकोर।
कपटी मित्र पुत्र है चोर।
घघ्घा इनको गहिरे बोर॥[1]

ऋण—ऋण का लेना और देना दोनों बुरा है। ऋण लेने वाला इसका अभ्यस्त हो जाने पर धीरे-धीरे इससे लद कर अपना सर्वनाश कर बैठता है और दूसरी ओर ऋण देने वाला ऋण देकर लोगों से व्यर्थ में शत्रुता मोल लेता है। हिन्दी नीति काव्य में कई रूपों में ऋण का उल्लेख है। रत्नावली कहती है कि अपने सगों से ऋण का व्यवहार अर्थात् ऋण लेना या देना दोनों ही अनुचित हैं। इससे प्रेमभाव नष्ट हो जाता है—

स्वजन सषी सों जनि करहु कबहूँ ऋन व्यवहार।
ऋन सों प्रीति प्रतीति तिय रतन होति सब छार॥[2]

पर यह तो सिद्धान्त की बात है। इसे मानते हुए भी समय-असमय ऋण लेना और देना पड़ता है। जान कहते हैं कि ऋण के सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखें। एक तो यह कि जो कोई भी ऋण माँगे, उसे न दे दें। और यदि दें भी तो उसकी पुनप्राप्ति के लिए लड़ाई न करे।

सब काहू कौं भूल के करज दीजिए नाहिं।
दीजै तो ना कीजिए झगरौ आपुन माहिं॥[3]

तुलसी कहते है कि अधिक ब्याज पर ऋण कभी न ले, यह दुख का कारण होता है—

पाही खेती लगन बड़ि ऋण कुब्याज मगु खेत।
बैर आपु ते बड़न ते कियो पाँच दुख देत॥[4]

बहुत से लोग किसी से स्वय ऋण लेकर दूसरों को ऋण देते है। घाघ ने इसका विरोध किया है—

उधार काढ़ि व्यौहार चलावै छप्पर डारै तारो।
सारे के संग बहिनी पठवै तीनिउँ का मुँह कारो॥[5]

---

१ **घाघ और भड्डरी**, ४०।
२ **रत्नावली दो०**, १४७।
३ **जान, पन्दनामा**।
४ **तुलसी सत०**, ७. ११४।
५ **घाघ**।

ऋण लेने के अभ्यस्त व्यक्ति बड़े बेशरम हो जाते हैं। वे किसी दूसरे की "अरज-गरज" नहीं सुनते। रहीम ने ठीक ही कहा है—

अरज गरज माने नहीं रहिमन ये जन चारि।
रिनिया राजा, माँगता, काम आतुरी नारि।[1]

माँगना—यों तो संसार में शायद ही कोई ऐसा हो जिसे कभी भी किसी दूसरे से कुछ न माँगना पड़ा हो, पर यह होते हुए भी "माँगना" बुरा ही कहा जाता है। रामचरित उपाध्याय, रहीम, वृन्द तथा कवि किंकर आदि बहुत से नीति के कवियों ने बड़े बल के साथ इसका विरोध किया है। रहीम "माँगने" और "मरने" को बराबर कहते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।[2]

वृन्द के शब्दों में "माँगना" संसार में सबसे बुरा है और इसीलिए माँगने वाले को बड़ा से बड़ा होने पर भी मंगन रूप में अत्यन्त क्षुद्र बनना पड़ता है। वह "बलि वामन" की कथा की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कहते हैं—

सब तें लघु है माँगिबो यामें फेर न सार।
बलि पै जाँचत ही भये बामन तन करतार॥[3]

इसी बात को रहीम ने अपने ढंग से व्यक्त किया है—

रहिमन याचकता गहै बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो बावन आँगुर गात॥[4]

माँगने से स्वाभिमान घट जाता है अतः इसे स्वाभिमान-विरुद्ध कहा गया है—

स्वाभिमान प्रतिकूल है मांगन पर से मीत।[5]

माँगने में अपमान भी है :

माँगिवो तें अपमान अवस्थहिं मैंने विचार कियो मनमाहीं।[6]

पर, माँगने को बुरा मानते हुए भी नीतिकारों ने यह कहा है कि यदि कभी आवश्यकतावश माँगना ही पड़े तो अच्छे व्यक्तियों को सूम और नीच से नहीं माँगना चाहिए—

---

१ रहीम दो०, १०।
२ रहीम दो०, २४०।
३ वृन्द सत०, २२०।
४ रहीम दोहा०, २२४।
५ नीति छन्द०।
६ सुधा सरोवर, पृ० ५४।

साधु न जाँचत कृपिन सों परै विषम जो भीर।
बिन घन काहु न जाँचही, चातक प्यासे नीर ॥[1]

माँगने के विषय में एक अन्य बात का भी ध्यान आवश्यक है। मान लें जिससे हम माँगना चाहते हैं वह सूम या नीच न होकर अच्छा व्यक्ति है, पर यदि उसके पास हमारी अभीप्सित चीज नहीं है तो भी माँगना व्यर्थ है। अतः माँगने के पूर्व इस बात का भी विचार आवश्यक है कि उस व्यक्ति के पास माँगी जाने वाली वस्तु है भी या नहीं—

देखि ठिकानो माँगिये माँगे मिलै जु होय।
मुनि घर भीतर काँगही ढूंढ़े लहत न कोय ॥[2]

देना—देने के विषय में नीति के कवियों ने प्रधान रूप से एक ही बात पर बल दिया है और वह यह कि किसी के द्वारा कुछ माँगे जाने पर यथासाध्य इनकार नहीं करना चाहिए। रहीम के शब्दों में 'माँगना' एक अत्यन्त क्षुद्र काम है, पर किसी के द्वारा माँगे जाने पर न 'देना' उससे भी बुरा है—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुये जिन मुख निकसत नाहिं ॥[3]

"दान" का भी देने से ही सम्बन्ध है। इस विषय में नीति साहित्य मे वर्णित बातें 'दान' शीर्षक के अन्तर्गत अन्यत्र दी गई है।

बुद्धि, बुद्धिहीन और बुद्धिमान—मनुष्य बुद्धि-प्रधान प्राणी है। अपने बौद्धिक विकास के कारण ही वह सुख-समृद्धि का भोक्ता बना हुआ है, एवं सारे जीवों में श्रेष्ठ है।

बुद्धि की इसी महत्ता के कारण नीति के कवियों ने बुद्धि और बुद्धिमान की प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में अनेक प्रकार से प्रशसा की है और इसके विरुद्ध बुद्धिहीन या मूर्ख की निन्दा की है।

बुद्धिहीन व्यक्ति इस संसार के लिए भार तुल्य है। वह न तो अपने को सुखी रख पाता है और न दूसरों का भला कर पाता है। इस प्रकार उसका संसार में आना और न आना बराबर है। वह गुणों को न तो पहचानता ही हैं और न उनका आदर ही

---

१ **वृष्टान्त तरंग०**, ४।
२ **वृन्द सत०**, ३२८।
३ **रहीम दोहा०**, २४०।

करता है।[1] उसके लिए ज्ञान या ज्ञान की बात लाभकर न होकर विष का काम करती है।[2] इसीलिए नीतिकारों ने मूर्खों को अच्छी बात, उपदेश, विद्या या गुण के लिए कुपात्र कहा है।[3] मूर्ख इतने जड़ होते हैं कि मनुष्य क्या स्वयं ब्रह्मा भी उन्हें ज्ञान देना चाहें तो नहीं दे सकते। तुलसी का इस विषय का प्रसिद्ध सोरठा है—

फूलै फरै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरंचि सिव॥[4]

फिर भी वे अपनी बुद्धि को बड़ी समझते हैं।[5] अपने अवगुण उन्हें नहीं सूझते पर दूसरों के अवगुणों की वे निन्दा करते फिरते हैं।[6]

रामचरित उपाध्याय ने बुद्धिहीनों के आठ लक्षण कहे हैं :

विधि निषेध नहिं जानहीं कुवचन गरब बिरोध।
अपकारी क्रोधी निलज लच्छन आठ अबोध॥[7]

आग लगने पर कुआँ खोदना,[8] दूसरों द्वारा ठगा जाना,[9] व्यर्थ में दूसरों की चर्चा करना,[10] यों ही लोगों को कटु बचन कहना,[11] बड़ों की निन्दा करना पर छोटों को शीश झुकाना[12] आदि मूर्खों के अन्य लक्षण नीतिकारों द्वारा कहे गए हैं।

बुद्धिहीनों के दोष-दर्शन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि उपर्युक्त दोषों का न होकर इनके विरुद्ध गुणों का होना बुद्धिमानों के लक्षण हैं। नीतिकारों ने कुछ अन्य बातें भी बुद्धिमानों के लिए कही हैं। बुद्धिमान सज्जनों के दुख पर द्रवित होकर उन्हें मुक्त करा देते हैं पर दुष्टों पर यह दया नहीं दिखलाते—

---

१ बाबू बानी, पृ० ६५।
२ जान : सिषसागर पन्दनावा।
३ तुलसी दोहा० ४१४; वृन्द सत० ५३, ५१; बाबू बानी, पृ० २३१, २८-९; मतिराम सत०, १७२।
४ तुलसी दोहा०, ४८४।
५ वही ४८५।
६ जान : सिषसागर पन्दनावा।
७ ब्रज सत० ४७।
८ सुधा सरोवर, पृ० ५८।
९ गिरिधर कुण्ड, ११९।
१० वही, १६७।
११ ब्रज सत०, १९२।
१२ वही, १००।

परै बिपति में दुष्ट कौं मोचत नाहिं प्रवीन।
बंधन तें अहि छुटि धरै करै प्रान ते हीन ॥[1]

बुद्धिमान लोग सज्जनों की सभा में नहीं जाते, क्योंकि वहाँ उनका आदर नहीं होता।[2] साथ ही वे दुष्टों का साथ या विश्वास नहीं करते,[3] मूर्खों के सामने चुप रहते हैं,[4] उनके कटु वचन पर ध्यान नहीं देते,[5] तथा सोच-विचार कर लाभ के अनुसार ही व्यय करते हैं।[6] "अग्रसोची सदा सुखी" वाले सिद्धान्त के अनुसार वे अपना हर एक पग बहुत सोच-समझ कर उठाते है और कोई भी काम हड़बड़ी[7] से नहीं करते।

बुद्धिमान और बुद्धिहीन के अतिरिक्त भी स्वतन्त्रतः बुद्धि के विषय में नीति साहित्य में यत्र-तत्र कुछ बातें कही गई हैं, जिनमें से तीन उल्लेख्य हैं। बुद्धि ही मनुष्य की पथप्रदर्शिका है अतः उसी के अनुसार सभी अपने काम या बात आदि करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी के करने या कहने का विचार उसकी बुद्धि पर विचार करके करना चाहिए। रहीम ने ठीक ही कहा है—

जैसी जाकी बुद्धि है तैसी कहै बनाय।
ताकौ बुरो न मानिए लैन कहाँ सों जाय ॥[8]

चिन्ता बुद्धि की परीक्षा है,[9] अर्थात् वही बुद्धि बुद्धि है जो चिन्ता के अवसरों पर घबराती नहीं और अपने लिए उचित रास्ते का निर्णय कर लेती है। पर इसकी भी एक सीमा है। बुद्धि तभी तक अपना उचित कार्य करेगी जब तक उसके लिए सम्भव है। विनाशकाल या विपत्ति के उपस्थित होने पर वह उलट जाती है। संस्कृत की लोकोक्ति है—

विनाशकाले विपरीत बुद्धिः

१ दृष्टान्त तरंग०, १०।
२ वही, २३।
३ वही, ३६।
४ ब्रज सत०, १०७।
५ ब्रज सत०, १९२।
६ तुलसी दो०, ४७१।
७ सोच समझ कर पग धरै चाहे लघु ही काम।
करैं कभूँ नहिं हड़बड़ी बुध उनका ही नाम ॥ नीति छन्द०।
८ रहीम दो०, ७१।
९ चिन्ता बुद्ध परेखिए, रहीम दो०, ५७।

वृन्द ने भी लिखा है—

मति फिरि जाय बिपत्ति में राव रंक इक रीत।
हेम हिरन पाछे गए राम गंवाई सीत ।।[१]

विद्या—व्यक्तित्व के विकास के लिए विद्या सबसे बड़ा साधन है। इसके सहारे 'दुर्जन', 'सज्जन' और 'छोटे', 'महान्' बन जाते है।

विद्या ही संसार में उन्नति को सोपान।
कुजन सुजन ह्वै जात है लघु जन होंय महान ।।[२]

विद्या बिना मानव जीवन व्यर्थ कहा गया है। रूप, यौवन और कुल आदि सभी दृष्टियों से पूर्ण होते हुए भी मनुष्य की बिना विद्या के शोभा नहीं होती।

विद्या बिनु सोहै नही छबि जोबन कुल मूल।
रहित सुगन्ध सजै न बन जैसे सेमल फूल ।।[३]

विद्या सबसे बड़ा धन है।[४] अन्य धन व्यय करने से घटते है, पर विद्या के सम्बन्ध में बात उलटी है। इसे जितना ही व्यय किया जाय इसकी वृद्धि होती जाती है। वृन्द कहते हैं—

सुरसति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै बिन खरचे घटि जात।[५]

संस्कृत का एक श्लोक है जिसका भाव यह है कि विद्या ऐसा धन है जिसे न तो चोर चुरा सकता है और न राजा ले सकता है।[६] दीनदयाल गिरि भी इसी स्वर में कहते हैं—

नहिं धन धन है बुध कहैं विद्या वित्त अनूप।
चोरि सकै नहिं चोरऊ छोरि सकै नहिं भूप ।।[७]

जैसा कि ऊपर वृन्द के उदाहरण में कहा गया है, व्यय न करने से विद्या घट जाती है। आशय यह है कि विद्यार्जन के बाद यदि आदान-प्रदान या पठन-पाठन द्वारा

---

१ वृन्द सत०, ५९२।
२ सदाचार सोपान, ३०।
३ दृष्टान्त तरंग०, १२०।
४ वही, ३१।
५ वृन्द सत०, ६०६।
६ न चौर चौर्यं न राजहार्यं न भ्रातृ भाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्द्धत एव नित्यं, विद्या धनं सर्वधनं प्रधानम् ।।
७ दृष्टान्त तरंग०, ९६।

उसका अभ्यास न रखा जाय तो वह धीरे-धीरे विस्मरण होने लगती है। तुलसीदास अन्य कई चीजों के साथ विद्या के विषय में भी कहते हैं—

मंत्र तंत्र, तंत्री, त्रिया, पुरुष, अश्व, धन, पाठ।
प्रतिगुण योग वियोग से तुरत जाहि ये आठ ॥[1]

अतः पठित विद्या को संचित रखने के लिए उसका अभ्यास अत्यावश्यक है।

विद्या के सम्बन्ध में कुछ बड़ी विचित्र बातें देखने में आती हैं। अच्छे या सज्जन तो विद्या के कारण विनयी हो जाते है,[2] पर इसके विरुद्ध दुष्टों में उसके कारण गर्व की वृद्धि होती है—

खल जन को विद्या मिलै दिन दिन बढ़ै गुमान।
बढ़ै गरल बहु भुजग को जथा किए पय पान ॥[3]

इसीलिए नीतिकारों ने दुष्टों, नीचों और मूर्खों को विद्या का अधिकारी नहीं माना है। वृन्द कहते हैं—

मूरख को पोथी दई बाँचन को गुन गाथ।
जैसे निर्मल आरसी दई अंध के हाथ ॥[4]

एक और भी दोहा है—

सज्जन विद्या गुनवती, दुर्जन विद्या सूल।
जिमि नीरज करियारि को दियो ईस ने फूल ॥[5]

आशय यह है कि विद्या सज्जन को गुणवान बनाती है पर दुर्जन इसे पाकर दूसरों के लिए शूल बन जाते है। कमल और करियारी दोनों ही पौधों को भगवान ने फूल दिया पर कमल का फूल (उसकी सुगन्ध तथा सौन्दर्य) सबके लिए सुखद है तो करियारी का फूल (करियारी का फूल जहरीला होता है) सब के लिए दुखद है।

विद्वान व्यक्ति प्रायः निर्धन देखे जाते है। लोगों का विश्वास है कि लक्ष्मी (धन) और सरस्वती (विद्या) में बैर है। वृन्द कहते हैं—

कहा कहौं बिधि की अविधि भूलै परम प्रवीन।
मूरख को सम्पति दई, पंडित सम्पति हीन ॥[6]

---

१ तुलसी सत०, ७२०।
२ विद्या ददाति विनयं।
३ दृष्टान्त तरङ्ग०, १०२।
४ वृन्द सत०, ५३।
५ नीति छन्द०।
६ वृन्द सत०, ६४६।

तथा

विद्या लक्ष्मी पुरुष पै होय नहीं इक ठाँय।
नाहिन सुख द्वै सौति में पिय पै एकहिं जाय ॥[1]

विद्या इतनी प्रशंसित होते हुए भी भक्तों के लिए ईश्वर के प्रेम के बिना व्यर्थ है। उनकी दृष्टि में उसी विद्या का महत्व है जिसके कारण मन भगवद्भक्ति की ओर अभिमुख हो। कबीर कहते हैं—

चारिउ बेद पढ़ाइ करि हरि सू न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया पंडित ढूँढ़ै खेत ॥[2]

गुण—यों तो गुण के कई अर्थ होते हैं पर यहाँ हम गुण का प्रयोग उस विशेषता या अच्छाई के लिए कर रहे हैं जिसके कारण कोई पदार्थ या व्यक्ति औरों की अपेक्षा अच्छा माना जाना है। गुण का गुणगान सर्वत्र ही मिलता है। हिन्दी नीति काव्य भी उसका अपवाद नहीं है। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

गुण के गाहक सहस नर बिनु गुण लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ॥
शब्द सुनै सब कोय कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को यह रंग काग संग भए अपावन ॥
कह गिरिधर कविराय सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुण लहैं न कोय सहस नर गाहक गुण के ॥[3]

हिन्दी नीति काव्य में गुण के कारण होने वाले बहुत से लाभों का उल्लेख है। आयु में छोटा होने पर भी गुणी व्यक्ति आदर पाता है,[4] तथा अपवित्र[5] एवं छोटे कुल या नीच घर[6] का होने पर भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। बिना गुण के किसी ऊँचे पद पर बैठना निरर्थक है[7] पर दूसरी ओर गुणी व्यक्ति यदि छोटे स्थान पर भी होता है तो उस स्थान की शोभा बढ़ जाती है।[8]

---

१ वृन्द सत०, ६८७।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३६।
३ गिरिधर कुण्ड०, २७।
४ वृन्द सत०, ६७६।
५ तुलसी दो०, ३७०।
६ ब्रज सत०, ७६।
७ वृन्द सत०, १६६।
८ वृन्द सत०, ५१८।

गुण जितना ही अच्छा होता है उसे सीखना प्रायः उतना ही श्रमसाध्य होता है। वृन्द कहते है कि बिना कष्ट सहै कोई गुणी नहीं बन सकता। गुणी बनना या गुण सीखना एक साधना है।

दुख पाये बिनहूँ कहूँ गुन पावत है कोइ।
सहै बेध बन्धन सुमन तब गुन संयुत होइ ॥[1]

नीतिकारों का कहना है कि गुण अच्छा है पर उसे पहिचानना तथा उसका आदर करना सभी का काम नहीं। गुणवाले या गुणज्ञ ही इसे कर सकते हैं। दास ने कहा है—

पंडित पंडित सों मुख मंडित सायर सायर कै मन माने।
संतहि संत अनन्त भलौ गुनवन्तहि कों गुनवन्त बखानै ॥[2]

इसीलिए नीतिकारों ने कहा है कि मूर्ख यदि आदर न करे तो गुणियों को निराश नहीं होना चाहिए।

मूरख गुन समुझै नहीं तौ न गुनी में चूक।
कहा भयो दिन को बिभौ देखी जौ न उलूक ॥[3]

कबीर ने भी कहा है—

जब गुण कूं गाहक मिलै तब गुण लाख बिकाइ।
जब गुण कौ ग्राहक नहीं तब कौड़ी बदलै जाइ ॥[4]

हिन्दी नीति काव्य में गुण के सम्बन्ध में एक विचित्र बात का उल्लेख है जिसकी ओर सामान्यतः लोगों का ध्यान नहीं जाता। गुण अच्छी चीज है और उसके कारण गुणी का आदर होता है, पर साथ ही कभी-कभी गुण गुणी के लिए दुख का कारण भी होता है। रामचरित उसाध्याय कहते हैं—

निज गुनहूँ कहुँ देखिए दुखद होत निरधार।
तेहि घोड़े पर सब चढ़े जो सुठि धावनिहार ॥[5]

वृन्द तोते का उदाहरण लेते हुए यही बात कहते हैं—

कहूँ कहूँ गुन तें अधिक उपजत दोष सरीर।
मधुरी बानी बोलि कै परत पींजरा कीर ॥[6]

---

१ वृन्द सत०, ६७०।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०६।
३ वृन्द सत०, १४१ तथा ४५६
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७८।
५ ब्रज सत०, पृ० ५२
६ वृन्द सत०, ४४८। लोकोक्ति भी है 'न नीक गीत गाइब, न दरबार बोलाबल [illegible]'।

नीतिकारों ने गुणज्ञ लोगों को इस बात का ध्यान रखने को कहा है कि दुष्टों के पास गुण न जाय, अर्थात् उन्हें न सिखाया जाय। गुण उनके पास जा कर उलटा फल देने लगता है—

उत्तम गुनि नहिं भूलिकै दीजै अधमिन हाथ।
पा उलटौ मिलि जात ज्यों भसमासुर पसुनाथ॥[1]

आशय यह है कि गुण अच्छी चीज है पर उसके पात्र सभी नहीं हो सकते।

दोष—दोष गुण का उलटा है। संसार गुण-दोषमय कहा गया है। इसमें गुण के साथ दोष भी हैं। तुलसी की एक पंक्ति है—

अंतहु कींच तहाँ जहँ पानी।[2]

पर उसके होने का आशय यह नहीं कि वह श्लाघ्य या ग्रहणीय है। दोषों से बचने का उपदेश नीतिकारों ने दिया है—

जड़ चेतन गुन दोष मय बिरच कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥[3]

दोषी या दुर्गुणी की नीति साहित्य में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूपों में बड़ी निन्दा की गई है। रहीम लिखते हैं कि उसका दुर्गुण कभी नहीं जाता—

रहिमन लाख भली करौ अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियत हु साँप सहज धरि खाय॥[4]

साथ ही उसके संग से दूसरों में भी उसके दुर्गुण चले जाते हैं, इस प्रकार वह संसार में विष का फैलाने वाला है।[5]

किसी में यदि कोई एक भी बड़ा दोष हो तो उसके कारण उसके गुणों का भी प्रायः नाश हो जाता है या कम से कम उनका महत्व नहीं रह जाता। दीनदयाल गिरि लिखते हैं—

आये औगुन एक के गुन सब जाय नसाय।
जथा खार जल रासि को नहिं कोऊ जल खाय॥[6]

कुछ लोग अपने दोष या अवगुण को छिपाना चाहते हैं। नीति साहित्य में

---

१ **ब्रज सत०, पृ० ५७।**

२ **मानस २, १८२।**

३ **वही, १. ६।**

४ **रहीम दो०, २३५।**

५ **अन्यत्र "संग" शीर्षक में संसर्ग से दोष-गुण से प्रभावित होने के बहुत से उदाहरण दिए जा चुके हैं।**

६ **दृष्टान्त तरंग०, १३४।**

इसका भी विरोध किया गया है। दोष को छिपाने वालों में, दोष के अतिरिक्त उसे छिपाने का भी दोष रहता है, साथ ही अन्ततोगत्वा उनका दोष प्रकाश में आ ही जाता है और तब उनकी स्थिति उनके ढोंग के कारण और भी दयनीय हो जाती है। इसके विपरीत अपने दोष को न छिपाने वाले छिपाने वाले की अपेक्षा अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। भगवानदीन लिखते हैं--

बंसी छिद्र न छाँकती पाती चुम्बन प्यार।
छिद्र छिपाती ढोलकी इससे खाती मार॥[1]

कुछ लोग अपने दोषों की ओर तो ध्यान नहीं देते पर दूसरों के दोषों को दिखलाते फिरते हैं या उनकी आलोचना करते हैं। रत्नावली कहती है—

रतन न पर दूषन उगटि आपन दोषनिवार।
तोहिं लखें निरदोष वे दें निज दोष बिसारि॥[2]

कुछ लोगों की दृष्टि में दोष या दुर्गुण कभी-कभी शोभा का भी कारण हो जाता है। वृन्द ने लिखा है—

इक गुन तें शोभा लहैं इक अवगुन अवरोह।
सोभ उरोजन पीनता त्यों कटि कृसता सोह॥[3]

यहाँ वृन्द का कथन उचित नहीं कहा जा सकता। "कृशता" अपने आप में बुरी या भली नहीं है। स्थानानुसार वह गुण या दुर्गुण के अन्तर्गत आती है। इसका इतना ही आशय हो सकता है कि कुछ भी अपने आप में बुरा या अच्छा न हो कर स्थान के अनुसार होता है।

इस दृष्टि से दोष या दुर्गुण और साथ ही गुण के सम्बन्ध में तथ्य की बात यह है कि अधिकतर बातें या चीजें आदि स्थान, समय या अधिकारी आदि के अनुसार ही अच्छी या बुरी होती है। स्वतन्त्रतः या अपने आप में नहीं। बुरे या भले के लिए व्यवहृत होने में अधिकता के आधार पर ही उसे बुरा या भला, या गुण या दुर्गुण की संज्ञा देते हैं। यों इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं।

बल—"जाकी लाठी वाकी भैंस" की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। संसार में प्रायः बल का ही बोलबाला है। बलवान के सभी लोग मित्र, साथी और सहायक होते हैं पर इसके विरुद्ध निर्बल पर सभी जोर दिखलाते हैं। वृन्द ने लिखा है—

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय॥[4]

---

१ **नीति के दोहे**।
२ **रत्नावली दोहा०**, ८६।
३ **वृन्द सत०**, ४३२।
४ **वही**, ५६।

तथा

कछु बसाय नहिं सबल सों करै निबल पै जोर।
चलै न अचल उखारि तरु डारत पवन झकोर ॥[1]

यह तो मनुष्यों की बात है। संस्कृत की लोकोक्ति है—

दैवो दुर्बल घातकः

अर्थात् प्रकृति या ईश्वर भी दुर्बलों के लिए ही घातक है।

दीनदयाल गिरि भी लिखते हैं—

सुरहूँ निरबल कों हनै नहिं एकै नर जान।
सिंह बाघ वृक छोड़िकै लेत छाग बलिदान ॥[2]

यही नहीं 'सजीवों' की तो बात ही क्या 'निर्जीव' रोग भी निर्बलों को ही दबाता है। बिहारी कहते हैं—

कहैं इहै सब स्रुति समृति, इहै सयानै लोग।
तीन दबावत निसक ही पातक राजा रोग ॥[3]

तुलसी कहते हैं कि निर्बलों के लिए संसार में रहना कठिन है। उन्हें खाने के लिए हर जगह कोई न कोई है—

सहबासी काचो गिलहिं पुरजन पाक प्रवीन।
काल छेप केहि मिलि करहिं तुलसी खग मृग मीन ॥[4]

ऐसी स्थिति में निर्बल को चाहिए कि सबल से मैत्री बनाए रखे। इसके विरुद्ध करने पर उसका रहना असम्भव है—

कैसे निबहैं निबल जन करि सबलन सों बैर।
रहिमन बसि सागर बिषै करत मगर सों बैर ॥[5]

संसार की यह निर्बल को बलवान द्वारा सताए जाने की रीति अच्छी नहीं है। कबीर इसका विरोध करते हुए कहते हैं—

---

१ वृन्द सत०, ५७।

२ वृष्टान्त तरंग०, ७८।

३ बिहारी सत०, ६३४।

४ तुलसी दोहा०, ४०४।

५ रहीम दो०, ४२; वृन्द सतसई में मिलता है—
कैसे निबहै निबल जन करि सबलन सों बैर।
जैसे बस सागर बिषै करत मगर सों बैर ॥ वृन्द सत०, १६।

दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी आह।
बिना जीव की स्वांस ते लोह भस्म ह्वै जाय ॥[1]

निर्बलों के विषय में कुछ और बातें भी हिन्दी नीति-काव्य में दी गई हैं। उदाहरण के लिए निर्बलों को आपस में मेल से रहना चाहिए। इससे वे बली हो जाते हैं—

निर्बल हू दल बाँधिके सबलहिं देत हराय।
ज्यों सींगन सों गाय गन बनपति देत भगाय ॥[2]

निर्बल की शरण में जाना उचित नहीं। गिरिधर कहते हैं—

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामे मा सोय।
छाह न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय ॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जो दिन बहै बयार टूट तब जर से जैहै ॥
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे की गहिये।
पत्ता सब झरि जाय तऊ छांहें मा रहिये ॥[3]

बल गर्व का कारण है। बलशाली व्यक्ति प्रायः गर्वीले होते हैं। नीति साहित्य में इसका विरोध किया गया है—

तन, धन, जन बल रूप को गरब करौ जनि कोय।
को जानै विधि-गति रतन छन में कछु कछु होय ॥[4]

बल के नशे में व्यक्ति बहुत से अनुचित काम भी कर डालता है। इसीलिए विवेकशून्य बली को नीति साहित्य में पशु के समान कहा गया है—

तरुनाई धन देह बल, बहु दोषनु आगार।
बिनु विवेक रतनावली पसु सम करत विचार ॥[5]

भोजपुरी में बल पर एक बड़ी सुन्दर लोकोक्ति है—

अपना घरे कुकुरो बरियार।

---

१ सूक्ति सुधा पृ० ६। इस दोहे का एक और पाठ प्रचलित है :
निर्बल को न सताइए जाकी मोटी आह।
मरी खाल के साँस से लोह भसम ह्वै जाय।

२ दुलारे दो०, १७५।

३ गिरिधर कुण्ड०, ४२।

४ रत्नावली दो०, १६०।

५ वही, ८४।

अर्थात् अपने घर पर कुत्ता भी बलशाली होता है। आशय यह है कि अपने घर निर्बल भी बलवान हो जाता है। रामचरित उपाध्याय भी कहते हैं--

को नहिं अपने थल बली होय छीन कै पीन।
मृगराजहु जल मांहि ज्यों धरि न सकत लघु मीन ॥[1]

सौन्दर्य—सौन्दर्य के विषय में कहते हुए नीति कवियों ने सब से अधिक बल इस बात पर दिया है कि जवानी की भाँति ही सौन्दर्य भी क्षणिक है, अतः इस क्षणिक धन का अभिमान नहीं करना चाहिए। दुलारेलाल भार्गव कहते हैं—

बात भूलि रे फूल यों निज श्री भूलि न फूलि।
काल कुटिल कौ कर निरखि मिलन चहत तैं धूलि ॥[2]

रत्नावली ने भी कहा है—

तन धन जन बल रूप को गरब करौ जिन कोय।
को जानै बिधि गति रतन छन में कछु-कछु होय ॥[3]

कबीर भी कहते हैं—

कबीर गरब न कीजिए देही देखि सुरङ्ग।
आजु कालि तजि जाहुगे ज्यों काँचुरी भुअङ्ग ॥[4]

सौन्दर्य को भी जवानी की भाँति ही बुराई का घर कहा गया है। अतः सुन्दर व्यक्ति को विवेक से काम लेना चाहिए—

तरुनाई धन देह बल, बहु दोषनु आगार।
बिनु बिबेक रतनावली पसु सम करत विचार ॥[5]

सौन्दर्य या रूप के सम्बन्ध में जमाल ने कहा है कि यह उधार माँगने से नहीं मिलता। इसका अर्थ यह है कि यह स्वाभाविक वस्तु है, जिसे मिल गया मिल गया। अपने अधिकार की चीज़ नहीं।

सोना बया न नीपजै मोती लगै न डाल।
रूप उधारा ना मिलै भूलै फिरौ जमाल ॥[6]

सौन्दर्य के विषय में एक बात और भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यद्यपि उसकी

---

१ ब्रज सत०, पृ० ४६।

२ दुलारे दोहा०, १५४।

३ रत्नावली दोहा० १६०।

४ कबीर ग्रन्थ, पृ० २५२।

५ रत्नावली दोहा० ८४। जिमरमेन ने भी कहा है : Beauty is worse than wine; it intoxicates both holder and beholder.

६ जमाल दोहा०, ३६।

ओर कम नीतिकारों का ध्यान गया है। प्रेम के कारण असुन्दर वस्तु भी सुन्दर हो जाती है। कहा जाता है कि लैला बड़ी कुरूपा थी पर प्रेम के कारण ही मजनू के लिए वह अभूतपूर्व सुन्दरी थी। फारसी की भी कहावत है—

लैला रा बचश्म मजनू बायद दीद।

अर्थात् लैला का सौन्दर्य देखना हो तो मजनू की आँखों से देखो।

रसनिधि अपने रतन-हजारा में इसी बात की ओर लक्ष्य करते हुए कहते हैं-

चसमन चसमा प्रेम कौ पहिले लेउ लगाइ।
सुन्दर मुख वह मीत कौ तब अवलोकौ आइ ॥[1]

सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक और दोहा द्रष्टव्य है—

समय-समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
जाकी जैसी भावना ताको तैसा होय ॥[2]

अर्थात् समय और भावना पर ही किसी वस्तु या व्यक्ति का सुन्दर होना निर्भर करता है।

उपर्युक्त दोनों दोहों में कही गई बातें आंशिक रूप में ही मान्य हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि व्यक्ति या पदार्थ समय और भावना से अलग भी सुन्दर होता है। हाँ, यह अवश्य है कि इन दोनों के साथ असुन्दर भी सुन्दर हो जाता है या सुन्दर अधिक सुन्दर जान पड़ता है।

स्वभाव—स्वभाव या प्रकृति में व्यक्तित्व की गुण, अवगुण, बान तथा मनोवृत्ति आदि बातें आती है। स्वभाव का निर्माण मोटे रूप से दो अंशों से होता है। एक तो सहजात वृत्तियाँ और दूसरे आयु के बढ़ने के साथ-साथ वातावरण का प्रभाव। वातावरण के प्रभाव के कारण ही मनुष्य भाँति-भाँति के अभ्यासों की ओर झुकता है और तरह-तरह की आदतें पकड़ता जाता है।

स्वभाव के विषय में हिन्दी के नीति-कवियों ने प्रमुखतः दो प्रकार की बातें कही हैं। प्रथम के अनुसार स्वभाव अपरिवर्तनीय है। भूपति लिखते हैं—

जाकी जौन परी हिए नहिं छूटे वह बाक।
जटित हैम के साज गज तऊ चढ़ावत खाक ॥[3]

तुलसी कहते हैं कि अच्छे लोग अपनी अच्छी बातें नहीं छोड़ते और बुरे लोग अपनी बुरी बातें नहीं छोड़ते—

---

१ रतन-हजारा ६०८।
२ नीति छन्द०।
३ भूपति सत०, ४१४।

सुकृत न सुकृती परिहरे कपट न कपटी नीच ।
मरत सिखावन देइ चलै गीधराज मारीच ।।[1]

संग आदि भी स्वभाव को बदलने में समर्थ नहीं हैं । रहीम अच्छे स्वभाव के विषय में कहते हैं—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग ।
चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग ।[2]

तुलसी ने भी नीच या बुरे के सम्बन्ध में यही कहा है—

नीच निचाई नहिं तजै जो पावहिं सतसंग ।
तुलसी चन्दन विटप बसि बिन बिस भय न भुवंग ।।[3]

संग की भाँति उपदेश आदि का भी स्वभाव पर प्रभाव नहीं पड़ता । दीन-दयाल गिरि कहते हैं—

कीजै सत उपदेश को होय सुभाय न आन ।
दारु भार करि तपित जल सीतल होत निदान ।।[4]

स्वभाव के विषय में नीतिकारों के विचारों का दूसरा वर्ग इसका पूर्णतः विरोधी है । उनके अनुसार स्वभाव परिवर्तनशील है । उस पर संग आदि का प्रभाव पड़ता है ।[5] ऐसे विचार कवियों ने संग या सत्संग के अवश्यम्भावी प्रभाव पर प्रकाश डालते समय प्रायः व्यक्त किये हैं, जिसे असत्य नहीं कहा जा सकता । संग आदि के कारण या प्रयत्न करने पर स्वभाव में परिवर्तन असम्भव नहीं है ।

यथार्थतः 'स्वभाव नहीं बदलता' और 'स्वभाव बदल जाता है' ये दोनों ही बातें कुछ अंशों तक ठीक हैं । व्यक्ति विशेष की अपने स्वभाव को बदलने की इच्छा, परिवर्तन उपस्थित करने वाले वातावरण तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य बातों पर यह निर्भर करता है । निश्चित सिद्धान्त के रूप में इन दोनों में किसी को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अभ्यास—अभ्यास शब्द प्रमुखतः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है । एक अर्थ में तो

---

१ तुलसी दोहा०, ३४१ ।
२ रहीम दो०, ७६ ।
३ तुलसी सत०, ६'२१ ।
४ दृष्टान्त तरंग०, ५० ।
५ सगत के अनुसार ही सबको बनत सुभाइ । दुलारे दोहा० ६६ । अन्यत्र 'संग' पर विचार करते समय और भी बहुत से कवियों के उद्धरण दिये जा चुके हैं, जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस मत की पुष्टि होती है ।

यह बान, आदत या टेव का समानार्थी है और दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग पूर्णता या कुशलता की प्राप्ति के लिए किसी काम को बार-बार करने के लिए होता है। यहाँ इस पर दूसरे अर्थ की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

अभ्यास का जीवन के लिए बड़ा महत्व है। बुरे से बुरे व्यक्ति भी अभ्यास से ऊँचे उठ सकते है।

हिन्दी नीति काव्य में अभ्यास के विषय में प्रमुख रूप से दो-तीन बातें कही गई हैं। अभ्यास जन्मजात वस्तु नही है। यह आयु के बढ़ने के साथ होते-होते ही होता है। रहीम कहते है—

यह रहीम निज संग लै जनमत जगत न कोय।
बैर प्रीति अभ्यास जस होत-होत ही होय॥[1]

इसका आशय यह भी है कि अभ्यास धीरे-धीरे होता है। आनन-फानन मे एक-ब-एक नही किया जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अभ्यास के कारण बुरे या मूर्ख व्यक्ति भी धीरे-धीरे अच्छे एवं बुद्धिमान हो जाते हैं। वृन्द ने लिखा है—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर होत निसान॥[2]

इस प्रकार मानव जीवन में अभ्यास का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

बान—अभ्यास के कारण जो बातें स्वभाव में आ जाती हैं, उन्हे आदत, बान या टेव कहते हैं। बान स्वभाव का स्वाभाविक अंश नही है, अर्थात् जन्म से बान या आदत रूप में हम कुछ नहीं लेकर आते पर, धीरे-धीरे अभ्यास के कारण बान भी स्वभाव बन जाती है। भाँति-भाँति की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ प्रायः बान के कारण ही मानव स्वभाव का अंग बन जाती हैं। इसी कारण बचपन जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्यत्र बचपन के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि बचपन में व्यक्ति जो भी बान पकड़ लेता है वह प्रायः उसके स्वभाव में आ जाती है और अन्त तक नहीं छूटती।

बान के सम्बन्ध में सामान्य रूप से नीति काव्य में यही बात कही गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

जाकी जौन परी हियैं नहिं छूटै वह बान।[3]

यह बात कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी पूर्णतः सत्य नही कही जा सकती।

---

१ रहीम दो०, १५६।
२ वृन्द सत०, ३११।
३ भूपति सत०, ४०४।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि संग से या यों भी प्रयास करने पर बहुत सी बानें छूट जाती हैं। स्वभाव की स्वाभाविक बातों को छोड़ना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है पर बान तो बाद में बनाया गया स्वभाव है, अतः उससे छुटकारा पाना उतना कठिन नहीं है।

धैर्य—किसी कार्य में हड़बड़ी या आतुरता न करना तथा असमय मे भी मन को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। धैर्य मनुष्य का बहुत बड़ा मानसिक बल है। इसके सहारे वह असह्य से असह्य कष्ट एवं विपत्ति को काट सकता है तथा कठिन से कठिन काम को भी धीरे-धीरे पूरा कर सकता है। नीतिकारों ने धैर्य की बड़ी महिमा गाई है। कबीर कहते है—

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सीचे सौ घड़ा रितु आए फल होय॥[1]

लोक साहित्य में भी 'अगुताए गूलर ना पाके' कहकर यही भाव प्रकट किया गया है। तानसेन ने कबीर के उपर्युक्त दोहार्द्ध को लेकर इस विषय का अपना प्रसिद्ध पद अकबर को सम्बोधित करके कहा है—

धीरे धीरे धीरे मन धीरे ही सब कुछ होय।
धीरे राज धीरे काज धीरे योग धीरे ध्यान
धीरे सुख समाज जोय।
... ...
तानसेन कहै सुनौ साह अकबर एतो बड़ो राज।
एती बड़ी बादसाही धीरे ही तै पाई सोय॥[2]

तुलसी ने आपत्ति काल के चार मित्रों में नारी, मित्र तथा धर्म के साथ धैर्य को भी स्थान दिया है।[3] उन्होंने और भी कई स्थलों पर

धीरज धरिय त पाइय पारू।[4]

या

धीरज धरहु विवेक विचारी।[5]

---

१ **कबीर बचनावली** दो०, ५८३।
२ **अकबरी दरबार के हिन्दी कवि**, पृ० २०५।
३ **धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परिखयहि चारी। मानस सूक्त०**, पृ० ११०।
४ **वही**, पृ० ११०।
५ **वही**, पृ० ११०।

या

धरहु धीर लखि विमुख विधाता ।[1]

आदि कहकर धैर्य की महत्ता प्रदर्शित की है तथा उसे धारण करने पर बल दिया है। निश्चय ही धैर्य सफल जीवन बिताने के लिए अपना विशेष महत्व रखता है।

शील—व्यवहार समाज या लोकनीति में शील का बहुत बड़ा स्थान है। शील का प्राचीन अर्थ चाल, व्यवहार तथा आचरण आदि है पर बाद में यह केवल सुचाल, सुव्यवहार तथा सु-आचरण का वाचक हो गया। अमरकोष के 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' में यही भाव है। बौद्ध धर्म में शील का बहुत महत्व है। मनु आदि ने धर्म के जिस प्रकार लक्षण गिनाए हैं,[2] उसी प्रकार बौद्ध शास्त्रों मे पाँच या दस शीलों की चर्चा है जो सामान्य धर्म-लक्षण रूप मे सर्वसामान्य के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। बौद्ध धर्म के दस शील–हिंसा न करना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना, झूठ न बोलना, प्रमाद न करना, अपराह्न भोजन न करना, सङ्गीत से प्रेम न करना, सुगन्ध का व्यसन न रखना, उच्चासन तथा शैया से बचना तथा द्रव्य संग्रह न करना हैं। हिन्दी नीति-काव्य मे तथा आज के प्रयोग मे भी, शील उस नम्रता, संकोच, सदाचार, मिष्टभाषिता तथा सरलता मिश्रित आचरण को कहते हैं, जिसके कारण व्यक्ति के प्रति समाज में आदर एवं श्रद्धा का भाव बढ़ जाता है।

गृहस्थ के लिए शील की अनिवार्यता अगृही सन्तों ने भी स्वीकार की है। गोरख लिखते है—

गिरही सो जो गिरहै काया ।
अभिअन्तर की त्यागे माया ।
सहज सील का धरै सरीर ।
सो गिरही गंगा का नीर ।[3]

नीतिकारों ने शील को मनुष्य का आभूषण कहा है। रत्नावली कहती हैं—

भूषन रतन अनेक जग पै न सील सम कोय ।
सील जासु नैनन बसत सो जग भूषन होय ॥[4]

---

१ मानस सूक्त०, पृ० १०६ ।

२ वेदः स्मृतः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् । मनु० २,१२ । धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् । वही ६,९२ ।

३ गोरखबानी, ४५ ।

४ रत्नावली दोहा०, पृ० १४४ ।

शील समाज के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ शीलवान व्यक्ति के लिए भी आदर, शान्ति एवं लाभ का देने वाला है। पर साथ ही साथ यह कभी-कभी पतन का कारण भी होता है। अधिक शीलवान व्यक्ति कभी-कभी शीलवश अन्यथा कार्य कर बैठते हैं या अपनी हानि उठाते हैं। एक लोकोक्ति में यह भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है—

सीले नारि छिनारि।
सीले पुरुष भिखारि।

अर्थात् शील के कारण स्त्रियों को कभी-कभी व्यभिचारिणी तथा पुरुषों को दीन बनना पड़ता है। हिन्दी नीति काव्य में इस बात की ओर संकेत नहीं है।

सन्तोष—किसी बात की कामना न करते हुए अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहना सन्तोष है। अभावों और दीनता में डूबा हुआ व्यक्ति भी सन्तोष के कारण रुपयों पर लोटने वाले करोड़पति से भी अधिक सुखी रह सकता है। इसी कारण नीति साहित्य में इसे सबसे बड़ा धन कहा गया है। शंकर ने लिखा है—

जेहि समान संसार में नहिं कोउ धन निर्दोख।
धनद धनिकता ते अधिक धर्म निरत है तोख॥[1]

तुलसी का तो कहना है कि सन्तोष इतना बड़ा धन है कि उसके हृदय में आते ही सब धन धूल के समान व्यर्थ हो जाते हैं—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥[2]

दीनदयाल के शब्दों में कुबेर जैसा धनाधिप भी दीन है यदि उसके हृदय में सन्तोष नहीं है—

नहिं धन धन है परम धन तोषहिं कहै प्रबीन।
बिन सन्तोष कुबेरऊ दारिद दीन मलीन।[3]

धनादि के अतिरिक्त और दृष्टियों से भी सन्तोष का महत्व कम नही है। इसके हृदय में आते ही अपनी सीमा के भीतर आवश्यकताओं के अतिरिक्त और किसी आवश्यकता का अनुभव होता ही नहीं। इस प्रकार सुखी एवं शान्तचित्त होने का यह मूल मन्त्र है। बिना इसके सब कुछ रहने पर भी सुख नहीं मिलता क्योंकि एक की प्राप्ति के बाद दूसरे को पाने की इच्छा आ घेरती है। वृन्द ने ठीक ही कहा है—

---

१ सदाचार सोपान, पृ० १३६।
२ तुलसी सत०, पृ० १२६।
३ दृष्टान्त तरंग०, पृ० ३२।

सब सुख है सन्तोष में धरिए मन सन्तोष।
नेक न दुरबल होत है सर्प पवन के पोष॥[1]

सन्तोषी व्यक्ति की इच्छाएँ बहुत सीमित हो जाती हैं और धीरे-धीरे वह ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है कि किसी अनुचित पथ की ओर वह जाता ही नहीं। इसीलिए धर्म में भी सन्तोष का महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसी ने इसे नवधा भक्ति में स्थान दिया है—

अष्टम यथालाभ सन्तोषा।

तथा उसे साक्षात् भगवान राम कहा है—

जहाँ तोष तहँ राम हैं, राम तोष नहिं भेद।[2]

उसके बिना जीवन में कोई विश्राम नहीं पा सकता—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय॥[3]

इस प्रकार हिन्दी नीति-काव्य में लोक और परलोक दोनों ही दृष्टियों से सन्तोष को ग्रहणीय कहा गया है।

क्षमा—किसी के द्वारा कष्ट पहुँचाए जाने पर, या अनुचित कार्य किए जाने पर उसे चुपचाप सह लेना तथा उसके प्रतिकार या दण्ड की इच्छा न करना क्षमा है। व्यवहार तथा धर्म दोनों ही दृष्टियों से क्षमा मनुष्य के लिए आवश्यक मानी गई है। मनु ने धर्म के दस लक्षणों में इसे स्थान दिया है।[4] वृन्द इसे मनुष्य का भूषण कहते हैं—

नर भूषन सब दिन क्षमा[5]

रामचरित उपाध्याय के शब्दों में यह सबसे बड़ी शक्ति है—

भुज उठाय करिके कहत छमा सम न बल एक।
सो मानहिं उपदेस यह जेहि सत-असत विवेक॥[6]

धर्म की दृष्टि से इसके महत्व की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए तुलसी कहते हैं—

बसत छमा गृह जासु मन बाराणसी न दूरि।[7]

---

१ वृन्द सत०, पृ० ३१८।
२ तुलसी सत०, पृ० १२९।
३ तुलसी दोहा०, पृ० २७५।
४ धृति क्षमा दमोस्तेयं....., मनु।
५ वृन्द सत०, पृ० ६५१।
६ ब्रज सत०, पृ० ५५।
७ तुलसी सत०, पृ० १४०।

सरलता—स्वभाव का निष्कपट तथा सीधा-साधा होना सरलता है। इसकी गणना भी मानवीय गुणों में है। नीति के कवियों ने सरल व्यक्ति की बड़ाई की है–

सरल मनुज है देवता,[1]

पर साथ ही इसके आधिक्य को बुरा भी कहा है—

अति ही सरल न हूजियो देखौ जो बनराय।
सीधे साधे छेदिये बाँकौ तरु बच जाय॥[2]

अतएव हिन्दी नीति-काव्य के अनुसार व्यक्ति को सरल तो होना चाहिए पर एक सीमा तक क्योंकि अत्यधिक सरल व्यक्ति को इस कुटिल संसार में अपनी सरलता के कारण हानि उठानी पड़ती है।

विनय और नम्रता—विनय और नम्रता गर्व की विरोधी वृत्तियाँ हैं। धर्म और समाज दोनों ही दृष्टियों से इनको अपनाना श्रेयस्कर है। तुलसी लिखते हैं—

दो 'हा' चारु बिचारु चलु परिहरि बाद बिबाद।
सुकृत सींव स्वारथ अवधि परमारथ मरजाद॥[3]

विनयी और नम्र व्यक्ति का लोग आदर करते हैं—

नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चले तेतो ऊँचो होइ॥[4]

कबीर, दादू, सुन्दरदास तथा भगवानदीन आदि ने भी मनुष्य में इन दोनों को आवश्यक माना है।

लाज—लजा और संकोच मानव हृदय की वे वृत्तियां है जो मनुष्य को अनुचित पथ पर जाने से रोकती है। समाज में बदनामी आदि के भय के कारण ही इन वृत्तियों का उदय होता है।

यथावसर लाज क्या पुरुष और क्या स्त्री सभी के लिए आवश्यक है, पर हिन्दी नीति-काव्य में पुरुष के लिए इसकी आवश्यकता का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। अपवाद स्वरूप बीरवल ने एक स्थान पर साले के लिए लजाना आवश्यक बतलाया है—

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, पृ० १५७।
३ तुलसी दोहा०, पृ० ४७०।
४ बिहारी सत०, पृ० ६४२।

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न सारो।
... ...
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र में डारो।[1]

हाँ, स्त्रियों के लिए तो लज्जा को भूषण कहा गया है। वृन्द कहते हैं--

नर भूषन सब दिन क्षमा बिक्रम अरि घनघेर।
ज्यों तिय भूषन लाज है निलज सुरत की बेर॥[2]

इस दोहे के अन्तिमांश से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि नीति के कवि लज्जा को स्त्रियों का भूषण मानते हुए सुरति के समय निर्लज्जता को ही भूषण मानने के पक्ष में है। इसीलिए वेश्याओं में निर्लज्जता का होना अच्छा माना गया है। रामचरित उपाध्याय कहते हैं—

पति मूरख वेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र।
सूम स्वामि सेवक बधिर सुखद न रामचरित्र॥[3]

विश्वास—यह निश्चय कि ऐसा ही 'होगा' या 'है' या अमुक व्यक्ति 'ऐसा ही है' या 'करेगा', विश्वास है। विश्वास को सफलता की कुंजी कहा गया है। कहते हैं--

विश्वासम् फलदायकम् (लोकोक्ति)

या विश्वास ही भलदायक होता है। भक्त पत्थर के टुकड़े को विश्वास के साथ भगवान् मानता है और फलस्वरूप उसे भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति होती है। धर्म और व्यवहार या लोक और परलोक दोनों ही के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। सन्तों ने अपने विविध अंगों में विश्वास का भी एक अंग माना है। कबीर विश्वास की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते है—

पद गाए लैलीन ह्वै कटी न संसै फांस।
सबै पिछोड़े थोथरे एक बिना बेसास॥[4]

अर्थात् विश्वास बिना सब बेकार है। कबीर आगे फिर कहते हैं--

गाया तिनि पाया नहीं, अणगाया थैं दूरि।
जिनि गाया विश्वास सूँ तिन राम रह्या भरपूरि॥[5]

विश्वास से होने वाले लौकिक लाभ की ओर संकेत करते हुए वृन्द कहते हैं–

सिद्ध होत कारज सबै जाके जिय विश्वास।[6]

---

१ कविता कौमुदी १, पृ० २४०।
२ वृन्द सत०, पृ० २१२।
३ ब्रज सत०, पृ० ३६।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५६।
५ वही।
६ वृन्द सत०, पृ० ५२७।

किन्तु, विश्वास करने का आशय यह नहीं कि आँख मूँद कर बिना समझे-बूझे विश्वास किया जाय। ऐसा विश्वास विश्वास न होकर अन्धविश्वास है। विश्वास जितना लाभकर होता है, अन्धविश्वास उतना ही हानिप्रद। गिरिधर के शब्दों में तोते को इस अन्धविश्वास के कारण ही निराश होना पड़ता है—

साई सुवा प्रवीन अति बानी बदति बिचित्र।
रूपवन्त गुनआगरो राम नाम सों चित्त।
... ...
कह गिरिधर कविराय सुवा चूक्यो चतुराई।
वृथा कियो बिस्वास सेय सेमर को साई॥[1]

कैसे व्यक्ति का विश्वास किया जाय और कैसे का न किया जाय, इस सम्बन्ध में भी हिन्दी नीति-काव्य में कुछ बातें दी गई हैं।

नीच व्यक्तियों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। तुलसी कहते हैं—

भार खोज लै सौंह करि करि मत लाज न त्रास।
मुए नीच ते मीच बिनु जे इनके विश्वास॥[2]

कभी-कभी दुष्ट एवं कपटी व्यक्ति मीठी बातें करके लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेते हैं और विश्वस्त बन जाने पर धोखा दे देते हैं। नीतिकारों ने ऐसे लोगों से बचने की चेतावनी दी है—

करें न बुध विस्वास को प्रियवादी खल संग।
सुनि बीना की मधुरता मारे जात कुरंग॥[3]

स्त्री, शत्रु, जुवारी, चोर, लबार तथा बटमार आदि अन्य भी बहुतों के नाम नीतिकारों ने गिनाए हैं, जिनका विश्वास करना व्यावहारिक नहीं है।[4]

विश्वास के सम्बन्ध में मोटे रूप से दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो यह कि उचित व्यक्ति और उचित बात का विश्वास करना चाहिए और दूसरे यह कि अपना व्यवहार एवं आचरण ऐसा रखना चाहिए कि दूसरे अपना विश्वास करें।

दूसरों का विश्वासपात्र बनने का सबसे सरल और निश्चित मार्ग है अपना सच्चा आचरण। झूठा व्यक्ति किसी का विश्वासपात्र नहीं बन सकता। वृन्द ने लिखा है—

जग परतीति बढ़ाइए रहिए साँचै होय।
झूठे नर की साँच हू साख न मानै कोय॥[5]

---

१ गिरिधर कुण्ड०, पृ० ८१।
२ तुलसी दो०, पृ० ४०६।
३ दृष्टान्त तरंग०, पृ० ३६।
४ वृन्द सत०, १९६; गिरिधर कुण्ड०, पृ० १७।
५ वृन्द सत०, ५८०।

चिन्ता—किसी समस्या को लेकर मन में बार-बार होने वाले विचार या सोच को चिन्ता कहते है। जिस प्रकार ज्वर-खाँसी आदि शरीर के रोग हैं, चिन्ता मन का रोग कहा गया है। जान कहते है—

रोग अंग के बहुत है, चिन्ता चित कौ रोग।[१]

मानसिक रोग होते हुए भी इस आधि का किसी व्याधि से कम प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

चिन्ता ज्वाल सरीर की दाह लगै न बुझाय।
प्रगट धुवाँ नहिं देखिए उर अन्तर धुँधवाय।
उर अन्तर धुंधवाय जरै जस काँच की भट्टी।
रक्त मांस जरि जाय रहै पांजरि की टट्टी।
कह गिरिधर कविराय सुनौ रे मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जिये जाहि व्यापी है चिन्ता ॥[२]

रहीम ने भी कहा है—

रहिमन कठिन चितान ते चिन्ता को चित चेत।
चिता दहति निर्जीव को चिन्ता जीव समेत ॥[३]

चिन्ता का जन्म इच्छा और अविवेक के कारण होता है। नीति साहित्य में भी कहा गया है—

चिन्ता जननी चाह है ताको पति अविवेक।[४]

पर क्या विवेकी और क्या अविवेकी सभी इसके शिकार बनते हैं। तुलसी कहते है—

चिन्ता साँपिन काह न खावा।[५]

यह मरते दम तक पीछा नहीं छोड़ती—

प्रान तजो चाहैं तऊ चिन्ता तजै न संग।[६]

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि इच्छाओं और अविवेक पर विजय प्राप्त कर मनुष्य को चिन्ता से बचना चाहिए।

---

१ सिखसागर पन्दनावा।
२ गिरिधर कुण्ड०, पृ० १२।
३ रहीम दो०।
४ ब्रज सत०, पृ० ६२।
५ मानसमुक्ता०, पृ० १९६।
६ ब्रज सत०, पृ० ६०।

प्रेम—प्रेम लोभ का ही एक रूप है। लोभ जहाँ वर्ग या जाति के प्रति होता है या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में सामान्योन्मुख है, प्रेम वर्ग या जाति की एक इकाई के प्रति होता है और विशेषोन्मुख है। पर साधारणतः मन की ललक यदि किसी वस्तु के प्रति होती है तो वह लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो वह प्रीति कहलाती है।[1]

प्रेम मानव जीवन का नमक है। बिना इसके जीवन व्यर्थ है। कबीर कहते हैं—

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहिं राम।
ते नर या संसार में उपजि षये बेकाम॥[2]

कहा जाता है कि प्रेम सहज रूप से हो जाता है नीति के कवियों ने भी इसी बात का समर्थन किया है—

बैर प्रीति दोउ सहज आपै होहिं सिखैन।
लखु चकोर-ससि अहि-नकुल कहुँ उपदेस गहैन॥[3]

साथ ही इसे जन्मतः कोई लेकर नही आता, धीरे-धीरे इसका विकास होता है। रहीम कहते हैं—

यह रहीम निज संग ले जनमत जगत न कोय।
बैर, प्रीति, अभ्यास, जस होत होत ही होय॥[4]

प्रेम के होने या बढ़ने में बल काम नहीं करता —

यह तो सौदा सहज का जोर न चलत जमाल।[5]

नीच व्यक्तियों से प्रेम करने का हिन्दी के नीति के कवियों ने विरोध किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि नीच व्यक्ति के प्रेम में स्थायित्व की सम्भावना प्रायः नहीं के बराबर होती है। वृन्द उनके प्रेम को छीलर ताल का जल कहते हैं—

ओछे नर की प्रीति को दीनी रीति बताय।
जैसे छीलर ताल जल घटत घटत घटि जाय॥[6]

---

१ चिन्तामणि।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६।
३ ब्रज सत०, पृ० ४८।
४ रहीम दो०, १५९।
५ जमाल दो०, १७।
६ वृन्द सत० २४।

दीनदयाल ने भी वृन्द की बात को दुहराया है—

चंचल खल की प्रीति को गये अलप बुध गाय ।
ज्यों घन छाया गगन की छन में जाय नसाय ।।[1]

प्रेम सज्जन, बड़ों तथा उच्च विचार वालों से करना चाहिए । इनका प्रेम अधिक अचल होता है तथा दिन-दिन बढता जाता है ।

प्रीति सुखद है सुजन की दिन दिन होय विशेष ।
कबहूँ मैटै ना मिटै ज्यों पाहन की रेष ।।[2]

गिरिधर कविराय भी इसी स्वर में कहते हैं—

प्रीति कीजिए बड़ेन सों माया लावै पार ।
कायर कूर कुपूत है बोर देत मझधार ।।[3]
....
कह गिरिधर कविराय प्रीति साँची सिख लीजै ।
व्यवहारी जो होय तऊ तन मन धन दीजै ।।[3]

प्रेम अन्धा कहा गया है । उसके तूफान में प्रेमी को कुछ भी सुधबुध नहीं रहती । यही कारण है कि वहाँ जाति-पाँति, गुण-अवगुण या कभी-कभी सुन्दरता-असुन्दरता तक का प्रश्न नही उठता । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है । दुलारे दोहावली का एक दोहा है—

जाति पाँति की भीति तौ प्रीति-भवन में नाहिं ।
एक एकता छतहिं की छाँह मिलति सब काहिं ।।[4]

प्रेम में दोष भी दिखलाई नहीं पड़ता—

चढत न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष ।
तुलसी प्रेम पयोद की ताते नाप न जोख ।।[5]

तथा

जो मन प्रिय सो प्रिय लगै गुन अरु रूप बिहीन ।
त्यागि रतन हर जतन सो पन्नग भूषन कीन ।।[6]

---

१ दृष्टान्त तरंग०, १०६ ।
२ वही, १०६ ।
३ गिरिधर कुण्ड० ५६ ।
४ दुलारे दोहा०, पृ० ३६ ।
५ तुलसी दोहा०, २८१ ।
६ दृष्टान्त तरंग०, ६६ ।

इसी कारण कुरूपा होने पर भी लैला मजनू के लिए किसी अप्सरा से भी बढ़ कर सुन्दरी थी। फारसी की कहावत है—

लैला रा बचश्म मजनू बायद दीद।

प्रेम के मार्ग को नीति-काव्य में बहुत ही कठिन कहा गया है। है भी बात सत्य। प्रेम का निभाना सरल नहीं है।[१] कबीर कहते हैं—

कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथि करि सो पैसे घर माहिं॥[२]

प्रेम के सम्बन्ध में हिन्दी नीति काव्य में कही गई अन्य बातों में प्रधान प्रेम दूध और पानी की तरह होना चाहिये,[३] झरने की तरह अनवरत होना चाहिये जो शीत, घाम, लू, या दुःख सुख में समाप्त न हो[४], दूसरों के निन्दा करने पर उसे कम न होना चाहिये,[५] तथा खीरा की तरह ऊपर से दूसरा और भीतर से दूसरा न होना चाहिए,[६] आदि हैं।

प्रेम छिपाने से छिपता नहीं। फारसी की कहावत है—

इश्क व मुश्क न रतवाँ नहुफ्तम।

जायसी कहते हैं—

परिमल प्रेम न आछे छपा।

वह और नहीं तो आँखों से प्रकट हो जाता है। रहीम का एक दोहा है—

कहि रहीम इक दीप ते प्रगट सबै दुति होय।
तन सनेह कैसे दुरै दृग दीपक जरु दोय॥[७]

बैरीसाल ने भी लिखा है—

प्रेम दुराए ना दुरै नैना देत बताय।[८]

---

१ तुलसी दो०, २८३। प्रेम निबाहन कठिन है समुझ कीजिए कोय। वृन्द सत०, ९२।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६९।

३ दृष्टान्त तरंग०, १०८।

४ सीत घाम लू दुख सहत तऊ न तोरत तार।
झरत निरंतर झर सरिस सोइ सनेह सुचि सार॥ दुलारे दोहा०, ५७।

५ बिहारी सत०, २१६।

६ रहिमन प्रीति न कीजिए जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला भीतर फांकें तीन॥ रहीम दोहा०, २१३।

७ रहीम दो०, २९।

८ नीति छन्द०।

लोग सिद्धान्त रूप में कहते सुने जाते है कि यथार्थ प्रेम निस्वार्थ होता है। पर तथ्यत: यह केवल सिद्धान्त ही है। नीति के कवियों ने भी इस सिद्धान्त की अयथार्थता का अनुभव किया है। तुलसी की प्रसिद्ध अर्धाली है—

सुर नर मुनि सबकर यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥[1]

गिरिधर ने भी कहा है—

साई सब संसार में मतलब का व्यवहार।
... ...
करै बेगरजी प्रीति यार बिरला कोई साईं।[2]

सचमुच ही बिना किसी स्वार्थ के प्रेम या मैत्री का होना असम्भव है। हाँ, एक बार प्रेम हो जाने पर बिना किसी स्वार्थ के भी वह जीवित रह सकता है या पनप सकता है।

कपट—हृदय की बातों को किसी बुरी भावना से छिपाना या ऊपर से और कहना, होना या ज्ञात होना तथा भीतर कुछ और रखना या होना कपट कहलाता है। यों छल तथा धोखा आदि भी इसके अर्थ होते हैं। धर्म तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से कपट त्याज्य है। रहीम चेतावनी देते हैं—

रहिमन वहाँ न जाइये जहाँ कपट को हेत।[3]

आदमी को स्वयं तो कपटी नहीं ही होना चाहिये साथ ही कपटी व्यक्ति से उसे दूर भी रहना चाहिए।[4]

व्यवहार, मैत्री तथा प्रेम आदि का कपट साक्षात् शत्रु है। वृन्द कहते हैं—

फेर न ह्वै है कपट सों जो कीजै व्यापार।
जैसे हाँडी काठ की चढ़ै न दूजी बार॥[5]

तथा

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाय, कपट खटाई परत ही॥[6]

---

१ नीति छन्द०।

२ गिरिधर कुण्ड०, ३६।

३ रहीम दोहा०, २३६; कबीर में भी यह पंक्ति है-कबीर तहाँ न जाइऐ जहाँ कपट का हेत। कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६६।

४ तुलसी दोहा०, ४०९।

५ वृन्द सत०, ३५।

६ मानस सूक्त०, २२९।

इस प्रकार नीति-काव्य में कपट और कपटी दोनों ही से बचने का आदेश दिया गया है।

ईर्ष्या—किसी के लाभ, हित, विभव या सुख को देखकर जलना ईर्ष्या है। मत्सर, डाह तथा जलन आदि भी इसी के समानार्थी हैं। संसार में ऐसे लोग कम ही होते हैं, जो कभी न कभी ईर्ष्या के वश में न होते हों। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।"[1] सचमुच ही यह एक विष है, और इसका प्रभाव बड़ा ही विषाक्त है। हिन्दी नीति-काव्य में कहा गया है कि ईर्ष्या से दूर रहना चाहिए--

इरषा के बस होहु ना जो चाहहु सुख सांति।[2]

ईर्ष्याग्रस्त व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता--

कह गिरिधर कविराय सुखी सो कैसे होवै।
तृष्णा रागरुद्वेष ईरषा मत्सर बोवै॥[3]

और न उसे मानसिक शान्ति की ही प्राप्ति हो सकती है।

हठ—उचित-अनुचित पर ध्यान दिए बिना आग्रहपूर्वक किसी बात पर अड़ना हठ है। यों तो यह दुर्गुण किसी में भी हो सकता है, पर स्त्रियों और बालकों का हठ विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

हठ को कष्ट का कारण कहा गया है। हठी व्यक्ति को इसके कारण दुख का भागी बनना पड़ता है। तुलसी कहते हैं--

हठ बस सब संकट सहै गालव नहुष नरेस।[4]

बहुत हठी व्यक्ति निरादर का पात्र बन जाता है यहाँ तक कि उससे कोई बात भी करना नहीं चाहता। वृन्द ने कहा है--

अति हठ मत कर हठ बढ़ै बात न करिहै कोय।
ज्यों ज्यों भीजै कामरी त्यों त्यों भारी होय॥[5]

अतएव सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक है कि हठ न किया जाय।

निन्दा--बुरी भावना से किसी की कल्पित या वास्तविक बुराई करना या दोष

---

१ चिन्तामणि, पृ० १५०।
२ नीति छन्द०।
३ गिरिधर कु०ड०, १६८।
४ मानस सूक्त०, ७३४।
५ वृन्द सत०, ६४।

बतलाना निन्दा है। निन्दा को अत्यन्त निंद्य कर्म कहा गया है। तुलसी इसे सबसे बड़ा पाप कहते हैं—

पर निन्दा सम अघ न गिरीसा।[१]

हमारे अन्य नीति-कवियों ने भी निन्दा को बहुत बुरा कहा है। दादू के शब्दों में

निन्दा कीयै नरक है, कीट पड़े मुख माहिं।[२]

पर निन्दा के प्रति एक और दृष्टिकोण भी है। "निन्दा करना" निन्दक के लिए तो बुरा है, पर जिसकी निन्दा की जाय, उसके लिए यह अच्छा है। निन्दा सुन कर उसे अपनी बुराइयों को समझने और सुधारने का अवसर मिलता है। इसीलिए निन्दक की निन्दा करते हुए भी नीतिकारों ने उसको आदर-मान देने का उपदेश दिया है। कबीर के प्रसिद्ध दोहे हैं—

निन्दक नेड़ा राखिए आँगणि कुटी बँधाइ।
बिन पानी साबण बिना निरमल करै सुभाइ॥[३]

तथा

न्यंदक दूरि न कीजिए दीजै आदर-मान।
निरमल तन मन सब करै बकि बकि आनहिं आन॥[४]

दादू ने तो निन्दक को धन्य कहा है, जो इतना परोपकारी है कि स्वयं पाप का भागी बनकर भी दूसरों की बुराई बता उन्हें उज्ज्वल बनने का अवसर प्रदान करता है।

निन्दक बपुरा जिन मरै पर उपकारी सोइ।
हमकूँ करता ऊजला आपण मैला होइ॥[५]

पर ऐसी बात उन निन्दकों के लिए है, जो किसी सच्चे दोष के आधार पर निन्दा करते हैं। संसार में ऐसे निन्दकों की भी कमी नहीं है, जो निराधार निन्दा करते हैं। ऐसे निन्दक अपने लिए तो बुरा करते ही हैं, साथ ही दूसरों का भी कुछ भला नहीं कर पाते और इस प्रकार वे और भी निंद्य है।

चुगली—पीठ पीछे या किसी की अनुपस्थिति में उसकी निन्दा या एक की बात दूसरे से कहना चुगली है। अन्य व्यावहारिक बुराइयों की तरह इसकी भी हिन्दी नीति-काव्य में निन्दा की गई है। एक छन्द है—

---

१ मानस सूक्त०, ४१८।
२ दादू बा०, पृ० २४४।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ८२।
४ वही, पृ० ८२।
५ दादू बानी, पृ० २४४।

पन्ना के पडोर, गढ़ झन्ना के झवैया झरि,
झारूदार झाँसी के भवैया भानपूर के।
कहैं कवि कुन्दन कमायूँ के कुम्हार भाँड़,
दाऊद के दरजी, दमामी दानपूर के।
तेली तिलंगान के, तंबोली तेगढ़वाले,
भावज के भाँगड़, सोनार सानपूर के।
येते मिलि मारें जूती चुगुल चबाई शीश,
कालपी के कुंजड़े, कसाई कानपूर के।[1]

लगता है कि कवि किसी के चुगली खाने से तिलमिला गया है। आशय यह निकलता है, कि चुगली नहीं करनी चाहिए।

चुगली करना चुगलों को इतना प्रिय होता है कि वे इसे कभी नहीं भूलते। गिरिधर कविराय कहते हैं कि संसार में सब अपने काम से चूक जायँ पर चुगले नहीं चूकते—

चुगुल न चूकै कबहुँ को, अरु चूकै सब कोइ।
बरकंदाज कमानियाँ, चूक उनहुँ से होइ।
चूक उनहुँ से होय जे बाँधे बरछी गुल्ला।
चूक उनहुँ से होय पढ़ें पण्डित औ मुल्ला।
कह गिरिधर कविराय कालहू ते नट चूकै।
चुगुल चौकसीदार ससुर कबहूँ नहिं चूकै॥[2]

सचमुच ही बुरे व्यक्ति बुराई करने से नहीं चूकते।

बदला—बदले के दो रूप हैं। एक तो यह कि कोई हमारे लिए अच्छा काम करे और बदले में उसके अच्छे के लिए हम कुछ करें। दूसरा रूप यह है कि कोई हमारे लिए कुछ बुरा करे और बदले में हम उसका बुरा करें। इन दोनों में पहला बदला जितना भला कहा जायगा दूसरा उतना ही बुरा। हिन्दी नीति-काव्य में पहले बदले को अधिकाधिक करने का प्रोत्साहन दिया गया है। जान कहते हैं—

जो कोऊ कछु देत तुहि तौ तू हित सों लेहि।
बाके बदले कौ कछु बातै दूनौ देहि॥[3]

पर दूसरी ओर दूसरे प्रकार का बदला निंद्य है, अतः इसका विरोध किया

१ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ५०८।**
२ **गिरिधर कुण्ड०, ५०।**
३ **पन्द्रनावा।**

गया है। कोई किसी की बुराई करने के लिए यदि अपना पतन करे तो उसके बदले के लिए दूसरे का भी पतित बनना श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता। भगवान दीन ने बदले का विरोध एक अन्य दृष्टिकोण से किया है। वे कहते है कि जब कोई व्यक्ति मेरी बुराई करता है तो मुझे क्रोध आता है और क्रोध की प्रतिक्रिया स्वरूप मैं उसकी बुराई करने पर तत्पर होता हूँ, अतः यह क्रोध ही मेरे पतन का कारण है।

बदला मे लेता अवश यदि नहि आता क्रोध।
एक ऋषी के शब्द ये सुन्दर सुगढ़ सुबोध ।।[1]

इसमे भी भगवान दीन ने अप्रत्यक्ष ढंग से बदले का विरोध ही किया है, क्योंकि अपनी बुराई होने पर क्रोध अवश्य आएगा और क्रोध की स्थिति में बदला लेने का इन्होंने विरोध किया है। दूसरी ओर यदि मानलें कि अपनी बुराई होने पर क्रोध नहीं आया तो फिर बदला लेने की भावना ही नहीं आ सकती। क्योंकि अपनी बुराई होने पर भी जिसमें क्रोध न आवे वह बुराई के बदले बुराई करने वालों की श्रेणी में नहीं आ सकता। ऐसे असाधारण व्यक्तित्व के व्यक्ति में बदला लेने की भावना का उदय ही नहीं हो सकता।

बदले का एक और पक्ष भी है। सामान्यतः समाज मे यदि बुरे द्वारा की गई गई बुराई की ओर ध्यान न दिया जाय तो बुराई या अत्याचार के बढ़ने की सम्भावना हो सकती है। या दूसरे शब्दों में दुष्ट या अन्यायी अन्याय पथ पर चलें और यदि उसके बदले में उन्हें दण्डित न किया जाय तो दुष्टता या अन्याय करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा। अतः विरोध-स्वरूप समाज की व्यवस्था की दृष्टि से इसे कम करने के लिए बदला लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

बदले के इस पक्ष की ओर नीतिकारों ने प्रायः ध्यान नही दिया है। पर नीति के आधुनिक कवि भगवानदीन इसके अपवाद है। वे लिखते हैं—

बदला लेते इसलिए रिपु को देय जताय।
यही कि हम हैं समझते क्या न्यायान्याय ।।[2]

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि सामान्यतः किसी का बुरा करने के लिए बदला लेना अच्छा नहीं है, पर जहाँ बिना बदला लिए किसी दुष्ट के अन्याय-पथ पर बढ़ने की आशंका हो वहाँ यह अच्छा ही नहीं अपितु अतीव आवश्यक भी है।

धोखा—किसी बात का वादा करके जान-बूझकर उसे न करना, धूर्तता,

१ नीति के दोहे।
२ वही।

चालाकी या असत्य बात कहकर किसी को छलना या मिथ्या व्यवहार जिससे दूसरे के मन में मिथ्या प्रतीति हो, धोखा कहलाता है।

धोखा विश्वास का शत्रु है। दो-चार बार धोखा खाकर प्रायः लोग दूसरों का विश्वास नहीं करते।

खल वंचित नर सुजन कौ नहिन बिसास उरेइ।
डहक्यो उडु प्रतिबिम्ब ते मुक्ता हंस न लेइ॥[1]

इस प्रकार, इसके कारण समाज में विश्वास की कमी हो जाती है। यों जो व्यक्ति प्रायः लोगों को धोखा देता है, उसकी स्थिति तो बहुत ही दयनीय हो जाती है। वह घृणा का पात्र बन जाता है, और लोग उसकी सच्ची और ईमानदारी से कही गई बातों एवं कामों तक का विश्वास नहीं करते। अतएव अपनी प्रतिष्ठा तथा साख एवं समाज की व्यवस्था, इन सभी दृष्टियों से धोखा न देना ही श्रेयस्कर है। तुलसी तो कहते हैं कि स्वयं धोखा खा जाय पर दूसरों को धोखा न दे।[2]

कभी-कभी दूसरों के बाह्यरूप आदि के कारण लोग धोखा खा जाते हैं। इसमें किसी अन्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। ऐसी स्थिति में अपनी मूर्खता ही अपने लिए धोखे का कारण बनती है। नीति के कवियों ने ऐसी स्थिति से बचे रहने की चेतावनी दी है। जो अपने अज्ञान के कारण नहीं बच पाते और धोखा खा जाते हैं, उन्हें दुःख सहना पड़ता है।[3]

धोखे के सम्बन्ध में रामचरित उपाध्याय ने एक बड़ी विचित्र बात कही है। उनका कहना है कि समर्थ व्यक्तियों से ठगा जाना यश का कारण होता है--

समरथ सन जड़हाय जौ जस की बाढ़ै जोति।
जो बावन छलते न तौ क्यों बलि कीरति होति।[4]

कहना न होगा कि यह एक अपवादस्वरूप घटना है, धोखे के सम्बन्ध में इसे सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

स्वार्थ—संसार के सारे व्यवहार स्वार्थ पर ही आधारित है। मित्र-पुत्र, बंधु-बांधव तथा स्त्री-माता आदि सभी के प्रेम एवं व्यवहार के मूल में स्वार्थ की गन्ध खोजी जा सकती है। वृहदारण्यक उपनिषद के

---

१ वृन्द सत०, १६४।

२ जूझे ते भल बूझिबो भली जीति ते हारि।
डहकै ते डहकाइबो भलो जो करिय विचार॥ तुलसी दो०, ४३१।

३ पकज के धोखे मधुप, कियौ केतकी संग।
अंध भयौ कंटक बिधौ भयौ मनोरथ भंग॥ विक्रम सत०, ३३५।

४ ब्रज सत०, ५३।

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

छन्द में स्पष्ट कहा गया है कि विश्व की सभी चीजे और व्यक्ति अन्ततः स्वार्थतः ही प्रिय होते हैं । हाँ, यह अवश्य है कि कुछ स्वार्थ स्पष्ट होते हैं और कुछ अस्पष्ट । अतएव स्वार्थ की परिधि और उसकी परिभाषा को व्यापक रूप में लेते हुए यदि देखा जाय तो सामान्य कार्यों, व्यवहारों और प्रेम सम्बन्धों को कौन कहे, माता का शिशु के प्रति प्यार एव तथाकथित निस्वार्थ भाव से महान आत्माओं द्वारा की गई व्यक्ति और समाज की सेवाएँ भी उससे बाहर नही । स्वार्थ की इस व्यापकता को नीति के कवियों ने भी अभिव्यक्ति दी है । कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

(क) सुर नर मुनि सबकर यह रीती ।
स्वारथ लागि करहि सब प्रीती ।।[1]
(ख) साई सब संसार में मतलब का व्यवहार ।[2]
तथा (ग) स्वारथ के सबही सगे बिनु स्वारथ कोउ नाहिं ।[3]

स्वार्थ के पीछे संसार इतना अन्धा है कि लोग बुरे-भले का विचार नहीं रखते—

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि सुहात ।
चोर न प्यारी चांदनी जैसे कारी रात ।।[4]

कड़ुई से कड़ुई बात सहते है—

बिनु स्वारथ कैसे सहै कोऊ करुवै बेन ।
लात खाय पुचकारिये होय दुधारू धैन ।।[5]

नीच को भी बड़ाई देते हैं—

बड़ी बड़ाई नीच कौं दीजै अपने काम ।
खरहूँ कौं बोलत पथिक कहत विनायक नाम ।।[6]

---

१ मानस सूक्त० पृ० ११७ ।
२ गिरिधर कुण्ड०, ३६ ।
३ वृन्द सत०, १०८ ।
४ वही, १५३ ।
५ वृन्द सत०, १४५ ।
६ वही, ४६४ ।

तथा दूसरे का काम बिगाड़ देते हैं—

काज बिगारत और को इक निज काज सुधारि।
कियो मंत्रि मिलि राजनृप सुरथहिं दियौ निकारि।[1]

स्वार्थ में इतनी शक्ति है।

ऊपर के कुछ उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि स्वार्थ बुराइयों की जड़ भा है। रहीम ने भी कहा है—

स्वारथ रचत रहीम सब औगुन हूँ जग माँहि।[2]

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि ऐसे स्वार्थ जिनसे अपना भला हो पर साथ ही दूसरों का बुरा न हो, बुरे नहीं है, पर इसके विरुद्ध ऐसे स्वार्थ जिनसे दूसरों का बुरा हो निश्चय ही बहुत बुरे हैं। नीति काव्य में इस दूसरे प्रकार के स्वार्थ की ही निन्दा की गई है तथा उसके लिए कुछ करना अकरणीय कहा गया है। तुलसी की सीख है—

तुलसी स्वारथ सामुहौ परमारथ तन पीठि।
अंध कहैं दुख पाइहौ डिठियारे हिय डीठि॥[3]

प्रभुता—अधिकार, शासनाधिकार या पदाधिकार प्रभुता है। प्रभुता पाने पर व्यक्ति में प्रायः गर्व आ जाता है।

नहिं कोउ अस जनमा जग माँही।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाही॥[4]

गर्व के कारण व्यक्ति अपने को ही सर्वस्व समझने लगता है और अपने से छोटे या नीचे के लोगों के सुख-दुख सुनने के लिए उसके पास कान नही रह जाते—

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि लोचन सर को अस लागि न जाहि॥[5]

इन्हीं बातों के कारण प्रभुता को अनर्थ का कारण कहा गया है।[6]

इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रभुता पाने पर व्यक्ति को अपने

---

१ वृन्द सत०, ६०६।
२ रहीम दो०, २६६।
३ तुलसी दो०, ४८१।
४ मानस, १.६०।
५ वही, ७.७०।
६ रत्नावली दो०, १००।

को संभाल कर रखना चाहिए। यदि उसने अपने को संभाल लिया तब तो उसका प्रभुता पाना सफल है और वह मनुष्य है, और नही तो उसमे और पशु में अन्तर ही क्या है ?

प्रभुता पाये प्रभु बन्यौ तौ प्रभु पसू समान।[1]

आत्मश्लाघा—अपनी प्रशंसा आप करना आत्मश्लाघा है। यों तो कुछ ही लोग आत्मश्लाघा के लिए बदनाम होते है, पर यदि गहराई से देखा जाय तो कम ही लोग ऐसे मिलेंगे जिनमें यह दोष न हो। वृन्द का तो कहना है कि बिना किसी अपवाद के सभी आत्मश्लाघा करते है, और यही नही कि सच्ची बातों के आधार पर बल्कि नमक-मिर्च लगाकर या झूठ-सच जोड़कर।

अपनी प्रभुता को सबै बोलत झूठ बनाय।
बैस्या बरस घटावहीं, जोगी बरस बढ़ाय॥[2]

वृन्द का यह कहना उचित नहीं कहा जा सकता। संसार मे ऐसे लोग होते अवश्य है, पर सभी के लिए ऐसा कहना सत्य से दूर है।

आत्मश्लाघा करने वाले लोगों की दृष्टि से गिर जाते है तथा सभी लोग उनका मजाक उड़ाते है, पर वे आत्मश्लाघा करने में इतना रस लेते हैं और उससे इतने अभिभूत रहते हैं कि यह भी नहीं समझ पाते कि लोग उनका मज़ाक उड़ा रहे हैं या उनकी बातों को गम्भीरता से सुन रहे हैं। इस प्रकार ऐसे लोगों को लोग मूर्ख ही समझते हैं और बहुत अंशों में वे इसी के अधिकारी भी होते है। कोई भी योग्य या चतुर व्यक्ति अपनी प्रशंसा स्वयं करना पसन्द नहीं कर सकता।

हिन्दी नीति-काव्य मे इन्हीं बातों के कारण आत्मश्लाघा करने का विरोध किया गया है।

ये रहीम फीके दोऊ जानि महा सन्तापु।
ज्यौं तिय कुच आपन गहै, आप बड़ाई आपु॥[3]

चापलूसी—किसी को प्रसन्न करने के लिए उसकी झूठी प्रशंसा आदि करना खुशामद या चापलूसी है। लोग कहते है कि यह युग चापलूसी का है, पर यथार्थ यह है कि चापलूसी का सदैव और सर्वत्र बोलबाला रहा है। शेख सादी ने कहा है कि अगर बादशाह दिन को रात कहे तो कहना चाहिए कि ये चन्द्र और तारे हैं।[4] रहीम ने भी लगभग इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, ४३६।
३ रहीम दो०, १६२।
४ अगर शह रोज रा गोयद शब अस्त ईं।
बेबायद गुफ्त ईनक माहो परवीं।

रहिमन जो रहिबो चहै कहै वाहि के दाँव।
जो बासर को निस कहै तो कचपची देखाव ॥[1]

इससे आशय यह निकलता है कि चापलूसी करनी चाहिए। इससे अपना काम निकाला जा सकता है। पर चापलूसी में यह अच्छाई होते हुए इससे लोग घृणा ही करते हैं। चापलूस और चापलूसी-पसन्द दोनों ही प्रकार के व्यक्ति समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते। इसका प्रधान कारण है चापलूसी का असत्य एवं आडम्बर-पूर्ण भाव पर आधारित होना। चापलूस व्यक्ति अपने किसी स्वार्थ साधन के लिए झूठ-सच जोड़कर तथा अपने यथार्थ भाव को दबाकर किसी की चापलूसी करता है। अतएव नैतिकता की दृष्टि से निश्चय ही चापलूसी अनुचित है।

हिन्दी नीति-काव्य में केवल एक ही छन्द स्पष्ट रूप से चापलूसी के विरोध में मिला है—

स्वार्थ सधै या नहीं आत्मा को मत मारौ।
गला सत्य का घोटि खुसामद बचन उचारौ।
नाहिं अंत में भला कबहुँ ऐसे को ह्वै है।
कहते हैं बुध बिज्ञ मंथरा दशा बिचारौ ॥[2]

यों कुलदीपा ने अपनी सहस्र दोहावली में आधुनिक युग पर व्यंग करते हुए कहा है—

शब्द सुधारक जगत हैं ताको रखत दबाय।
ठकुरसुहाती बात को कहत सभा में गाय ॥[3]

इससे भी चापलूसी के विरोध की ध्वनि निकलती है।

बोलना—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के सम्पर्क में आना पड़ता है और इसके लिए बोलना ही प्रधान साधन है। कहते हैं जबान ही जूता भी खिलाती है और पान भी। इस प्रकार समाज और व्यवहार नीति में बोलने का अपना विशिष्ट महत्व है।

बोलने से मनुष्य के व्यक्तित्व का पता चलता है। वृन्द कहते हैं—

जो लायक जिहि बात कौ तासौ तैसी होय।
सज्जन सो न बुरी करै दुर्जन भली न कोय ॥[4]

---

१ रहीम दो०, १९६।
२ नीति वन्छ०।
३ सहस्र दो०, ८५।
४ वृन्द सत०, १०९।

आशय यह है कि सज्जन से बुरी और दुर्जन से भली बात नहीं हो सकती। यहाँ बात का आशय बात के विषय से है। विषय की भाँति ही बात की शैली और ढंग से भी व्यक्तित्व का पता चलता है। एक बुरी बात को भी ऐसे भले ढंग से कहता है कि बुरी न लगे और दूसरा इसका तनिक भी ध्यान नहीं रखता।

भलै बुरै कौं जानिबौ, जान बचन के बंध।
कहै अंध कौ सूर इक, कहै अंध कौं अंध॥[1]

बोलने के सम्बन्ध में हिन्दी के नीतिकारों ने प्रधान रूप से छः बातों का ध्यान रखने का आदेश दिया है।

बिना सोचे-विचारे कुछ नहीं कहना चाहिए। ऐसा कहना अनर्थ का कारण बन जाता है।[2] पर सोचने-विचारने के लिए समय अपेक्षित है, इसीलिए बहुत बोलना भी बुरा कहा गया है।[3] जो व्यक्ति बहुत बोलता है निश्चय ही उसके लिए सभी बातें समझ-बूझ कर कहना सम्भव नहीं है।

क्रोध के आवेश में व्यक्ति अन्धा हो जाता है, वह उचित ढग से सोच-विचार नहीं सकता, इसीलिए क्रोध के समय कुछ कहने का भी नीतिकारों ने विरोध किया है—

रोष न रसना खोलिए बरु खोलिय तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिय बचन बिचारि।[4]

कटु न बोलना तथा मधुर बोलना भी मनुष्य का बहुत बड़ा बल है। कहा गया है—

कागा काको लेत है, कोयल काको देति।
केवल मीठे बचन तै, सबको बस कर लेति।[5]

कटु बोलने का नीति के कवियों ने तरह-तरह से विरोध किया है। यहाँ दो उदाहरण देखे जा सकते हैं—

रतनावलि कांटों लग्यौ बैदनु दियौ निकारि।
बचन लग्यौ निकस्यौ न कहुँ उन डारौ हिय फारि॥[6]

---

१ वृन्द सत०, ४६६।
२ बिनु समुझे नहिं बोलिये यहै नीति कौ सार। ब्रज सत०, ९९।
३ बकवत रहिये जगत में बकबक, किये अकाज। ब्रज सत०, १७८।
४ तुलसी दो०, ४३५।
५ नीति छन्द०।
६ रत्नावली दो०, ३६।

तथा

खीरा सिर तें काटिए मलिए नमक बनाय।
रहिमन करुवे मुखन को चहियत इहै सजाय ॥[१]

अवसर का विचार कर के बोलना भी बहुत आवश्यक है। बात अच्छी हो, अच्छे ढंग से कही जाय, पर यदि उपयुक्त अवसर पर न कही जाय तो बड़ी अनर्थकारी होती है। रत्नावली ने तुलसीदास से रामप्रेम की उचित ही बात कही थी, पर अवसरानुकूल न होने से ही वह उस बेचारी के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हुई।[२] वृन्द कहते हैं—

नीकी पै फीकी लगे बिनु अवसर की बात।
जैसे बरनत जुद्ध में नाहिं सिंगार सुहात ॥[३]

इसके विरुद्ध बुरी बात भी यदि उचित अवसर पर कही जाय तो वह सुखद होती है—

फीकी पै नीकी लगै कहिये समय बिचारि।
सबकौ मन हर्षित कर, ज्यों बिबाह की गारि ॥[४]

अतएव प्रकरण, समय, सन्दर्भ या अवसर को समझ-बूझकर उसके अनुकूल ही बात करनी चाहिए। तुलसी कहते है—

सुमति बिचारै बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर।[५]

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, किसी बात के कहते समय कहने के ढंग का भी ध्यान रखना चाहिये—

बात कहन की रीति में है अन्तर अधिकाय।
एक बचन तें रिस बढ़ै एक बचन ते जाय ॥[६]

बोलते समय बीच-बीच में कुछ लोग जिससे बात करते हैं, उसको छूते भी रहते हैं। नीति के कवियों ने इसका भी विरोध किया है। वृन्द कहते हैं—

करिये बात न तन परस।[७]

---

१ रहीम दो०, ४६।
२ रत्नावली दो०, ११२, ११३।
३ वृन्द सत०, ४।
४ वृन्द सत०, ५।
५ तुलसी दो०, ४३७।
६ वृन्द सत०, १०५।
७ वही, ३२६।

ऊपर देखा जा चुका है कि समझ-बूझ कर कुछ कहना चाहिए। इसी के साथ नीति के कवियों ने इस बात पर भी बल दिया है कि जो कुछ मुँह से निकल जाय उसका प्राणप्रण से पालन भी करना चाहिए या उस पर दृढ़ रहना चाहिए। रामचरित उपाध्याय ने कहा है—

जो कहि दीजै बाहि को कीजै नैनन मींच।
प्रानहु दै प्रन पूरिये, जथा मार मारीच॥[1]

बोलने के सम्बन्ध में नीति के कवियों द्वारा कही गई प्रधान बातों का उल्लेख यहाँ किया गया है। यदि व्यक्ति बोलने में इसका ध्यान रखे तो बोलने के कारण आने वाली आफतों एवं बहुत सी असुविधाओं तथा असंगतियों से वह बच सकता है।

हंसी--रोनी सूरत बनाये रखने से हँसमुख रहना प्रत्येक दृष्टि से अच्छा है। इसका प्रभाव स्वास्थ्य तथा मन दोनों ही पर पड़ता है। व्यावहारिकता की दृष्टि से भी हँसमुख रहने वाला व्यक्ति अधिक सफल होता है। पर, इस हँसमुख होने या रहने की भी एक सीमा है। सीमा के भीतर की हँसी या हँसमुख होना जितना अच्छा है, सीमा के बाहर उतना ही बुरा। एक भोजपुरी की लोकोक्ति है—

रोग क जर खाँसी, झगरा क जर हाँसी।

नीति-काव्य में भी कहा गया है—

हँसी कलह कौ मूल है, जो न उचित हो तात।[2]

किसी की बार-बार हँसी उडाना या उपहास करना भी नीति-काव्य में बुरा कहा गया है। जान कहते है :

बार-बार उपहास करि हँसि हँसि परिये नाहिं।[3]

हँसी के सम्बन्ध में दो और बातों का ध्यान रखना भी नीति-काव्य में आवश्यक कहा गया है। एक तो यह कि कोई बात कहकर स्वयं ही पहले नहीं हँस पडना चाहिये, और दूसरे यह कि तभी हँसना चाहिये जब हँसी का अवसर हो। स्थान और अवसर के अनुकूल हँसी ही अच्छी होती है। जान का छन्द है—

हँसि-हँसि परिहै आपुही, बिनु हाँसी के ठौर।
ताते रोबन है भलो, कहत गुनी सिरमौर॥[4]

---

१ ब्रज सत०, १९७।
२ नीति छन्द०।
३ सिषसागर पन्दनावा।
४ वही।

उपदेश—उपदेश के सम्बन्ध में तुलसी की एक प्रसिद्ध पंक्ति लोकोक्ति बन चुकी है—

पर उपदेश कुसल बहुतेरे।

दूसरों को उपदेश देने में बहुत से लोग कुशल होते हैं, पर स्वयं उन उपदेशों के अनुसार कम लोग आचरण करते हैं।[1] यह प्रायः देखा जाता है कि शिक्षक, गुरु साधु तथा भाषणकर्त्ता के रूप में बहुत से लोग जनता को वैयक्तिक या सामूहिक उपदेश देते हैं पर वे स्वयं उसका अनुसरण नहीं करते। कबीर ने ऐसे ही लोगों के लिए कहा है--

रासि पराई राषतां खाया घर का खेत।
औरों को परबोधता मुख में पड़िया रेत।[2]

यथार्थतः किसी बात का उपदेश देने का केवल उसे ही अधिकार है, जिसने उस उपदेश को अपने जीवन में उतार लिया हो।

उपदेश के सम्बन्ध में नीति के कवियों ने दो और बातों की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। उपदेश उचित पात्र को देना चाहिये। कुपात्र मूर्ख या दुष्ट के कान में उपदेश नहीं ठहरता--

बुध के मृदु उपदेश को खल त्यागें ततकाल।
तुरत बिनासै तोरि कपि जथा सुमन की माल।[3]

अतएव उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है—

मूरख खल कौ साधु जन उपदेसत न विचार।
कपि कौ दीन्ही सीख खग कीन्यो गेंह उजारि।[4]

बड़ों, गुरुजनों, ज्ञानियों तथा योग्य लोगों के उपदेश का स्वागत करना चाहिए। चाहे वे कड़ुवे ही क्यों न हों। यों स्वास्थ्यकर औषधि की भाँति उपदेश प्रायः कड़ुवे होते भी हैं।

बुरे लगत सिख के बचन हिये बिचारो आप।
करुई भेषज बिन पिये मिटे न तन को ताप।[5]

---

१ जे आचरहिं ते नर न घनेरे। तुलसी, मानस, ६.७८।

२ कबीर ग्रन्थ० पृ० ३७।

आप कहै नाहीं करै ताकौ है यह हेत।
आप जाय नहिं सासुरे औरन को सिख देत। वृन्द सत०, ३९०।

३ दृष्टान्त तरंग०, ११३।

४ वही, ८६।

५ वृन्द सत०, २६।

इनके कड़ुवेपन का ध्यान न कर इन्हें सुनना तथा इनके अनुसार आचरण करना चाहिए।

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै हित मानि।
सो पछिताय अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि।[1]

इस प्रकार उपदेश के तीन पक्षों—(क) उपदेश कौन दे, (ख) उपदेश किसको दे, तथा (ग) उपदेश सुनने वाला उसे किस प्रकार ग्रहण करे—पर नीति काव्य में मोटे रूप से प्रकाश डाला गया है।

सुख—सुख एक प्रकार का अनुकूल और प्रिय अनुभव है, जिसके बराबर होते रहने की इच्छा होती है। इस अनुभव की प्रतीति मन को होती है, शरीर या आत्मा को नहीं।[2]

सुख के सम्बन्ध में नीति-काव्य में इसके अतिरिक्त प्रधान रूप से तीन बातें कही गई हैं। एक तो यह कि यह माँगने से नहीं मिलता—

चूकत चित नहिं देखु जो सुख माँगे मिलि जात।
तौ सपनेहुँ कहूँ नहीं दुखिया कोऊ लखात।[3]

अर्थात् इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है या यह भाग्य या पूर्वजन्म के कर्मों पर निर्भर है।

दूसरे यह कि इसकी प्राप्ति के लिये मन में सन्तोष का होना आवश्यक है।[4] असन्तोषी व्यक्ति अच्छी से अच्छी और सुखदायक परिस्थिति में रहकर भी सुखी नहीं हो पाता और दूसरी ओर सन्तोषी बुरी से बुरी परिस्थिति में भी सुखी रह सकता है।

तीसरे यह कि सुख स्थायी नहीं है। सुख और दुख दोनों ही बारी-बारी से आते रहते हैं।[5]

दुःख—दुःख उस अप्रिय, प्रतिकूल और कष्टकर अनुभव को कहते हैं, जिससे लोग सर्वदा दूर रहना चाहते हैं। सुख की भाँति दुःख का भी सम्बन्ध मन से है। दीनदयाल कहते है—

---

१ **तुलसी दो०, ४२१।**

२ **सुख दुख हैं मन के धरम नहिं आतमा माहिं। दृष्टान्त तरंग०, १९४।**

३ **ब्रज सत०, ५५।**

४ **तुलसी दो०, ६२।**

५ **पाँच बात ये जगत में निबहत नाहिं निदान।**
लछी सुष दुष रूप छबि तरुनाई कहि जान। सिषसागर पन्दनावा।

सुख दुख है मन के धरम, नहीं आतमा माहिं ।
ज्यों सुषुपति में द्वन्द दुख मन बिनु भासे नाहि ।।[1]

दुखी होना कोई भी नही चाहता, फिर भी नीति के कवियों ने दुख की प्रशंसा की है । यह प्रशंसा कई कारणों से हुई है । भक्त कवि दुख को सुख से ऊँचा स्थान देते या अच्छा मानते हैं, क्योंकि मनुष्य सुख में भगवान् को भूल जाता है, पर दुख में उसे भगवान् का स्मरण क्षण-क्षण पर आता है । दादू कहते हैं—

बिपति भली हरि-नाव सूँ काया कसौटी दुक्ख ।
राम बिना किस काम का दादू सम्पति सुक्ख ।।[2]

रहीम भी इसी भाव से कहते हैं कि दीनता के रस को अन्धा संसार नही जानता—

दिव्य दीनता के रसहिं, का जाने जग अन्धु ।
भली बिचारी दीनता दीनबन्धु से बन्धु ।।[3]

गुण सीखने के लिए भी दुःख सहना आवश्यक है । वृन्द कहते हैं—

दुख पाये बिनु हूँ कहीं गुन पावत है कोइ ।
सहै बेध बन्धन सुमन, तब गुन संयुत होइ ।।[4]

दुख की एक विशेषता यह भी है कि इसमें तप कर आदमी खरा हो जाता है । जिसे दुख की अनुभूति कभी नहीं हुई, उसके व्यक्तित्व में वह विशालता और महानता कभी आ ही नही सकती जो सफल व्यक्ति के लिये आवश्यक है ।

बिपत कसौटी में विमल जासु चरित दुति होय ।
जगत सराहन जोग तिय, रतन सती है सोय ।।[5]

अपने द्वारा किए गए पापों को दूर करने के लिए भी दुख का स्वागत करना आवश्यक है—

ज्यों ज्यों दुष भोगति तसहिं दूरि होत सब पाप ।
रतनावलि निरमल बनत जिमि सुबरन सहि ताप ।।[6]

---

१ दृष्टान्त तरंग०, पृ० १६४ ।
२ दादू बा०, पृ० १८८ ।
३ रहीम दो०, पृ० ६६ ।
४ वृन्द सत०, पृ० १७० ।
५ रत्नावली दो०, पृ० १३५ ।
६ वही, पृ० ६७ ।

दुःख में सबसे बडा गुण यह है कि उसके आने पर ही यथार्थ तथा ऊपरी सगे-सम्बन्धियों की पहचान होती है। रहीम कहते हैं—

रहिमन विपदाहू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जान परत सब कोय ॥[1]

पीछे स्त्री तथा मित्र पर भी विचार करते समय कहा जा चुका है कि दुःख में ही इनके यथार्थ या अयथार्थ प्रेम की पहचान होती है।

दुःख के सम्बन्ध मे नीति के कवियों द्वारा कहीं गई अन्य बातों में प्रधान निम्न है :

दुःख भी सुख की भाँति ही अस्थायी होता है तथा ये दोनों बारी-बारी मे आते रहते हैं—

सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत।
दिवस गये ज्यों निस उदित, निस गत दिवस उदोत ॥[2]

दुःख जब तक दूर रहता है तभी तक उससे भय लगता है, जब पड़ जाता है तो किसी प्रकार काटते ही बनता है—

तौलौं ही डर बिपति सों जब लौं बिपति सुदूर।
नद में डूबे नाव तौ पैरे परियत पूर ॥[3]

जान-बूझ कर किसी को दुख देना उचित नहीं। चाहे कोई व्यक्ति अपना सगा ही क्यों न हो, यदि दुख देता है तो निश्चय ही अपने लिए अप्रिय हो जाता है।[4] तुलसी ने "परपीडा सम नहिं अधमाई" में भी इसका विरोध ही किया है।

दुःख मे बुद्धि उलटी हो जाती है—

मति फिरि जाय बिपत्ति में राव रंक इक रीत।
हेम हिरन पाछे गये राम गँवाई सीत ॥[5]

---

१ रहीम दो०, पृ० २३६।

२ वृन्द सत०, ११०। जान ने भी लिखा है—

पाँच बात ये जगत में निबहत नाहिं निदान।
लछी सुक्ख दुख रूप छबि तरुनाई कहि जान ॥

सिवसागर पन्दनावा

३ ब्रज सत०, पृ० ५०।

४ **को चाहे अपनी तऊ जा संग लहिये पीर।**
जैसे रोग सरीर में उपजत दहत सरीर ॥ वृन्द सत० १३१।

५ वृन्द सत०, पृ० ५९२।

तथा दुःख के यथार्थ मित्र विद्या, विनय, धैर्य, धर्म, शील तथा विवेक आदि है।[१]

आरम्भ में कहा जा चुका है कि दुःख मन का विषय है, आत्मा का नहीं। इसीलिए आत्म-लीन व्यक्ति सुख-दुःख से ऊपर रहते हैं। एक आधुनिक कवि ने इसी ओर लक्ष्य करके सुख-दुःख के सम्बन्ध में कहा है--

गम होता है उन्हें जिन्हें खुशियों से प्यार है।[२]

फूट और मेल--विरोध या वैमनस्य के कारण होने वाला भेद फूट है और आपस का सद्भाव, जिसमें मिलकर काम करने की तथा एक दूसरे को सहायता पहुँचाने की भावना हो मेल है। इतिहास इसका साक्षी है कि मेल जितना ही लाभकर है, फूट उतनी ही हानिकर। अपने दैनिक जीवन में भी हम प्रायः इसका अनुभव करते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में हिन्दी नीति-काव्य में भी इन्हीं सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है और मेल से रहने तथा फूट से दूर रहने की शिक्षा दी गई है।

गंग फूट का विरोध करते हुए लिखते हैं--

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट-हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यौ जो विभीषन है,
रावन समेत बंस आसमान को गयो।
कहैं कवि गंग दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक में फूटे ते गुमान वाको ढह गयो।
फूटे ते नरद उठि जात बाजी चौसर की,
आपुस के फूट कहु कौन को भलो भयो॥[३]

गिरिधर कविराय भी इसके दुष्परिणाम को दिखाते हैं--

कह गिरिधर कविराय फूट जेहि के घर आई।
हिरनाकस्यप कंस गये बलि रावन भाई॥[४]

---

१ **तुलसी साथी बिपति के विद्या विनय विवेक।**
साहस सुकृत सत्यव्रत राम भरोसो एक॥ तुलसी सत०, ७. ४६।
तुलसी असमय के सखा साहस धर्म विचार।
सुकृत सील स्वभाव ऋजु रामसरन आधार॥ तुलसी सत०, ७. ४७।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत काल परखियहु चारी। तुलसी

२ **गोपाल ब्रह्मचारी : काव्य वाटिका, पृ० २३३।**

३ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २७६।**

४ **गिरिधर कुंडo, पृ० ६४।**

रामचरित उपाध्याय मेल की प्रशंसा करते है—

सुबल सुमन्त्र सुकर्म जहँ, जहँ एका सुविचार ।
तहँ सुख-सम्पति जय सदा, उन्नति होति अपार ।।[1]

मेल के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें भी नीति-काव्य में कही गई है । मेल दोनों पक्षों के चाहने पर ही सम्भव है । केवल एक पक्ष के चाहने से यह नहीं हो सकता । वृन्द कहते हैं—

दोऊ चाहें मिलन कौं तौ मिलाप निर्धार ।
कबहूँ नाहिन बाजिहै, एक हाथ सौं तार ।।[2]

मेल के लिए केवल ऊपर से मिलना पर्याप्त नहीं है । ऊपर के साथ भीतर को भी या दिल को भी मिलना चाहिये—

का ऊपर ते मिलिबो जिय जब चाक ।
खीरा बाहर ते इक भीतर फाँक ।।[3]

संग—किसी के साथ रहने या सम्पर्क में आने को साथ, संग या सोहबत कहते हैं । संग का संग मे रहने वालों पर प्रभाव पड़ता है । हिन्दी के बहुत से नीति के कवियों ने इसे अपने-अपने ढंग मे कहा है । एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

संगत के अनुसार ही सबको बनत सुभाइ ।
सांभर में जो कुछ परै निरौ नोन ह्वै जाइ ।।[4]

बुरे व्यक्ति भी अच्छों का साथ पकड़ कर धीरे-धीरे अच्छे बन जाते हैं और उनके दुर्गुण आदि दूर हो जाते है—

नीचहुँ उत्तम संग मिलि उत्तम ही ह्वै जाय ।
गंग संग जल हृद्य हूँ गंगोदक के भाय ।।[5]

दूसरी ओर कुसंग बुराई का घर है । सज्जन भी इसके कारण कलङ्कित होते है—

रहिमन नीचन सग बसि लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारी कर गहै मद समुझै सब ताहि ।।[6]

१ **ब्रज सत०**, पृ० ३७ ।
२ **वृन्द सत०**, ४०७ ।
३ **स्वदेश सत०**, ६३१ ।
४ **दुलारे दो०**, ९६ ।
५ **वृन्द सत०** ४२३ । **दुलारेलाल ने भी कहा है—**
सतसंगत लघुबंस हू हरि अवगुन गुन देति ।
केहि न कान्ह अधरन धरी बंसी बस करि लेति ।। दो० १५७ ।
६ **रहीम दो०**, २०९ ।

और बड़ों की महिमा भी घट जाती है—

बसि कुसंग चाहत कुसल यह रहीम जिय सोस।
महिमा घटी समुद्र की रावन बसा परोस ॥[1]

इस प्रकार अच्छे की संगति अच्छी और सुख का कारण है, तथा बुरे की संगति बुरी तथा दुःख का कारण है :

होत सुसंगत सहज सुख दुख कुसंग के थान।
गंधी और लुहार की देखौ बैठ दुकान ॥[2]

'सग से लोग प्रभावित होते हैं' यह एक सामान्य सिद्धान्त है और प्रायः नीतिकारों ने इसे माना है। संस्कृत में भी 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' कहकर इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। पर इसके विरोध में भी हिन्दी नीति-काव्य में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। रहीम कहते हैं कि अच्छी प्रकृति के लोगों पर बुरे के संग का प्रभाव नहीं पड़ता—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकै कुसंग।
चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजङ्ग ॥[3]

यद्यपि उन्हीं ने यह भी कहा है :

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन ॥[4]

इसी प्रकार वृन्द भी एक स्थान पर कहते हैं—

सुधरै बिगरि कुसंग ते सतसंगति को पाय।
बासहिं सीकर हींग की जीरा संग मिट जाय ॥[5]

पर वहीं वे यह भी कहते हैं—

बिगर्‌यो होय कुसंग जिहि, कौन सकै समुझाय।
लसुन बसाये बसन को, कैसे फूल बसाय ॥[6]

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी नीति-काव्य में संग के सम्बन्ध

---

१ रहीम दोहा०, १३३।
२ वृन्द सत०, २३६।
३ रहीम दो०, ७९।
४ वही, २४।
५ वृन्द सत० २३८।
६ वही, २३९।

में ये विरोधी बातें क्यों कही गई है, या एक ही कवि ने (जैसे वृन्द या रहीम) इसके सम्बन्ध में विरोधी विचार क्यों व्यक्त किये हैं। पर, यथार्थतः ये बातें विरोधी होते हुए भी अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। ऐसे भी बुरे व्यक्ति होते है जो अपने व्यक्तित्व की अलोचता या बुराई की अधिकता के कारण भले के संग में रहने पर भी नहीं सुधरते, पर इसके विरुद्ध ऐसे भी बुरे व्यक्ति होते हैं, जो भले का संग पाकर सुधर जाते है। ठीक इसी प्रकार ऐसे भले व्यक्ति भी ससार में होते है जो बुरे के साथ रहने पर भी बुरे नहीं बनते और दूसरी ओर ऐसे भी होते है जो बुरे के साथ मे पड़ते ही उससे प्रभावित होकर बुरे बन जाते है। इस तरह हिन्दी नीति-काव्य मे व्यक्त की गई दोनों ही—संग का प्रभाव पड़ता है,[1] संग का प्रभाव नही पडता है[2]—विरोधी बाते अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। यों इन विरोधी मतों के बावजूद भी प्रायः सभी नीति के कवि इस सम्बन्ध में एकमत है कि बुरे का संग कभी न करे, वह दुखदाई होता है :

सबसे नीतिशास्त्र कहता है, दुष्ट संग दुख का दाता है।
जिस पय में पानी रहता है, वही खूब औटा जाता है॥[3]

और अच्छे का संग अवश्य करे, क्योंकि उससे सुख मिलता है और उन्नति होती है—

तुच्छ कीट भी ज्यों पंकज मे रहकर हर सिर पर चढता है।
त्यों करके सत्संग सहज में, नर निज उन्नति को करता है॥[4]

भाग्य—मनुष्य के कार्य तथा उसकी सफलता-असफलता आदि को पहले से ही निश्चित करने वाला दैवी विधान "भाग्य", किस्मत या तकदीर आदि नामों से पुकारा जाता है। इसे लोग ब्रह्मा द्वारा लिखा मानते है, अतः इसका नाम ब्रह्मलेख या विधिलेख भी है। धर्मप्रधान देश भारतवर्ष कर्म में विश्वास रखता हुआ भी अनादि काल से भाग्यवादी रहा है, इसी कारण भारतीय साहित्य में भाग्य को बहुत महत्व दिया गया है। हिन्दी का नीति-काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। कुछ नवीन कवियों को छोड़कर प्रायः सभी ने भाग्य को ही मनुष्य के जीवन में घटने वाले भले-बुरे सबका कारण माना है।

संस्कृत की प्रसिद्ध कहावत है :

भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।

१ **ब्रज सत०**, १९; **तुलसी दो०**, ३५८।
२ **वृन्द सत०**, ४०५; **बिहारी सत०**, ६३८।
३ **काव्य वाटिका**, पृ० २०८।
४ **वही**, पृ० २०७।

हिन्दी नीति-काव्य में भी इस प्रकार के भाव व्यक्त किये गये है। रहीम कहते है—

जो पुरुषारथ ते कहूँ सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम॥[1]

अर्थात् पुरुषार्थ या उद्यम कुछ भी नही है, भाग्य ही सब कुछ है। दीनदयालगिरि भी उसी स्वर में कहते है—

भाग्य फलत है सकल थल, नहि विद्या बल बांह।
पायो श्री अरु गरल को हरि हर नीरधि मांह॥[2]

सामान्यतः कहा जाता है कि गुण के कारण व्यक्ति यश पाता है, पर भाग्यवादी नीतिकारों ने यशप्राप्ति के लिए भाग्य को भी आवश्यक माना है :

केवल गुन ही ते न जस, चहिये भाग सहाय।
फूलत फलत न देखिये, महगो पान बिकाय॥[3]

इस प्रकार भाग्य बहुत ही प्रबल है[4] और उसका लिखा होकर ही रहता है :

कहूं जाहु नाहिन मिटत जो बिधि लिख्यो लिलार।
अंकुस भय करि कुंभ कुच, भयँ तहाँ नख मार॥[5]

और लाख परिश्रम करने का भी कोई फल नही होता—

उद्दिम एकै बहु करैं, भाग सरिस फल होय।
सुधा लह्यो सुर उदधि मथि, लह्यो असुर विष रोय॥[6]

यह भाग्यवादी नीतिकारों का पक्ष था। आधुनिक नीतिकार कवि भाग्य के इस महत्व को नही स्वीकार करते। उनकी दृष्टि मे कर्म, उद्यम या श्रम ही मनुष्य को सफलता प्रदान करने वाला है। इस पक्ष के दो उदाहरण देखे जा सकते है—

लोहा चमकै घिसै से लकड़ी रगड़े आग।
सोना चमके ताप से श्रम से चमकै भाग॥[7]

---

१ रहीम दो०, ७६।
२ वृष्टान्त तरग०, १४६।
३ ब्रज सत०, ३६।
४ रतन वैद बस अमृत विष, विष अमिरत बनि जात।
सूधी हू उलटी परै, उलटी सूधी बात॥ रत्नावली दो०, ११४।
५ बृन्द सत०, ३२; कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५८।
६ ब्रज सत०, १३३।
७ नीति के दोहे।

तथा

होत परिश्रमशील नर सुभग भाग्य भरपूर।
कहि विधि लिपि उद्यम-विमुख दामोदर तैं कूर॥[1]

सच पूछा जाय तो उद्यम और भाग्य दोनों का ही अपना-अपना स्थान है। भाग्य कोई भी चीज नही, ऐसा नही कहा जा सकता। भाग्य कहें या चास या कुछ और पर इस प्रकार की कोई चीज़ है अवश्य। हम कभी-कभी देखते है कि एक व्यक्ति सामान्य श्रम से ही बहुत उन्नति कर जाता है पर दूसरा विद्या-बुद्धि में उससे श्रेष्ठ तथा बहुत परिश्रमी होते हुए भी जीवन मे असफल रहता है। इसी प्रकार श्रम, उद्यम या पुरुषार्थ का भी अपना स्थान है। वृन्द, रहीम या दीनदयाल आदि ने जो भाग्य पर अत्यधिक बल दिया है तथा उसके समक्ष उद्यम आदि को निरर्थक कहा है, उचित नहीं कहा जा सकता। बिना उद्यम के भाग्य मे लिखी चीज भी प्राप्त नही हो सकती अतएव यथार्थता यह है कि भाग्य और उद्यम दोनों ही महत्वपूर्ण है और व्यक्ति की सफलता दोनो के उचित योग पर ही निर्भर करती है।

समय—समय शब्द का नीति-काव्य में दो अर्थों मे प्रयोग हुआ है। एक तो समय का अति प्रचलित अर्थ है "वक्त"। जैसे समय का अपव्यय उचित नहीं। दूसरा अर्थ है "अवसर"। जैसे समय आने पर काम अपने आप हो जायेगा।

पहले अर्थ में समय के विषय में हिन्दी नीति-काव्य मे केवल यह कहा गया है कि वह ससार मे सबसे अधिक मूल्यवान है। मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु भी हाथ से चली जाने पर प्राप्त हो सकती है पर समय नही।

दुख सुख धन जीवन मरन पैये बार करोर।
बीत गयो जो फिर कबौ समय न मिलत बहोर॥[2]

इसका आशय यह है कि इसका उपयोग बहुत ही समझ-बूझकर करना चाहिये।

समय अपने दूसरे अर्थ में भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सभी अच्छे या बुरे काम अपने उपयुक्त अवसर या समय पर ही होते है। कोई लाख प्रयत्न करके भी किसी काम को समय से पूर्व या बाद में नहीं करा सकता। वृन्द ने कहा है—

समय पाय तरुवर फलै केतक सींचौ नीर।[3]

१ **सुधा सरोवर**, पृ० ५२।
२ **ब्रज सत०**, ८९।
३ **वृन्द सत०** १८४।

समय या अवसर दो प्रकार का हो सकता है। एक तो उपयुक्त या ठीक और दूसरा अनुपयुक्त या बेठीक। अनुपयुक्त या बेठीक समय या कुअवसर, छोटे-बड़े और अच्छे-बुरे सभी के लिए बुरा होता है। गिरिधर कविराय ने सिंह-सिंहनी, समुद्र-नाला बाज-बगुला तथा बिल्ली-चूहा आदि कितने ही उदाहरणों को लेकर बड़े सुन्दर ढङ्ग से इस बात की पुष्टि की है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते है—

मूसा कहै बिलार सों सुन रे झूठ झुठैल।
हम निकसत हैं सैर को तुम बैठत हौ गैल।
तुम बैठत हौ गैल कुचरि धक्कन सों जैहो।
तुम हो निपट गरीब कहा घर बैठे खैहो।
कह गिरिधर कविराय बात सुनिये हो हूसा।
बाउ दिनन का फेर बिलारिहि सिखवै मूसा॥[1]

गिरिधर की एक और कुण्डलिया इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है—

साई अवसर के पड़े को न सहै दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर वे राजा हरिचन्द॥
वे राजा हरिचन्द करें मरघट रखवाली।
फिरै तपस्वी वेष धरै अर्जुन बलधारी।
कह गिरिधर कविराय तपै वह भीम रसोई।
को न करै घटि काम परै अवसर के साई॥[2]

कुसमय में सच्चे मित्र भी शत्रु बन जाते है—

जेहि अंचल दीपक दुर्‌यो हन्यो सो ताही गात।
रहिमन असमय के परै मित्र शत्रु ह्वै जात॥[3]

इसीलिये बुरे समय के आने पर धैर्य के साथ अच्छे समय की प्रतीक्षा करनी उचित कही गई है—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देख दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं बनत न लगिहैं बेर॥[4]

यहाँ चुप बैठने से रहीम का आशय कुछ न करने से नहीं है। इसका केवल

---

१ गिरिधर कुण्ड०, ५१।
२ गिरिधर कुण्ड०, ५६।
३ रहीम दो०, ६९।
४ वही १८८।

उस समय उसे न करें

यह अर्थ है कि जिस काम के लिए जो समय उपयुक्त न हो उसके लिए उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

व्य में सलाह दी गई है,

जिस प्रकार कुसमय में कुछ न करने की नीति-क भी बल दिया गया है। उसी प्रकार उचित समय आने पर उसके पूरे उपयोग पर गिरिधर कहते हैं—

ान।[1]

साईं समय न चूकिये यथाशक्ति मनम

तुलसी ने भी लिखा है—

।

तृषित बारि बिनु जो तनु त्याग ।

मुये करै का सुधा तड़ाग ने।

का बरषा जब कृषी सुखा ने।[2]

समय चूक पुनि का पछत तो वह बड़ा हो जाता है और

सुअवसर ऐसा है कि छोटे के लिए भी आये

बुरी से बुरी चीज भी अच्छी लगने लगती है—

गावै गार।

बिन अवसर न सुहाय तन चदन -सौ गार॥[3]

औसर की नीकी लगै मीता सौ

इस प्रकार अवसर या समय में बड़ी शक्ति है, ष बलवान।

सदा समय बलवान पै नाहि पु य रथवान॥[4]

काबरि लरि गोपी लई विरथ भ

या

होत बलवान।

पुरुष बली नहिं होत है समय न वहि बान।[5]

भीलन छीनी गोपिका वहि अर्ज

सभी साधनों के रहते हुए भी समय

अतएव सफलता की प्राप्ति के लिए अन्य है। बिना उचित समय आए कोई

की नब्ज पर हाथ रखकर आगे बढ़ना अत्यावश्यव

भी काम सफल नहीं हो सकता।

देखना है तथा भविष्य की चिन्ता

बीती बात—मनुष्य को अपना वर्तमान भूल जाना ही श्रेयस्कर कहा है। यह करनी है, अतः नीतिकारों ने बीती बातों को

---

१ **गिरधर कुण्ड०**, ७४।

२ **मानस**, १. २६१।

३ **रतन हजारा**, ६२१।

४ **वृन्द सत०**, १६६।

५ **नीति छन्द०**।

विशेषतः उन लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है जो अपनी बीती असफलताओं या भूत के गर्त में सोये अपमानों एवं हानियों की चिन्ता कर घुलते रहते है। ऐसा करने से इनकी दो हानियाँ होती हैं। एक तो ये व्यर्थ में अपने को चिन्तित एवं दुखित बनाते हैं, दूसरे भूत में चिंतित रहने के कारण अपने वर्तमान एवं भविष्य की उचित चिन्ता नहीं कर पाते। गिरिधर कविराय ने लिखा है—

बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेइ।
... ...
कह गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे को सुख समुझ होई बीती सो दीती ॥[1]

अतएव बीती बातों को भूलकर या उनकी ओर ध्यान न देकर हमे अपने वर्तमान तथा भविष्य के विषय में सोचना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार के उपदेशो मे नीति के कवियों का आशय उन बीती बातो को भूलने का नही, है जिनसे हमें आगे बढ़ने में सहायता एव उत्साह की प्राप्ति हो।

स्थान—स्थान का भी विविध दृष्टियों से अपना महत्व होता है। अच्छी से अच्छी वस्तु भी बुरे स्थान मे जाकर अपना महत्व खो बैठती है।[2] इसीलिए गुणियों या अच्छों को स्थान का विचार करके जाना चाहिये। जहाँ उनका आदर न हो या जहाँ जाना उनके लिए उचित न हो, ऐसे स्थान पर उन्हे नही जाना चाहिये। बिहारी की एक अन्योक्ति है—

अरे हंस या नगर मे जैयो आप विचारि।
कागनि सों जिन प्रीति कर कोकिल दई बिडारि ॥[3]

इसके विरुद्ध अच्छे स्थान पर जाकर बुरे भी अच्छे हो जाते है—

बुरौ तऊ लागत भलौ, भलौ ठौर पै लीन।
तिय नैननि नीकौ लगै काजर जदपि मलीन ॥[4]

इन दोनों प्रकार की बातों के निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि स्थान के अनुसार ही गुण, सौन्दर्य, योग्यता तथा वस्तु आदि को सफलता या असफलता मिलती है। वृन्द ने इसे दूसरे ढंग से कहा है-—

---

१ गिरधर कुण्ड०, ६९।
२ बिहारी सत०, ६६३; दृष्टान्त रत्न, १३०।
३ बिहारी सत०, ६६०।
४ वृन्द सत०, ५१२।

जैसो थानक सेइयो तैसो पूरे काम।
सिंह गुफा मुक्ता मिलै स्यार खुरी खर चाम।[1]

अपना स्थान अपने लिए सर्वोत्तम कहा गया है। वहाँ से हटने या च्युत होने पर अपनी दशा बुरी हो जाती है। रहीम कहते है—

माह मास लहि टेसुआ मीन परै थल और।
त्यौ रहीम जग जानियं छूटे आपुनै ठौर॥[2]

वृन्द तो कहते है कि अपने स्थान का महत्व इतना अधिक है कि वहाँ से हटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते है—

ठौर छूटे तै मीतहूं ह्वै अमीत सतरात।
रबि जल उखरे कमल कौ जारत गारत जात।[3]

अपना स्थान दाँव, शक्ति या अधिकार आदि की दृष्टि से भी अपने लिए अन्य स्थानों की तुलना में अच्छा होता है। भोजपुरी की लोकक्ति है—

अपनो दुवार कुकुरो बड़ियार।

वृन्द ने भी कहा है—

अपनी अपनी ठौर पर लागै सबकौ दाँव।
जल में गाड़ी नाव पर थल गाडी पर नाव॥[4]

अपने स्थान का अपने लिए उपयुक्त होने की बात हर दृष्टि से ठीक नहीं है। विद्या तथा गुण आदि की कदर प्रायः दूर जाकर ही होती है। तुलसी ने

उपजहिं अनत अनत छबि लहही।[5]

में इसी ओर संकेत किया है। लोकोक्ति भी है "घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध"।

उत्थान और पतन—उन्नति और अवनति या उत्थान और पतन दोनों ही व्यक्ति, परिवार, जाति या देश सभी के जीवन मे क्रम से आते रहते है। न तो कोई सर्वदा उन्नति के शिखर पर रहता है और न अवनति के गर्त मे ही। नीति-काव्य में इसे कई कवियों ने कई प्रकार से कहा है। दुलारेलाल भार्गव फूल को सम्बोधित करके कहते है—

---

१ **वृन्द सत०**, २४६।
२ **रहीम दोहा०**, १५३।
३ **वृन्द सत०** २५८।
४ **वही**, २६५।
५ **मानस** १. ११.४।

बसि ऊँचे कुल यों सुमन मन इतरैए नाहिं।
यह विकास दिन द्वैक को मिलिहै माटी मांहि ॥[1]

यहाँ उत्थान या उन्नति को अस्थायी कहा गया है। पतन या अवनति को अस्थायी दिखलाते हुए सनेही जी लिखते हैं—

जो विधि वश था बना भूप के रंक भिखारी।
और नहीं था मित्र साथ बस थी नाचारी।
राजभवन क्या नही कही पर रही कुटी थी।
प्रबल शत्रु के हाथ सकल संपत्ति लुटी थी।
वही आज फिर देखिये बना नृपति सिरमौर है।
दुनिया का है तौर ही आज और कल और है ॥[2]

आशय यह है कि उत्थान और पतन दोनों ही अस्थाई है और बारी-बारी से आते रहते है, अतएव किसी को न तो अपने उत्थान के कारण गर्व से फूलना चाहिये और न किसी को अपने को अवनतावस्था में पाकर निराश ही होना चाहिये।

वीर—वीर की प्रतिष्ठा सर्वदा से होती आई है 'वीर भोग्या वसुन्धरा' में वीरों के प्रति सम्मान की अच्छी झलक है।[3] हिन्दी के नीति-काव्य में भी वीरों का बड़ा स्तवन है। इस सम्बन्ध में कविराजा बाँकीदास की सूरछतीसी, वीरविनोद, सूर्यमिश्र की वीर सतसई तथा वियोगी हरि की वीर सतसई द्रष्टव्य हैं।

वीर दृढ, अपनी शक्ति का भरोसा रखने वाले, स्वतन्त्रताप्रेमी, गम्भीर, दुष्टों के नाशक, दयालु तथा वचन के पालक आदि होते है।[4] वे शत्रु को शीश-दान देते हैं पर पीठ-दान नहीं देते—

मुँह मागे रण सूरमा देतु दान पर हेतु।
सीस दान हू देतु पै पीठि दानु नहिं देतु ॥[5]

मरकर भी युद्धस्थल नहीं छोड़ते—

खंड खंड ह्वै जाय बरु देतु न पाछे पैंड।
लरत सूरमा खेत की मरत न छाड़तु मैंड ॥[6]

---

१ दुलारे दो०, १९५।
२ काव्य वाटिका, पृ० ३५०।
३ सकल धरातल चार को सिंह सांप बुध वीर।
जहं चाहैं बेरोक तहँ बिहरैं बसें अभीर। ब्रज सत०, पृ० १४३।
४ वियोगी हरि: वीर सत०, पृ० ७४. १४. ४. ३।
५ वही, पृ० ३।
६ वही, प० २।

तथा भयभीत होना तो जानते ही नहीं—

सूरा रण माँके नहीं, हुवै न काटल हेम।
टूक करै तन आपनो, काँच कटोरा जेम ।।[1]

तुलसी ने 'वीर न होहिं अधीर[2]" विपत्ति आदि में अधीर न होना भी उनका गुण बतलाया है। साथ ही —

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।[3]

वे प्रलापी भी नहीं होते। उनका कर्म करने में विश्वास होता है।

इन सारे गुणों का किसी एक व्यक्ति में होना सरल नहीं है, इसी कारण, सर्वत्र वीरों का पाया जाना भी सम्भव नहीं। लाखों में यथार्थ वीर कोई एक ही होता है। नीति के कवियो ने भी कहा है—

खल खडन, मंडन सुजन सरल सुहृद सविवेक।
गुण गम्भीर रण-सूरमा, मिलतु लाख में एक ।।[4]

कायर—कायर वीर का विरोधी शब्द है। वीरों की साहित्य में जितनी ही प्रशंसा हुई है, कायरों की उतनी ही निन्दा। बाँकीदास ने कायरों पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ "कायर बावनी" लिखा है।

हिन्दी-नीति काव्य में कायर व्यक्ति डरपोक, अविवेकी तथा परतन्त्रता के प्रेमी कहे गये है।[5] साथ ही वे अपने वचन का पालन करना नहीं जानते—

तन्त न तोरत अन्त लौ वचन निबाहत सूर।
कहा प्रतिज्ञा पालिहै कपटी कादर कूर ।।[6]

एवं पुरुषार्थ से हीन होते है।[7]

ये अवगुण तो कायरों मे सचमुच ही होते हैं, पर नीति के कवियों ने उनकी निन्दा करने के उत्साह में उन्हे क्रोधी तथा क्रूर आदि भी कहा है।[8] कहना न होगा कि इन अवगुणों का यथार्थतः कायर या कायरता से कोई सम्बन्ध नहीं है। कायर

---

१ **सूर छतीसी**, १५।
२ **मानस सूक्त०**, ५०२।
३ **वही**, ७२०।
४ **वीर सत०, पृ०** ३।
५ **वीर सत०, पृ०** ४. ६. १४ **तथा कायर बावनी**, २३४।
६ **वही, पृ०** ४।
७ **मानस सूक्त०**, १२५।
८ **कायर बावनी तथा वीर सत०, पृ०** ६।

व्यक्ति प्रायः क्रोधी एव क्रूर नही होते, हाँ इसके विपरीत वीरों में ये अवगुण अवश्य दिखाई देते है ।

अति—अपनी सीमा के भीतर ही सभी बाते शोभा देती हैं । लोकोक्ति है—

अति सर्वत्र वर्जयेत् ।

हिन्दी नीति-काव्य में भी अति न करने या अति से दूर रहने का उपदेश दिया गया है—

रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि ।
सैजन अति फूलै फरै डार पात की हानि ।।[1]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

अति न करहु अतिता बुरी, चाहे होय ललाम ।
देखहु कीरा परत है, अति मीठे जो आम ।[2]

अतिथि—अतिथि का अर्थ है, "जिसके आने की कोई तिथि न हो" अतिथि के अन्तर्गत परिचित और अपरिचित दोनों ही प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं । भारतीय संस्कृति में अतिथि-पूजा या अतिथि के सत्कार का बहुत महत्व है । अन्य धार्मिक कृतियों की भाँति इसे भी धर्म माना गया है । हिन्दी नीति-काव्य मे भी अतिथि के सत्कार करने का आदेश दिया गया है । यहाँ तक कहा गया है कि अथिति के मित्र, सम्बन्धी, परिचित या अपरिचित होने की तो बात ही क्या, वह चाहे अपना शत्रु ही क्यों न हो, उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये । वृन्द कहते है—

जौ घर आवत सत्रु हू, सज्जन देत सु चाहि ।
ज्यों काटै तरु मूल कोउ, छाँह करत वह ताहि ।[3]

किसी और कवि का भी एक छन्द है—

अतिथि सेव सम धर्म नहिं, निज बस मन सम मीत ।
नहिं सुबुद्धि सम बन्धु जग, जाहि करहु परतीति ।[4]

पर यह तो मात्र सैद्धान्तिक बात है । व्यावहारिक दृष्टि से अतिथि का सत्कार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि वह धूर्त या चोर आदि तो नहीं है । ऐसा प्रायः देखा जाता है कि ठग, धूर्त या चोर आदि अतिथि रूप में आते हैं और अवसर

---

१ रहीम दो०, १६६ ।
२ नीति छन्द० ।
३ वृन्द सत० ४६० ।
४ नीति छन्द० ।

पाते ही कुछ लेकर चल देते हैं। इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करके बीरबल ने "धुतारो अतीथ" का सत्कार न कर उसे समुद्र में डुबाने की सलाह दी है—

पूत कपूत, कुलच्छन नारि, लराक परोस लजाय न सारो।
बन्धु कुबन्धु, पुरोहित लंपट, चाकर चोर अतीथ धुतारो।

... ...

ब्रह्म भनै सुनु साहि अकब्बर, बारहो बाँधि समुद्र मे डारो।[1]

अतएव अतिथि का सत्कार तो करे पर इसके पूर्व यह भी जान लें कि वह अतिथि के रूप में किसी कुकृत्य के ध्येय से तो नहीं आया है।

(ग) राजनीति—

राजा, राज्य या शासन सम्बन्धी नीति को राजनीति कहते हैं। आज तो राजनीति की शाखाओं-प्रशाखाओं का इतना व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा है कि इसे विज्ञान (पोलिटिकल साइंस) की प्रतिष्ठा दे दी गई है पर अब से पूर्व इसमें इतना विकास नहीं हो सका था। भारतीय साहित्य में स्मृतियों के विशिष्ट अध्यायों, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति आदि नीति ग्रन्थों के अन्तर्गत राजा उसकी योग्यता, रहन-सहन, शासन, उसके विभाग, कर, गुप्तचर, न्याय तथा कर्मचारियों के कर्तव्यों आदि के ही वर्णन प्रमुख रूप से मिलते हैं और यही राजनीति का प्रधान विषय रहा है। हिन्दी के नीति-काव्य में भी वर्णित राजनीति इसी से मिलती-जुलती है। अतः प्रस्तुत अध्याय का विषय आज के अर्थ में राजनीति का विवेचन नहीं है, यहाँ केवल राजा, उसके शासन और व्यवहार तथा मन्त्री आदि के विषय में हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित सामान्य बातें ही प्रस्तुत की जा सकेंगी।

राजा—शरीर में जिस प्रकार मस्तिष्क का अपना एकान्त महत्व है और बिना उसके शरीर का उचित ढंग से संचालन असम्भव है, उसी प्रकार राजा के बिना राज्य की व्यवस्था और उसका संचालन सम्भव नहीं है। बुन्देल नरेश महाराज छत्रसाल ने अपनी नीति-मंजरी में कहा है—

नारि निज नाह बिन, देस नरनाह बिन।
सुभट सुनाह बिन सीस बिन धर है।[2]

१ **कविता कौमुदी भाग, १, पृ० २४०।**

२ **छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७८।**

इन्हीं बातों के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अंश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला।[1]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वयं ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभुः।[2]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यों सा नहीं, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एवं सूर्य का तेज, वरुण और कुबेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के संयोग से।

मनु लिखते हैं—

इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चंद्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥[3]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन आठ देवताओं का सारा अंश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमें इस बात का भी संकेत है कि राजा में किन गुणों का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोड़ा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे है।

पासा परै सो दाव।
राजा करे सो न्याव॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढंग मे कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करे सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल में पासो परै सु दाव॥[4]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्रायः राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ **मानस**, १।
२ **मनु०**, ७. ३।
३ **मनु०**, ७. ४।
४ **वृन्द सत०**, २९०।

इसके लिए लोगों ने न जाने कितने पाप किए हैं। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दों और युद्धों के रक्त से आज भी रंजित है। पर अधिकारों की दृष्टि से राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है, कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्ट-कर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते है।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहिं भेदि हिय पोहत दोहरो ताग॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगों से अधिक उत्तरदायित्व लेना पड़ता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पड़ता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जाँय तो बहुत बुरा नहीं हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का बारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो महेस सिप लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओं से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रों एवं उपद्रवों को दबाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पड़ते है। पर सब से कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रों के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियों के परिवार में समदृष्टि नहीं रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य में सभी का यथोचित और न्यायसंगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे में इसी बात की ओर संकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारों ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ **ब्रज सत०**, पृ० ३७।
२ **ब्रज सत०**, पृ० ५५।
३ **तुलसी दोहा०**, ५२२।

कथनी और करनी के आधार पर राजा के तीन भेद किए हैं। उत्तम राजा की बात गोली के समान होती है। जिस प्रकार गोली बन्दूक मे एक बार निकल कर फिर नहीं लौटती उसी प्रकार अच्छे राजा अपने वचन को नहीं लौटाते और उसका प्राण-पण से पालन करते हैं। मध्यम राजा के वचन बाण के समान होते हैं। बाण छूटने के बाद भी युक्ति से वापस किया जा सकता है। इसी प्रकार मध्यम राजा अपनी बात को पूरा करते हैं पर कभी-कभी पूरा न कर के युक्ति मे उसे वापस भी ले लेते हैं। नीच या अधम राजा के वचन, स्वर और मात्रा के समान होते हैं। स्वर और मात्रा निश्चित नहीं रहते। इसी प्रकार ये राजा भी कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।

गोली बान सुमत्त सुर, समुझि उलटि गति देखु।
उत्तम मध्यम नीच प्रभु, वचन विचार बिसेखु॥[1]

केशव ने राजा चार प्रकार के कहे हैं। एक तो वे हैं, जो केवल इस लोक की ही चिन्ता करते हैं और अपने को ही ईश्वर मानते हैं। दूसरे वे हैं जो केवल परलोक की चिन्ता करते हैं और साधना में लीन रहते हैं। तीसरे वे होते हैं जो लोक-परलोक दोनों की चिन्ता करते हैं। चौथे दोनों में से किसी लोक की चिन्ता नही करते—

यहै लोक एकै सदा साधि जानैं।
बली बेनु ज्यों आपु ही ईश मानैं।
करैं साधना एक परलोक ही को।
हरिश्चन्द्र जैसे गए दे मही को।
दुहूँ लोक को एक साधै सयाने।
विदेही न ज्यों बेद बानी बखानैं।
नठै लोक दोऊ हठी एक ऐसे।
त्रिशंकै हँसै ज्यों भलेऊ अनैसे।[2]

कहना न होगा कि इनमें सर्वोत्तम राजा वे ही हैं जो विदेह की भाँति लोक और परलोक दोनों का ध्यान रखते हैं।

राजा के गुण—प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों को देखते हुए विभिन्न सन्दर्भों में उसके गुणों एवं अन्य आन्तरिक तथा बाह्य आवश्यकताओं की सीमारेखा निर्धारित की जाती सकती है। इन्हीं की कसौटी पर उसके कार्यक्षेत्र में उसे

१ तुलसी सत०, ७. ७६।
२ रामचन्द्रिका, पृ० ३६१।

सफल या असफल कहा जा सकता है। नीतिकारों द्वारा शासन या राजा के सम्बन्ध में व्यक्त विचार निम्नांकित शीर्षकों में देखे जा सकते हैं।

प्रजापालन—प्रजा का उचित ढङ्ग से पालन राजा का सबसे बड़ा गुण है। ऊपर कहा जा चुका है कि राजा को स्वार्थ त्यागकर और कष्ट सहकर भी प्रजा का ध्यान रखना चाहिए। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में लिखा है—

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः[1]

अर्थात् हे राजा यदि तुम पृथ्वी रूपी धेनु को दुहना चाहते हो तो बछड़े की तरह प्रजा का पालन करो। यदि तुम प्रजारूपी बछड़े का अच्छी तरह पालन-पोषण करोगे तो कल्पलता की तरह यह पृथ्वी तुमको तरह-तरह के अनेक फल देगी।

तुलसी ने प्रजापालन के महत्व और उसकी आवश्यकताओं को ही लक्ष्य करके प्रजापालन न करने वाले राजा को नरक का अधिकारी कहा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।[2]

जान ने इस दृष्टि से अच्छे राजा की उपमा वृक्ष से दी है, जो स्वयं धूप सह कर भी अपने नीचे रहने वालों अर्थात् प्रजा को धूप अर्थात् कष्टों से बचाता है—

परजा की रक्षा करै सोई स्वामि अनूप।
तर सब को छहियां करै सहै आप सिर धूप॥[3]

छत्रसाल ने राजा को पिता और प्रजा को पुत्र के समान कहा है। राजा को पिता की भाँति ही प्रजा के हिताहित का ध्यान रखना चाहिए—

बालक लौं पालहिं प्रजा, प्रजापाल छतसाल।
ज्यों सिसुहित अनहित सुहित करत पिता प्रतिपाल॥[4]

तुलसी ने अच्छे राजा को सूर्य, माली और अग्नि कहा है। सूर्य संसार से ही जल ग्रहण करता है पर इस सूक्ष्मता से कि संसार को पता नहीं चलता अतः वह (संसार) किसी कष्ट का अनुभव नहीं करता। पर, फिर यथावसर और यथास्थान वही पानी देकर सूर्य संसार की रक्षा करता है। राजा में भी यही बात होनी चाहिए। माली उद्यान के रक्षण के लिए आवश्यकतानुसार अवांछित पेड़-पौधों को काट डालता

---

१ नीतिशतक, ४५।
२ तुलसी हितोपदेश, पृ० ८२।
३ सिखसागर पन्दनावा।
४ छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ० ८१।

है और शेष को सीचता है। उसी प्रकार राजा को भी अच्छों की तो रक्षा करनी चाहिए पर साथ ही उन्हें सुखी और निरापद रखने के लिए दुष्टों को समाप्त या दण्डित करना चाहिये। इस प्रकार प्रजापालन में अच्छों के पालन के अतिरिक्त दुष्टों का घालन या नाश करना भी आता है। अग्नि कहने में भी यही भाव है।[1]

जान ने इस विषय का एक और पक्ष भी देखा है। उनका कहना है कि राजा को स्वय अपनी रक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह प्रजा की रक्षा करे क्योंकि राजा यदि वृक्ष है तो प्रजा उसे जीवनी शक्ति प्रदान करने वाली जड़ है—

परजा जानहु मूल तुम्ह राजा वृक्ष विचार।
अपनी जरहिं उषारिहै परजा षोवनहार ॥[2]

इस प्रकार प्रजा की रक्षा उसके अपने अस्तित्व के लिए भी अपरिहार्य है।

अब लोग इस बात का भी अनुभव करने लगे हैं कि राजा के इस प्रजापालन में प्रजा का स्वयं बहुत बड़ा हाथ है। यदि प्रजा उचित सहयोग और यथावसर राजा का पथ-प्रदर्शन न करेगी तो राजा भी पथ-भ्रष्ट हो सकता है। राजा भी मनुष्य है। दुर्बलताओं की ग्रन्थि। उसे भी उचितानुचित का कभी-कभी ध्यान नहीं रह जाता। हमारे पुराने नीति-काव्य में इस विषय को नहीं उठाया गया है। वर्तमान काल के नीतिकार कवि भगवानदीन इसे नहीं भूल सके हैं। पुरानों ने कहा है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और ईश्वर की भाँति ही लोगों को उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए एवं उसकी आज्ञाओं को मानना चाहिए, पर भगवानदीन कहते हैं—

सीखो आज्ञा मानना शासन की यह भूल।
वही सेव्य होकर रहै जो सेवक अनुकूल ॥[3]

केवल प्रथम पंक्ति को ही सामने रखें तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। यहाँ दूसरी पंक्ति पूरक है। व्यंजना यह है कि जो राजा सभी बातों में प्रजा के अनुकूल है, अर्थात् उसका उचित संरक्षण करता है उसकी आज्ञा तो प्रजा के लिए शिरोधार्य होनी चाहिए, पर दूसरी ओर जो ऐसा नहीं है, उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा के लिए भूल है। ऐसी स्थिति में उसे राजा का विरोध करना चाहिए और साथ ही उसे उचित की ओर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। यही वह अवसर है जहाँ प्रजा राजा का पथ-प्रदर्शन करती है। इस प्रकार ऐसे अवसरों पर राजा का विरोध ही प्रजा का धर्म है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान दीन ने एक स्थल पर कहा है—

---

१ **माली भानु कृशानु सम, नीति निपुण महिपाल। तुलसी सत०, पृ० २२७।**

२ **सिषसागर पन्दनावा।**

३ **नीति के दोहे।**

प्रजा न झपकी लेय जब सो न सके सरकार।
प्रजा नींद में मस्त जब सोवै पांव पसार ॥[1]

आशय यह है कि प्रजा को इन बातों का ध्यान रखना चाहिए और तदनुरूप कार्य करना चाहिए। यदि वह अपने इस कर्तव्य का ध्यान रखती है तो राजा या शासन के पथ-भ्रष्ट होने की तनिक भी आशंका नहीं रहती।

साम, दाम, दण्ड और भेद—दुष्टों और शत्रुओं को दबाने या पराजित करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की आवश्यकता पड़ती है। मानस में अंगद राम से कहते हैं:

साम दाम अरु दंड विभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।[2]

'साम' का अर्थ है शत्रु या दुष्ट व्यक्ति को मीठी बातों से फुसला कर अपने पक्ष में या अनुकूल कर लेना। 'दाम' का अर्थ है धन द्वारा (दूसरे शब्दों में घूस द्वारा) वही कार्य करना। साम और दाम ये दोनों नीतियाँ 'तन्त्र' की अपेक्षा 'आवाय' में काम आती हैं। भारतीय राजनीतिशास्त्र के अनुसार राजनीति के 'तन्त्र' और 'आवाय' दो भेद होते हैं। 'तन्त्र' का सम्बन्ध देश की आन्तरिक बातों और प्रबन्ध आदि से होता है तो 'आवाय' का पर राष्ट्र से सम्बन्ध है। इसके संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण तथा संश्रय ये छः भेद होते हैं। राजनीति का तीसरा अंग 'दण्ड' विशेषतः तन्त्र की दृष्टि से राजा के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। मनु ने कहा है कि 'दण्ड' धर्म का पुत्र (अर्थात् यह धर्ममय है या इसी से धर्म की रक्षा होती है) और ब्रह्म की भाँति तेज वाला है। ईश्वर ने पहले ही सब प्राणियों की रक्षा के लिए इसे बना दिया—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्वमीश्वर ॥[3]

उन्होंने आगे कहा है कि दण्ड के ही भय से चर-अचर समस्त प्राणी सुख भोगते है, और अपने धर्म से विचलित नहीं हुआ करते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पते स्वधर्मान्न चलन्ति च।[4]

---

१ **नीति के दोहे**।
२ **मानस**, ६.५७.५।
३ **मनु०**, ७.१४।
४ **वही**, १५।

सचमुच विश्व मे ऐसे लोग कम है जो अपना कर्तव्य समझ कर बुरे कार्य नहीं करते। राजदण्ड ही उनको ऐसा करने से रोकता है। तुलसी ने—

माली भानु कृशानु सम नीति निपुण महिपाल।[1]

में राजा को माली और कृशानु इसीलिए कहा है।

पर साथ ही राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'सब धान बाइस पसेरी' की लोकोक्ति चरितार्थ न हो। जो जैसा अपराध करे उसे वैसा ही दण्ड दिया जाय। वृन्द कहते है—

जिहि जैसौ अपराध तिहि तैसो दंड बखानि।
थाप ककरिया चोर को धन चोरहि जिय हानि॥[2]

मनु ने भी उसी भाव का एक श्लोक कहा है-

त देशकालौ शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्न रेष्व न्याय वर्तिषु॥[3]

अर्थात् देश, काल तथा दण्ड की शक्ति और किस अपराध मे क्या दण्ड देना चाहिए इत्यादि शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान, इनका अच्छी तरह विचार कर अपराधियो को यथोचित दण्ड दे।

कोई भी वस्तु अधिक प्रयोग में आने पर अपना महत्व खो बैठती है। अतः दण्ड का बहुत कम, जब अत्यन्त आवश्यक हो तभी प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत करने से दड के प्रति जो लोगों के मन में आतङ्क रहता है, समाप्त हो जाता है और ऐसी स्थिति मे शासन के पास शान्ति-स्थापन का या दुष्टो को डराने का कोई मार्ग नही रह जाता। अभी भारत में अंग्रेजी शासन के अन्तिम चरण मे यही बात हुई थी। जेल, बेत और अर्थदण्ड आदि इतने परिचित हो गए थे कि दण्ड रूप में उनका कोई महत्व ही नही रह गया था। भगवानदीन ने ठीक ही कहा है—

खोता दंड महत्व दिया जा चुका जो जिसे।
शासन का यह तत्व, दंड न दे जब तक बने॥[4]

पुराणों तथा स्मृतियों में दण्ड के उत्तम साहस, मध्यम साहस, और प्रथम साहस ये तीन भेद किए गए है, पर इन शास्त्रीय बातों का हिन्दी नीति-काव्य में उल्लेख नहीं है।

---

१ तुलसी सत०, पृ० २२७।
२ वृन्द सत०, ५३७।
३ मनु०, ७.१६।
४ नीति के दोहे।

भेद या विभेद राजनीति का चौथा अङ्ग है। इसमे शत्रु, दुष्टों या राजद्रोहियों के दल में फूट पैदा कर राजा अपना काम साधता है। इसका भी सम्बन्ध तन्त्र की अपेक्षा आवाय से ही अधिक है।

न्याय—न्याय राजा के लिए बहुत ही आवश्यक गुण है। बिना इसके वह अपना राज्य ठीक से नहीं चला सकता। अन्यायी राजा की प्रजा नष्ट हो जाती है। बैताल ने कहा है—

राजा करें न न्याय प्रजा की होत खुवारी।[1]

इसीलिए उन्होने एक स्थान पर यहाँ तक कहा है—

अरु बे नियाव राजा मरें तबै नीद भरि सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनो एतै मरे न रोइए॥[2]

जान ने भी राजा के तीन प्रधान गुणों मे न्यायी होने को प्रथम स्थान दिया है—

जानि लेहु कवि जान कहि यो राजत संपूर।
जामे ह्वै ये तीन गुन न्यायी दाता सूर॥[3]

नीति—नीतिज्ञ होना भी राजा का बहुत बड़ा गुण है। मानस मे तुलसी ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—

राज कि रहइ नीति बिनु जाने।[4]

यहां नीति का अर्थ है विभिन्न प्रकार के लोगों से व्यवहार तथा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से व्युत्पन्न समस्याओं को शान्ति से सुलझाने के लिए उनके प्रति दृष्टिकोण। इस प्रकार इस नीति में राजनीति तो आ ही जाती है, पर उसके अतिरिक्त व्यवहार या समाज नीति भी आ जाती है। राजा के लिए इन सबका ज्ञान आवश्यक है। महाराज छत्रसाल ने लिखा है :

नीति बिन जाने भूप कूप बिना पानी सम,[5]

रीवां नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने भी कहा है—

बूझत लेखा नही कछुए नहिं नीति कि रीति प्रजानि चलावे।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै बहि भूपति के घर दारिद आवे॥[6]

---

१ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४००।**
२ **वही, पृ० ३९९।**
३ **सिषसागर पन्दनावा।**
४ **तुलसी-सूक्ति-सुधा, पृ० १९३।**
५ **छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७९।**
६ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।**

तुलसी, गिरिधर कविराय तथा गिरिधरदास आदि और भी बहुत से नीतिकारों ने अपने अपने ढंग से इस बात को कहा है।

ज्ञान और गुण--राजा को ज्ञानी, गुणज्ञ और सुशिक्षित होना चाहिए। गिरिधरदास ने कहा कि वह राजा अधम है जो 'सद असद' का विवेक नहीं रखता—

उर सद असद बिबेक नहिं अधम अवनिपति तौन।[1]

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है कि राजा के ज्ञानी होने से सभी सुख मिलते हैं।[2] यह उचित भी है। बिना ज्ञान के शासन, न्याय और प्रजा-पालन कुछ नहीं हो सकता।

ज्ञान की भाँति ही राजा को गुणज्ञ भी होना चाहिए। एक संस्कृत का श्लोक है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समाः।
प्रजास्तदनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥

इसका आशय यह है कि राजा यदि दुर्गुणी हुआ तो प्रजा भी दुर्गुणी हो जायगी। तुलसी ने भी लिखा है—

त्रिबिध एक बिधि प्रभु अगुण प्रजहिं सँवारहि राव।[3]

अर्थात् राजा में यदि एक अवगुण होता है तो प्रजा में तीन हो जाते है। राजा यदि गुणी है तो प्रजा को भी सँवार सकता है या गुणी बना सकता है।

बल तथा वीरता--विश्व में अनादि काल से 'जाकी लाठी बाकी भैंस' लोकोक्ति चरितार्थ होती आ रही है। सभ्यता के इस सुविकसित युग में भी यह केवल भूत की चीज नहीं मानी जा सकती। यही कारण है कि राजा के लिए दुष्टों के दमन तथा देश को शत्रुओं से बचाने के लिए बल तथा वीरता अत्यन्त आवश्यक है। हाँ, आज अधिक अंशों में इन दोनों का ही स्थान बुद्धि ने ले लिया है, पर हिन्दी का अधिकाश नीति-काव्य इस युग के पूर्व का है, अतः राजा के लिए ये दोनों ही गुण आवश्यक माने गए है। श्री वियोगीहरि ने अपनी वीर सतसई में वीर के शूरवीर, दयावीर, सत्यवीर, धर्मवीर, विरहवीर और दानवीर ये छः भेद किए है, पर इस प्रकार तो झूठवीर, उत्साहवीर, विद्यावीर, धूर्तवीर आदि-इत्यादि उसके अनेक भेद-विभेद किए जा सकते है। यथार्थतः वीर के अन्तर्गत केवल "शूरवीर" ही आता है।

१ **कविता कौमुदी**, भाग १, पृ० ४६३।
२ **नृप ज्ञानी तिय प्रौढ़ रस काव्य, सिखायो अस्व।**
चारहुं ते जुग चारिहूं पैयत सुख सर्वस्व। ब्रज सत०, पृ० ३८।
३ **तुलसी सत०, पृ० २४६।**

कहा जाता है "वीर भोग्या वसुन्धरा"। इसी भाव को कई नीतिकारों ने व्यक्त किया है। वियोगी हरि कहते हैं—

या वसुधा को भाग भरि भोगत भुज मजबूत।
कहा भोगिहैं भूमि ए कायर कूर कपूत ॥[1]

यों तो यह सामान्य चीज है, पर यथार्थतः राजा के लिए ही चरितार्थ होती है। दीनदयाल गिरि ने भी इसी भाव को अपने ढंग से कहा है—

केहरि को अभिषेक कब कीन्हों विप्र समाज।
निज भुज बल के तेज ते विपिन भयो मृगराज ॥[2]

तुलसी, जान तथा और भी बहुत से नीतिकार कवियों ने बल और वीरता को राजा के लिए आवश्यक माना है। यदि राजा ऐसा नहीं है तो उसे राजा होने का अधिकार नहीं। यदि बना भी दिया जाय तो वह राज्य खो बैठेगा तथा बाहरी शत्रु उसे पराजित कर देंगे या फिर आन्तरिक षडयन्त्र का उसे शिकार होना पड़ेगा।

धर्म—धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक प्राणी के लिए यहाँ धर्म आवश्यक कहा गया है। राजा तो इन सामाजिक प्राणियों का शिरोमणि है, अतः उसे तो और भी अधिक धर्मशील होने की आवश्यकता है। स्मृतियों में जहाँ राजा को ब्राह्मण और वेदों का रक्षक कहा गया है, वहाँ भी राजा के धर्म का रक्षक होने की ओर ही संकेत है। तुलसी ने कहा है—

कहौं साँच सब सुनि पतिआहू।
चाहिय धर्मशील नरनाहू ॥[3]

महाराज छत्रसाल ने भी लिखा है—

राज, धर्म न्याय बिन, बनिज उपाय बिन,
तुरंग सुतेज बिन दान बिन कर है।[4]

दान—"दान" को नीति के कवियों ने राजाओं के लिए एक अत्यावश्यक गुण माना है। जान कहते है—

जानि लेहु कवि जान कहि यो राजत संपूर।
जामें हैं ये तीन गुन न्याई दाता सूर ॥[5]

---

१ वीर सत०, पृ० ६१।
२ दृष्टान्त तरंगिणी, ८६।
३ मानस, २. १७६. १।
४ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७८।
५ सिवसागर पन्द्रनामा।

पर साथ ही दानी होने के साथ-साथ राजा को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दान कुपात्र के हाथ में न जाय। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कहते हैं—

ठट्ठा में प्रीति कुपात्र मे दान कबीनहुँ जान गुमान जनावै।
भाखत है विश्वनाथ ध्रुवै अस भूपति ना कबहूँ जस पावै।[1]

प्राकृत का भी एक छन्द है—

दिन्न सुहंपि दाणं होइ कुपत्तम्मि असुह फलमेव।
सप्पस्स जहा दिन्नं खीरपि विसत्तण उवेइ।[2]

अर्थात् अच्छी चीजें भी यदि कुपात्र को दान दी जायँ तो बुरा फल देती है, जैसे साप को पिलाया गया दूध विष हो जाता है।

गर्वशून्यता—धन, बल, रूप, गुण, अधिकार, योग्यता तथा सम्मान आदि या इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों मे अपने को औरों की अपेक्षा उच्च पाकर मन में जो दूसरों के प्रति हीनता तथा अपने प्रति महानता का भाव उठता है, उसे गर्व की संज्ञा दी जाती है। गर्व यों तो किसी के लिए भी उचित नहीं है, पर राजा के लिए विशेष रूप से इसका निषेध है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसके लिए इसकी सम्भावना औरों की अपेक्षा अधिक होती है।

तुलसी सब प्रकार से श्रेष्ठ राजा को यदि गर्वरहित हो, त्रिभुवन का दीप कहते हैं।

सधन सगुण सधरम सगण सजन सुसबल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप।[3]

एक अन्य अज्ञात कवि का भी दोहा है—

नृप गरबी, अविनीत सुत लोभी गुरु तिय चंच।
रोगयुक्त काया सदा सूल जान ये पंच।[4]

मनु ने भी राजा के विनयी तथा शीलवान होने पर बहुत बल दिया है। इस दृष्टि से उनके दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्।[5]

---

१ कविता कौमुदी०, भाग १, पृ० ४७३।
२ प्राकृत सुभाषित, २४२।
३ तुलसी सत०, पृ० २५७।
४ नीति छन्द०।
५ मनु०, ७. ३६।

अर्थात् विनयी अथवा शीलवान राजा भी सदा उन ब्राह्मणों से विनय की शिक्षा ग्रहण करता रहे, क्योंकि विनीतात्मा राजा का नाश कभी नहीं होता।

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥[1]

अर्थात् अनेक राजा अविनयी भी होने के कारण ऐश्वर्य समेत नष्ट हो गये और कितनों ने बनवासी होकर भी अपने विनय से राज्य तक पा लिया।

दया--दया भी राजा के लिए आवश्यक है। दयालु राजा ही प्रजा के दुःख से द्रवित हो उसे शीघ्र दूर कर सकता है। इसके विरुद्ध अदयालु राजा प्रजा के पीडक होते हैं। घाघ कहते हैं।

चाकर चोर राज बेपीर।
कहैं घाघ का धारी धीर।[2]

महाराज छत्रसाल ने भी अपनी नीति-मंजरी में हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष तथा दुर्योधन आदि राजाओं का प्रमाण देते हुए कहा है—

मेरी कही मानियौ रे, सांची उर आतियौ रे,
जानियौ रे गजब गरीब को सताइबो ।[3]

शेष—राजा के अन्य आवश्यक गुणों में प्रधान रूप से मितव्ययता, नीच प्रकृति का न होना, अप्रमाद, आलस्यशून्यता, प्रत्युपकार न चाहना, अलोभ, निष्पक्षता, अव्यसन, स्थिरचित्तता तथा शिष्टता आदि का हिन्दी नीति काव्य में उल्लेख है। यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ उद्धरण देखे जा सकते है—

मांझी खिनकमिजाज बेअदबी सातूं बिसन।
लोभ घणों कम लाज पैलां घर वांछे पिसण ॥[4]
सत पुरुषन तें उतारि कै होत नीच अधिकार।
यह खटकत रवि से असित तमकौ जगत प्रचार ॥[5]
गया राज जहँ राजा लोभी।
गया खेत जहँ जामी गोभी ॥[6]

१ मनु०, ७. ४०।
२ घाघ, ३०।
३ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७५।
४ बाकीदास ग्रन्थ० १, पृ० ६२।
५ नीति छन्द०।
६ घाघ, १४।

चाहो धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि,
सुजस सहूर जुत रैयत कों लालियौ।
तोड़ादार घोड़ादार बीरनि सों प्रीति करि,
साहस सों जीति जंग खेत तें न चालियौ।
सालियो उदण्डनि कों दण्डिन कों दीजौ दण्ड,
करिकै घमण्ड घाव दीन पै न घालियौ।
बिन्ती छत्रसाल करै होय जो नरेस देस,
रहै न कलेस लेस मेरो कह्यौ पालियौ।[1]

राजा और शासन सम्बन्धी कुछ अन्य विषय—

राजा और शासन के सम्बन्ध में अन्य जिन बातों को हिन्दी के नीतिकारों ने उठाया है, उनमें शत्रु, कर, व्यय, मन्त्री, दूत तथा सेवक आदि प्रधान है। यहाँ संक्षेप में इन्हें भी देखा जा सकता है।

शत्रु—राजा से लिए शत्रु आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। आन्तरिक शत्रु राज्य के भीतर के होते है। इनमें चोर, दुष्ट तथा षडयन्त्र करने वाले आदि प्रधान हैं। पीछे प्रजापालन के अन्तर्गत इनको दण्डित करने पर विचार किया गया है। बाह्य शत्रु राजा के बाहर के प्रधानतः अन्य देशों के राजा होते हैं। 'राजा का शत्रु' से प्रायः इन्हीं का बोध होता है।

राजा तथा अन्य लोगों के लिए भी नीतिकारों ने कहा है कि शत्रु छोटा भी हो तो उसे छोटा नही समझना चाहिए। तुलसी कहते हैं—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।[2]

इसे छोटा न समझने का अर्थ यह है कि इनसे निश्चित नहीं रहना चाहिए और अवसर मिलते ही इन्हें समाप्त कर देने का यत्न करना चाहिए।

कभी-कभी शत्रु छलवश दया की भीख माँगते हैं पर उन पर दया उचित नहीं है—

रिपु पर दया परम कदराई।[3]

शत्रुता का परिणाम साधारण नहीं होता। यदि शत्रु बहुत बड़ा रहा तो अपनी पराजय और दुर्गति होती है। इसी कारण नीतिकारों ने कहा है कि अपने से बहुत बड़े से बैर कभी न करे। तुलसी ने लिखा है—

---

१ **छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७४।**
२ **तुलसी-सूक्ति-सुधा, पृ० ३९१।**
३ **वही, पृ० ३९२।**

नाथ बैरु कीजिय ताही सों ।
बुधि बल सकिय जीति जाही सों ।।[1]

दूसरी ओर यदि शत्रु अपने से बहुत छोटा रहा तो अपना तो कुछ न होगा पर वह पिस जायगा । फल यह होगा लोग छोटे को दबाने के कारण बुरा कहेंगे । इसी कारण नीतिकारो ने अपने से बहुत छोटे से भी शत्रुता करने का निषेध किया है । तुलसी कहते है कि बैर और प्रीति बराबर के व्यक्ति से ही उचित है । छोटे से बैर करना अप्रतिष्ठा का कारण है ।

प्रीति विरोध समान सन करिय नीति असि आहि ।
जो मृगपति बध मेडुकहिं भल कि कहइ कोउ ताहि ।।[2]

इसी प्रकार कुछ शत्रु ऐसे मिलते हैं जिनसे हारने में हँसी और जीतने में दुःख होता है । ऐसों से शत्रुता का भी नीतिकारों ने निषेध किया है । तुलसी कहते हैं—

जा रिपु सों हारेहु हँसी, जिते पाप परितापु ।
तासों रारि निवारिए समय सँभारिय आपु ।।[3]

कर—राजा को राज्य की व्यवस्था एवं प्रजा के सुख आदि के लिए तरह-तरह से धन व्यय करना पड़ता है । यह धन वह प्रजा से ही करके रूप में लेता है । कर दो प्रकार से लिया जा सकता है । एक तो प्रत्यक्ष रूप में जैसे आजकल खेत की माल गुजारी । इस कर को देने वाला स्पष्टत: देखता है कि वह कर दे रहा है । दूसरा कर वह है जो प्रत्यक्षत: न लिया जाय । उदाहरणार्थ कपड़ा मिल से बन कर आता है । मिल से निकलते समय ही यदि उस पर कर ले लिया जाय तो ग्राहक को खरीदते सयय उसका पता नही चलेगा । यह दूसरे प्रकार का कर ही हिन्दी नीति-काव्य में अच्छा कहा गया है । प्रत्यक्ष न होने के कारण इस प्रकार कर देना, देने वाले को खलता नहीं । तुलसी ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से यह बात कही है -

बरखत हरखत लोग सब करखत लखत न कोय ।
तुलसी भूपति भानु सम प्रजा भाग बस होय ।।[4]

कवि का कहना है कि सूर्य अपनी किरणों से इतने सूक्ष्म ढङ्ग से संसार से पानी लेता है कि किसी को पता तक नहीं चलता कि वह कुछ ले रहा है । पर, फिर

१ **तुलसी सू०**, पृ० ३९२ ।
२ **वही**, पृ० ३९३ ।
३ **वही**, पृ० ३९३ ।
४ **तुलसी सत०**, पृ० २२७ ।

आवश्यकता पड़ने पर उसी पानी को देकर विश्व को वह तृप्त करता है। इसी प्रकार राजा को भी अप्रत्यक्ष रूप में कर लेना चाहिए।

कर प्रायः रुपए के रूप मे लिया जाता है। तुलसीदास कहते हैं कि इससे कर देने वाले को कष्ट होता है। जो वस्तु जिसके पास हो उससे वही कर रूप मे लेनी चाहिए—

सुधा सुनाज कुनाज पल आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजाहित लेहि कर सामादिक अनुमानि॥[1]

आजकल यदि एक पाव नमक लेने एक भिखारी, एक मजदूर और कोई एक करोड़पति जाय तो सभी को उस पर बराबर कर देना पड़ेगा। तुलसी इसे अन्याय समझते हैं। उनका कहना है कि जो व्यक्ति जिस हैसियत का हो उससे उसी के अनुसार कर लेना चाहिए।

पाके पकये बिटप दल उत्तम मध्यम नीच।
कर नर लहैं नरैस त्यों करि बिचारि मन बीच॥[2]

इससे एक भाव यह भी निकलता है कि एक ही रोजगार में यदि तीन व्यक्तियों को तीन प्रकार का अधिक, कम और बहुत कम लाभ हो तो उसी अनुपात से उनसे कर भी लेना चाहिए। कहना न होगा कि कर के सम्बन्ध में यह बहुत ही उचित बात हिन्दी नीति-काव्य में कही गई है।

व्यय—कर जितनी उचितता और सतकर्ता से वसूल होना चाहिए, उसके व्यय में भी उतनी ही ईमानदारी और सतकर्ता बरतनी चाहिए।

राजा की व्यय-नीति के विषय में भी नीति-काव्य में कहा गया है। व्यय का सबसे बडा गुर तो यह है कि आय के हिसाब से ही खर्च होना चाहिए। वृन्द ने कहा है—

तेतो पांव पसारिये, जेती लांबी सौर।[3]

रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह राजा होने के साथ कवि, विशेषतः नीति के कवि भी थे। उनकी अपनी अनुभूति होने के कारण इस क्षेत्र में उनकी बातों का विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। उनका एक छन्द है—

जो बिन कामहि चाकर राखत, ऐन अनेक वृथा बनवावै।
आमद ते अधिको करै खर्च रिने करि व्यौहरे ब्याज बढावै।
....
भाखत है विश्वनाथ ध्रुवै वहि भूपति के घर दारिद आवै।[4]

---

१ तुलसी दोहा०, ५०६।
२ वही, पृ० ५१०।
३ वृन्द सत०, १६।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।

यों तो राजाओं के यहाँ अपव्यय के अनेक मार्ग होते है। पर जो लोग राज दरबारों के सम्पर्क में रह चुके है, भली-भाँति जानते है कि उनके अपव्ययों में बहुत से व्यर्थ के नौकरो और व्यर्थ के महलो का प्रधान स्थान है। कवि ने यहाँ इनकी ओर उचित ही संकेत किया है। विश्वनाथ सिंह ने अपने एक अन्य छन्द में भी इस विषय में बड़ी व्यावहारिक बात कही है। छन्द इस प्रकार है—

चाकर दै धन बाँचे जोई अठयों तिहिं भागहि धर्म लगावै।
साह लिये धरै सातयों भाग छठे सुता ब्याह हिते रखवावै।
पांचए बित्त बढ़ै धरि चौथ्यहि तीन ते खर्च करे छ बढ़ावै।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै तेहि भूपति भौन न दारिद आवै।[1]

राजा के लिए यह बजट कहाँ तक उपयुक्त हैं, इस पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि कवि स्वयं एक सफल राजा था अतः यह निश्चित है कि ये बातें उसने यों ही नहीं कह दी होंगी। यों सम्भवतः यह अनुपात सब के लिए और सब कालों के लिए उचित नहीं हो सकता।

मन्त्री—मन्त्री राजा का दाहिना हाथ है। उस पर ही राज्य का बहुत अशों में पूरा भार रहता है। इसीलिए बहुत सोच-समझ कर मन्त्री चुनना चाहिए। मनु ने कहा है कि मन्त्री को शास्त्रज्ञ, शूरवीर, विद्वान, और कुलीन होना चाहिए।[2] तुलसी का कहना है कि यदि योग्य मन्त्री मिल जाय तो राजा सारा भार उसे सौंप कर स्वयं निश्चिन्त हो सकता है—

रैयत राज-समाज घर तन धन धरम सुबाहु।
शान्त सुसचिवन सौंपि सुख बिलसहि नित नरनाहु॥[3]

इसके विरुद्ध बुरे मन्त्री से राज्य का नाश हो जाता है। तुलसी कहते हैं—

मंग तें जती कुमंत्र तें राजा
... .
... .
नासहिं बेगि नीति अमि सुनी॥[4]

१ **कवितां कौमुदी, भाग** १, पृ० ४७३।
२ **मनु०**, ७. ५४।
३ **तुलसी दोहा०**, ५२१।
४ **तुलसी सूक्ति सुधा**, पृ० ३९१।

विश्वनाथ सिंह ने भी इसी बात को कई ढंगों से कहा है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

मन्त्रिय आदि सुलच्छन हीन औ आलसी होय सलाह बतावै।
....
भाखत है विसुनाथ ध्रुवं वह भूपति ना कबहूं कल पावै ॥[1]

जान ने तो यहाँ तक कहा है कि मूर्ख मन्त्री से राजा भी मूर्ख हो जाता है—

राजा की बुधि जात है किए निबुधि परधान।
जैसे रंचक बादुरी ढाँपति है दुति भान ॥[2]

घाघ नीच प्रकृति के मन्त्री को राज्य के विनाश का कारण बताते हैं—

ओछो भन्त्री राजैं नासैं ताल बिनासैं काई।
सान साहिबी फूट बिनासैं घग्घा पैर बिवाई ॥[3]

इस प्रकार मन्त्री को भी राजा की भाँति ही सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए।

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में चार प्रकार के मन्त्री कहे है। एक तो राज्य के कार्य का ही प्रधान रूप से ध्यान रखता है और उसके लिए अपने स्वार्थों की भी चिन्ता नहीं करता। एक का ध्यान प्रधानतः अपने स्वार्थों पर ही होता है, अतएव वह अपने कार्य के आगे राज्य के कार्य की चिन्ता नहीं करता। एक अपना और राज्य दोनों का ही बराबर ध्यान रख दोनों का भला करता है और अन्तिम और निकृष्ट प्रकार का मन्त्री वह है जो अपना और अपने राज्य दोनों ही का बुरा करता है।

एक राज के काज हतैं, निज कारज काजे।
जैसे सुरथ निकारि सबै मन्त्री सुख साजे।
एक राज के काज आपने काज बिगारत।
जैसे लोचन हानि सही कबि बलिहि निवारत।
इक प्रभु समेत अपनो भलो करत दासरथि दूत ज्यों।
इक अपनो अरु प्रभु को बुरो करत रावरो पूत ज्यों ॥[4]

कहना न होगा कि राज्य की दृष्टि से वही मन्त्री श्रेष्ठ है जो राज्य के कार्यों को ही प्रधानता देता है और उनके आगे अपने स्वार्थों तक की चिन्ता नहीं करता।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।
२ सिषसागर पन्दनावा।
३ घाघ, ४४।
४ रामचन्द्रिका, पृ० ३६२।

मन्त्री की भाँति ही मन्त्री की मन्त्रणा भी चार प्रकार की होती है। केशवदास कहते है—

मन्त्र जु चारि प्रकार के मन्त्रिन के जे प्रमान।
विष से, दाड़िम बीज से, गुड़ से नीब समान।[1]

आशय यह है कि एक मन्त्रणा तो विष (खाने में बुरा और प्रभाव भी बुरा) के समान अर्थात् श्रवण और परिणाम दोनों में ही बुरी होती है। एक अनार के दाने (खाने और प्रभाव दोनो में अच्छा) के समान दोनों में अच्छी, एक गुड़, (खाने में अच्छा पर प्रभाव मे गर्म अर्थात् बुरा) के समान सुनने में अच्छी पर परिणाम में बुरी और एक नीब (खाने में बुरी पर प्रभाव में अच्छी) के समान अर्थात् सुनने में बुरी पर अच्छे परिणाम देनेवाली होती है। इनमें अनार के दाने सी मन्त्रणा सबसे अच्छी है तो विष सी सबसे बुरी।

मन्त्री अच्छा बुरा चाहे जैसा भी मिले, राजा का कर्तव्य है कि उसे पूर्ण स्वतन्त्र न छोड़े। छोड़ने से राज्य के राजा के हाथ से निकल जाने का भय रहता है। विश्वनाथ सिंह कहते है—

.....मन्त्री स्वतन्त्र बनावै।
.....कुछ काल में भूप सुराज गँवावै।[2]

पर साथ ही उसे दबा कर रखने का यह भी अर्थ नहीं कि वह राजा से इतना भयभीत रहे कि राजा की रुचि का ध्यान रख उचित मन्त्रणा दे ही नही। ऐसा करने से भी राज्य का नाश हो जाता है। तुलसी ने लिखा है—

सचिव बैद गुरु तीन जौ, प्रिय बोलहि भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिही नास।[3]

दूत—दूत के विषय मे हिन्दी नीति-काव्य में प्रधान रूप से दो बातों के उल्लेख मिलते हैं। एक तो यह कि बहुत ही चतुर व्यक्ति को अपना दूत बनाना चाहिए।

अचतुर दूत है काल सम,[4]

और दूसरे, यदि शत्रु का भी दूत आवे तो उसे मारना नहीं चाहिए। तुलसी ने लिखा है—

नीति विरोध न मारिय दूता।[5]

१ **रामचन्द्रिका, पृ०** ३६२।
२ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ०** ४७२।
३ **तुलसी सूक्ति सुधा, पृ०** ३९२।
४ **नीति छन्द०**।
५ **तुलसी सूक्ति सुधा, पृ०** ३९२।

राजा के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें—राजा के सम्बन्ध में हिन्दी नीति-काव्य में कुछ विचित्र बातें भी कही गई है। तुलसी कहते हैं—

उरग तुरग नारी नृपति नर नीचो हथियार।
तुलसी परखत रहब नित इनहिं न पलटत बार ॥[1]

आशय यह है कि राजा को एक बात या सिद्धान्त छोड़ दूसरे पर जाते देर नहीं लगती। इसी स्वर में भर्तृहरि ने भी राजा की राजनीति के लिए कहा है कि वह वेश्या की भाँति किसी समय सत्यवादिनी, किसी समय असत्यवादिनी, किसी समय कठोर और किसी समय प्रिय वचन बोलने वाली, कभी दयालु और कभी हिंस्र तथा कभी धन लुटाने वाली तो कभी धन संचय करने वाली हुआ करती है।

सत्यानृता न परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर नित्य धनागमाच
वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥[2]

राजा किसी के वश में नहीं होते। तुलसी कहते हैं—

शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।
भूप सुसोभित बस नहिं लेखिय।
राखिय नारि जदपि उर मांहीं।
जुवति शास्त्र नृपती बश नाहीं ॥[3]

राजा किसी के सच्चे मित्र भी नहीं होते। इसीलिए हिन्दी नीति-काव्य में उनसे मैत्री करने का विरोध है—

कीजै नही नरनाह से यारी ॥[4]

इस प्रकार राजा बहुत दृष्टियों मे नारी की भाँति ही चंचल तथा अविश्वसनीय कहा गया है।

(घ) नारी—

नारी पुरुष के लिए सर्वदा से कुतूहल और आकर्षण की वस्तु रही है, इसी कारण वह उसके सम्बन्ध में पर्याप्त सोचता-समझता और अपने विचार प्रकट करता आया है। विश्व के किसी भी साहित्य को ले लिया जाय नारी के विषय में अन्य

---

१ तुलसी सत०, पृ० २३१।
२ भर्तृहरि शतक, पृ० ४६।
३ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६१।
४ नीति छन्द०।

आवश्यक विषयों से कम नहीं लिखा गया है। पर, कुछ अपवादों को छोड़कर जो कुछ भी लिखा गया है, प्रायः वह पूर्णतः नारी-विरोधी है।

भारतीय समाज और साहित्य के इतिहास में यदि नारी के स्थान पर दृष्टिपात करें तो वैदिक युग में उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण दिखलाई पड़ता है। इसके प्रधान रूप से दो कारण हैं। एक तो उस युग में युद्धाधिक्य के कारण बलवान लड़कों की अत्यन्त आवश्यकता थी। आर्यों को आर्येतर जातियों से प्रायः लोहा लेना पड़ता था। अतः वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली वीरप्रसूता जननी के रूप में नारी का अपना एकान्त महत्व था। इसके अतिरिक्त आर्यो के दैनिक जीवन मे भी नारी का अपना एक क्षेत्र था। वह विद्या, बुद्धि में भी पुरुषों से बहुत पीछे नहीं थी। भगवत शरण उपाध्याय की पुस्तक 'वीमेन इन ऋग्वेद' तथा अल्टेकर की पुस्तक 'पोज़ीशन आव् वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन' में नारी के सामाजिक, आर्थिक तथा ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान की एक अच्छी झलक मिलती है। वैदिक युग के बाद भारतीय जीवन में ज्यों-ज्यों तथाकथित धार्मिकता, अध्यात्मवाद एवं कृत्रिमता बढ़ती गई नारी का विराट और भव्य रूप सिमटता गया। बौद्ध और जैनों की निवृत्तिमूलक परम्परा ने नारी-भावना के पतन मे और भी कार्य किया। अन्त में पूरे मध्य युग में नारी प्रायः रूप और योनि मात्र ही समझी जाने लगी। नारी का रमणी रूप उभर आया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं का वर्तमान युग[1] से पूर्व का साहित्य इसका साक्षी है। यहाँ स्त्रियों को छल, धूर्तता, माया, वासना तथा अविश्वास आदि अवगुणों का एक प्रतीक मात्र माना गया है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते है—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।[2]—मनु

(पुरुषों को भ्रष्ट करना स्त्रियों का स्वभाव है।)

---

१ वर्तमान युग में भी कुछ ही कवि ऐसे हैं, जिन्होंने नारी का उचित मूल्य आँका है। डा० शैलकुमारी ने अपने थीसिस 'आधुनिक काव्य में नारी भावना' में एक प्रकार की भावना को 'क्षयी रोमांसवादी भावना' ठीक ही कहा है। इस प्रकार की भावना वाले आधुनिक कवि भी मध्ययुगीन भावनाओं का परित्याग नहीं कर पाए हैं। अंचल लिखते हैं—

किन्तु नारी सिर्फ नारी ही तुम्हें मैं जानता हूँ।
तुम प्रणय की हो खेलाड़िन मैं तुम्हें पहचानता हूँ।
तुम वही हो गा जगाती जो हृदय की कोंपलों को।
जानता हूँ मैं तुम्हारे इन नशीले चोचलों को।

२ मनु० २।२१३.

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां लज्जा चापि चतुर्गुणा ।
साहसं षड्गुणं चैव कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥[1]— (चाणक्य)

(पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का आहार दुगुना, लज्जा चौगुनी, साहस (बुरे काम करने की हिम्मत) छःगुना तथा वासना अठगुनी होती है। स्मृतियों में ऐसा कहा गया है।)

अन्तो-विस-भरियाओ मणहर रूवाओ वज्झ वित्तीए ।
गुंजा फल सरिसाओ होंति सभावेण महिलाओ ॥[2] —स्फुट

(स्त्रियाँ स्वभाव से ही गुजाफल के समान ऊपर से देखने में मनोहर और भीतर से विष से भरी होती है।)

त्रिया न सांति बैद न रोगी रसायणी अर जाचि षाय ।[3] —(गोरखनाथ)

(स्त्री के साथ रहने से शान्ति नहीं रह सकती, वैद्य रोगी नहीं रह सकता तथा रसायनी (रसायन या कीमियागीरी द्वारा सोना बनाने वाला) को माँग कर खाने की आवश्यकता नहीं।)

नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग ।
कबीर तिनकी कौन गति नित नारी के संग ॥[4] —(कबीर)

नारी नागिन एक स्वभाउ ।
नागिन के काटे विष होइ । नारी चितवन नर रहे मोहि ।
... .
नारी संग प्रीति जो करै । नारी ताहि तुरत परिहरै ।[5] —(सूर)

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥[6]

तथा

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ।
होइ विकल सक मनहि न रोकी । जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥[7]—(तुलसी)

या भव पारावार कौं उलंघि पार को जाइ ।
तिय छबि छाया-ग्राहिनी ग्रहै बीच हीं आइ ॥[8] —(बिहारी)

---

१ चाणक्य, १.१७ ।
२ प्राकृत सु०, १०२ ।
३ गोरख०, पृ० ६६ ।
४ प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान, पृ० ७ ।
५ वही, पृ० ७ ।
६ मानस० ३.४३ ।
७ मानस०, ३. १७. ३ ।
८ बिहारी सत०, ४३३ ।

आधुनिक कविताओं में। शेष सारा साहित्य नारी विरोधी भावनाओं से ही ओत-प्रोत है। नीति-काव्य की भी यही दशा है।

नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण का कारण—नारी प्रकृति की विभूति है, वह विश्व की शोभा है तथा पुरुष की सुख-दुःख की संगिनी है, फिर भी पुरुष का सामान्य दृष्टिकोण उसके प्रति क्यों इतना विकृत है, यह विषय विचारणीय है।

नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण के मूल मे दो बातें दिखाई पड़ती है। एक तो है नारी का स्वभाव और दूसरी पुरुष की उसके प्रति दृष्टि। जहाँ तक स्वभाव का प्रश्न है नारी के स्वभाव में कोमलता, उत्सर्गशीलता तथा स्नेहसिक्तता आदि गुण है, पर साथ ही उसमें सबसे बड़ा अवगुण है आवश्यक सन्तुलन की कमी। वह स्वभावतः हृदय प्रधान है अतः भावप्रवण है। विवेक और धैर्य के साथ जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों का वह सामना नही कर सकती। तनिक सी बात में पिघलना और फिर तनिक सी बात में कठोर हो जाना उसके स्वभाव की सबसे बडी विशेषता है। वह प्रायः भावातिरेक में बहती रहती है। इस मानसिक असन्तुलन के कारण ही किसी भी समस्या में उसकी प्रतिक्रिया के विषय में कोई निश्चय नहीं, और यही कारण है कि उसे अविश्वसनीय तथा दुर्बोध आदि कहा गया है।

पुरुष की नारी के प्रति दृष्टि के दो पक्ष है। उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नारी के आकर्षण से प्रभावित है और उस आकर्षण के प्रति पुरुष की दुर्बलता है। इस अपनी दुर्बलता या हीनग्रन्थि को वह नारी पर आरोपित कर सन्तोष की साँस लेना चाहता है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से नारी न केवल अनभीष्ट है अपितु बाधक भी है, सन्तों ने इसी कारण नारी की विविध रूपों मे भर्त्सना की है। इन सारी बातों ने मिलकर नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण का निर्माण किया है जो साहित्य में प्रतिफलित हुआ है।

नारी के विषय में नीतिकारों की सामान्य भावना—हिन्दी के अन्य कवियों की भाँति नीति के कवियों की भावना भी प्रायः उपर्युक्त कारणों से नारी के प्रतिकूल ही रही है। यदि इसके कुछ अपवाद है तो आधुनिक कवि। नारी के विषय मे नीतिकारों की सामान्य भावना के सिंहावलोकन के लिए कवियों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कवि आते हैं, जिन्होने नारी की आलोचना सामाजिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से की है। इन लोगों ने भारतीय साहित्य में नारी पर किए गए परम्परागत आरोपों को ही अपने छन्दों में बाँधा है। इस श्रेणी में कवियों द्वारा गिनाए गए नारी के अवगुणों मे प्रधान चंचलता[1]

---

१ उरग तुरग नारी नृपति नीच जाति हथियार।
रहिमन इन्हें संभारिए पलटत लगे न बार।—रहीम (रहीम दो०,१५)

अविश्वसनीयता,[१] बुद्धिहीनता,[२] मायाविनी होना, निर्दयता, अपवित्रता,[३] रहस्य की बात को न छिपा सकने वाली होना,[४] प्रायः नीचों से प्रेम करना[५] ऐसे चरित्र तथा मति का होना जिसका जानना असम्भव है,[६] एवं अपने हृयद को छिपाने वाली[७] होना आदि हैं। घाघ[८] इन्हीं अवगुणों के कारण स्त्री से कोई भी राय न लेने के पक्ष में है।

---

१ काहू कियो न कीजिये तिय-जिय को बिस्वास।
गौरि धरी अद्धंग हर, हरि घर-घर में बास। ---वृन्द (वृन्द सत०, १६६)

२ ओछी मति युवतीन की कहैं विवेक भुलाय। ---वृन्द (वृन्द सत०, ६७५)

३ नारि सुभाऊ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया।
—तुलसी (मानस ६. १६, १–२)

४ नारिन सौं लरिकान सौं भेद कहौ जिन कोइ।
वे दुराइ जानत नहीं निहचै परगट होइ। ---जान (पन्दनावा)

५ नेह करति तिय नीच सों, धन किरपिन घर माहिं।
बरसे मेह पहाड़ पै कै ऊसर बरसाहिं। ---वृन्द (वृन्द सत० ५१७)

६ सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिम्बु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई।
—तुलसी (मानस २. ४७. ४)

विधि-गति, तिय-मति, सूम-बित, नृप अरु कुजन विचार।
जो जन जानै ताहि की, महिमा गही अपार॥
---रामचरित उपाध्याय (ब्रज सत०, १३७)

सस्कृत में भी कहा गया है--

स्त्री चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

प्राकृत का भी एक छन्द है, जिसमें कहा गया है, कि ग्रह, देवता, तारा, चराचर और विश्व की सारी बातों के विषय में जाना जा सकता है पर स्त्री-चरित्र के विषय में नहीं--

गह चरियं देव चरियं तारा चरियं चराचरे चरियं।
जाणति सयल चरियं महिला चरियं न याणंति।

७ सती कीन्ह चह तेंहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ।
---तुलसी (मानस १. ५३. ३)

८ जेहि घर साला सारथी तिरिया की हो सीख।
सावन में बिन हल सबे, तीनों माँगें भीख।
बगड़ बिराने जो रहे, मानै त्रिया की सीख।
तीनों योंही जायंगे पाही बोवे ईख। —घाघ

दूसरी श्रेणी में वे कवि है, जिनका प्रधान ध्यान समाज एव व्यवहार पर न होकर धर्म एवं आध्यात्मिक उन्नति सम्बन्धी साधना पर था, अतः इन्होंने इसी दृष्टिकोण से नारी का तिरस्कार किया है। इस श्रेणी में प्रधान रूप से सन्त कवि आते हैं।

धर्म की दृष्टि से नारी को देखने वालों का ध्यान सर्वाधिक उसके सौन्दर्य की ओर गया है। नारी का सबसे बड़ा आकर्षण है उसका सौन्दर्य। सन्तों की विचार-सारिणि कुछ इस प्रकार है कि सौन्दर्य के कारण ही व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित होता है, जिस कारण उसका पतन होता है। अतः नारी का सौन्दर्य सबसे अधिक भयावह है। इसीलिए सुन्दरदास ने नारी सौन्दर्य का बड़ा विकर्षक और भयावह रूप चित्रित किया है—

कामिनी कौ देह मानौ कहिए सघन बन,
उहाँ कोउ जाइ सु तौ भूलि कै परतु है।
कुंजर है गति, कटि केहरि कौ भय जामें,
बेनी काली नागनीऊ फन कौ धरतु है।
कुच है पहार जहाँ कामचोर रहै तहाँ,
साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौ हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राक्षस बदन षाऊ षांऊं ही करतु है।[1]

बिहारी[2] ने भी इस संसार रूपी समुद्र को पार करने अर्थात् मुक्ति पाने में नारी के सौन्दर्य को ही सबसे बडा बाधक माना है। दादू उसके सौन्दर्य की ओर ही लक्ष्य करके उसे दीपक की सुन्दर शिखा कहते है, जिस पर पतंग की भाँति संसार जल कर नष्ट हो जाता है।[3]

धर्म पर दृष्टि रखने वालों ने मुक्ति में बाधक होने के कारण नारी को माया कहा है। तुलसी कहते हैं—

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ४३७।

२ या भव पारावर को, उलंघि पार को जाय।
तिय-छबि छाया ग्राहिनी ग्रहै बीच ही आय॥
—बिहारी (बिहारी सत०, ६८४)

३ काल कनक अरु कामिनी परिहरि इनका संग।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यौं दीपत जोति पतंग।
—दादू (दादू बानी, पृ० १२३)

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह मँह अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥[1]

तुलसी ने तो "रूपी" कहा है पर दादू तो उसे साक्षात् माया मानते है—

माया साँपणि सब डसै कनक कामिणी होइ।
ब्रह्मा बिस्नु महेश मौ, दादू बचे न कोइ ॥[2]

कबीर भी कहते है—

माया की झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि।
कहु धौ किहि विधि राखिए रुई पलेटी आगि ॥[3]

इसके अतिरिक्त इस श्रेणी के कवियों के अनुसार नारी काल का अस्त्र,[4] भक्ति, मुक्ति और ज्ञान को नष्ट करने वाली,[5] अमल की घूँटी[6] बुद्धि और विवेक हरने वाली,[7] शत्रु से भी भयावह[8] तथा देखने से ही आग की तरह जलाने वाली है।[9]

१ तुलसी दोहा०, २६६।

२ दादू बानी, पृ० १३१।

३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३५।

४ काल कहता है—

ऊभा मारूँ, बैठा मारूं, मारूँ जागत सूता।
तीनि लोक भग जाल पसारया कहाँ जायगो पूता ॥
—गोरख, (गोरख बानी, पृ० ६६)

५ नारि नसावै तीनि सुख जा नर पासै होय।
भगति मुकति निज ग्यान में पैसि न सकई कोय ॥
—कबीर, (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०)

६ नारी घोंटी अमल की अमली सब ससार।
कोई सूफी ना मिला जो सङ्ग उतारै पार ॥
—मलूकदास, (मलूकबानी, पृ० ३६)

७ नारी सेती नेह, बुधि बिबेक सबहीं हरै। —कबीर (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३६)

८ व्यास कनक और कामिनी ये हैं करुई बेलि।
बैरी मारे दांव दे ये मारै हँसि खेलि ॥
—व्यास, (कविता कौमुदी, पृ० ५२३)

९ एक कनक अरु कामिनी दोऊ अगनि की झाल।
देखेही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल ॥
—कबीर, (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०)

इसी प्रकार किसी ने उसे नागिन, तो किसी ने बाघिन[1] और किसी ने नरक का कुण्ड तो किसी ने विष का फल कहा है।[2]

दादू इन सभी से आगे हैं। वे तो नारी की छाया से भी जैसे डरते हैं तथा देखने और स्पर्श करने को कौन कहे नारी का नाम भी लेना या सुनना नहीं चाहते—

नारी नैन न देखिए, मुख सूं नाँव न लेइ।
कानों कामणि जिनि सुणै, यहु मण जाण न देइ॥[3]

तीसरी श्रेणी नीति के आधुनिक कवियों की है। आधुनिक युग मे सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों एवं पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण जब सुधारवादी लहर चली तो अन्य अनेकानेक विषयों के साथ नारी के सम्बन्ध में भी भारतीय दृष्टिकोण कुछ परिवर्तित हुआ, जिसके फलस्वरूप कुछ पुरानी परम्परा के कवियों को छोड़कर अन्य कवियों के काव्य में नारी, ममता, दया, करुणा, कोमलता तथा उत्सर्ग आदि की मूर्ति तथा सहधर्मिणी, गृहलक्ष्मी, एवं देवी मानी जाने लगी तथा उसके गुणों से शून्य रहने के लिए पुरुषों को ही दोषी ठहराया गया। गुप्त जी ने लिखा है—

क्या दोष उनका किन्तु जों उनमें गुणों की है कमी।
हा क्या करें वे जबकि उनको मूर्ख रखते हैं हमीं॥[4]

यह बात बहुत अंशों में ठीक भी है। पर आधुनिक युग के पूर्व किसी भी कवि ने इस तथ्य की ओर संकेत नही किया है। रत्नावली ही एक अकेली है जिसने सम्भवतः नारी होने के कारण नारी की अवनति के मूल को परखा है और ठीक गुप्त जी की ही बात को कहा है—

सस्त्र सास्त्र बीना तुरग बचन लुगाई लोग।
पुरुष विशेषहिं पाइ जे बनत सुजोग अजोग॥[5]

कहना न होगा कि पुरुषों द्वारा नारी पर लगाए गए सारे आरोपों का यह बड़ा ही स्त्रियोचित शिष्ट एवं विनम्र उत्तर है।

गुप्त जी के अतिरिक्त आधुनिक काल के रामचरित उपाध्याय, हरिऔध, पूर्ण,

---

१ दादू बानी, पृ० १३१।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०।
३ दादू बानी, पृ० १३१।
४ भारत भारती, वर्तमान खण्ड।
५ रत्नावली दोहा०, ६२।

जनार्दन झा, सनेही, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, वियोगी, तथा गोपाल शरण सिंह आदि ने भी नारी की प्रशंसा की है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

दुख में मित्र समान अरु गृह में गृहिणी होत।
जीवन की सहचारिणी रमणी रस की सोत ॥[1]

सुलक्षणी और कुलक्षणी नारियों के लक्षण—

नारी गृह की विभूति है, पर सभी नारियाँ ऐसी नहीं होती। कुछ तो सुलक्षणी होती हैं जिससे गृह स्वर्गतुल्य बना रहता है, पर दूसरी ओर कुछ नारियाँ कुलक्षणी भी होती हैं जिनसे घर नरक हो जाता है। यहाँ नीति-काव्य में वर्णित उनके लक्षण दिए जा रहे है।

सुलक्षणी के लक्षण—पीछे नारी के स्वभाव में पाए जाने वाले अवगुणों पर प्रकाश डाला गया है। यों तो इन अवगुणों का न होना या इनके विरोधी गुणों का होना सुलक्षणी स्त्री के लक्षण कहे जा सकते है, पर इसके अतिरिक्त भी नीति-काव्य में कुछ लक्षण विशेष रूप से दिए गए हैं। गिरिधर दास कहते हैं—

रूपवती लज्जावती, सीलवती मृदु बैन।
तिय कुलीन उत्तम सोइ गरिमाधर गुन ऐन ॥[2]

अर्थात् रूपवान, लज्जावती, सुशील, मीठी बातें बोलने वाली, कुलीन, गरिमा वाली तथा गुणज्ञा नारी ही उत्तम है।

लज्जा का भारत मे विशेष महत्व रहा है। अभी कुछ समय पहले तक या कुछ स्थानों पर तो अब भी जो बधू जितनी ही अधिक लजीली होती है तथा आँख ऊपर तक नही उठाती वह उतनी ही सुलक्षणी मानी जाती है। ऐसी स्त्रियाँ घर छोड़कर आँगन में भी नहीं आती है। द्विवेदी युग के एक कवि ने "नारी रत्न" की परिभाषा देते हुए लिखा है—

कबौं आंगन हूँ में न पाँय धरै घर ही में सदा अनुरागी रहै।

या

नैन निज नींचो सदा ऊँचो न करति है ॥[3]

पतिव्रता होना भी सुलक्षणी का प्रधान लक्षण है। नरहरि कहते है—

नारि पतिव्रता न घर घर।[4]
अच्छे लोग संसार में बहुत नहीं होते।

१ **जयशङ्कर प्रसाद, चित्राधार, पृ० ६२।**
२ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६४।**
३ **दामोदर सहाय सिंह : सुधा सरोवर, पृ० ५०।**
४ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२६।**

घाघ ने भी पतिव्रता और अच्छे स्वभाव वाली स्त्री को अपार सुख देने वाली कहा है—

तिरिया सतवन्ती नीक सुभाइ ।
....
कहैं घाघ ई सुक्ख अपार ।[1]

साथ ही सुलक्षणी को पति की आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाली तथा तदनुरूप चलने वाली,

पिय मुख नित जोहति सुमुखि करति बचन अनुहारि ।
पर पति-मति-गति परति ना, परम चातुरी नारि ।।[2]

विचारवान,

तिरिया भाई रखे विचार ।
....
बड़े भाग से दे करतार ।।[3]

तथा गृह कार्य को उचित ढङ्ग से करने वाली भी होना चाहिए । नरहरि कहते हैं कि कुलीन ललनाओं में ये गुण जन्मजात ही होते हैं । उन्हें इन्हे सिखाने की आवश्यकता नहीं ।

को सिखवत कुलबधू लाज गृहकाज रङ्ग रति ।
हंसन को सिक्खवत करन पय पान भिन्न गति ।।[4]

सुलक्षणी को सास, ननद, जेठानी, देवरानी, सखी, नौकर, पड़ौसियों तथा अन्य छोटो-बड़ों का भी उचित ध्यान रखने वाली होना चाहिए । दामोदर सहाय सिंह कहते हैं—

रैनि दिन लागी रहै सासु अनुसासन में ।[5]
तथा
ननद जिठानी अनुचरी द्योरानी पुर बाम ।
पति गुरुजन सखियान हित सुखदायक अभिराम ।।[6]

---

१ घाघ, पृ० ८६ ।
२ दामोदर सहाय सिंह : सुधा सरोवर, पृ० ५० ।
३ घाघ, पृ० ८७ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७ ।
५ सुधा सरोवर, पृ० ५० ।
६ वही, पृ० ५६ ।

इन सबके अतिरिक्त स्वच्छता भी सुलक्षणी का प्रधान गुण है। यह स्वच्छता शरीर, मन, गृह तथा गृह की वस्तुओं आदि की हो सकती है। रत्नावली कहती है—

तन मन अन भाजन बसन भोजन भवन पुनीत।
जो राषति रत्नावली तेहि गावत सुर गीत ॥[1]

नीचे कुलक्षणियों के लक्षण कहे गए हैं। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है उनके उलटे लक्षण (बात न काटने वाली, शान्त, गम्भीर तथा कलह से दूर रहने वाली आदि) भी सुलक्षणियों के लिए आवश्यक है।

कुलक्षणी के लक्षण—कुलक्षणी स्त्री की निन्दा बहुत से नीति के कवियों ने की है। बीरबल ने कहा है—

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न सारो।
... .
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र में डारो ॥[2]

गंग ने भी कहा है—

बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई।[3]

घाघ भी कहते है—

ताका भैंसा गादर बैल
नारि कुलच्छनि बालक छैल।
इनसे बाँचै चातुर लोग,
राज छाडि के साधै जोग ॥[4]

अपने कुल की मर्यादाओं को न मानना कुलक्षणी का सबसे बड़ा लक्षण है। नरहरि ने ऐसी स्त्रियों को मूर्ख कहा है—

नारि मरजाद न मानै।
....
ये जग में मूरख विदित ॥[5]

चंचलता—

बैताल कहै विक्रम सुनो चंचल तिरिया अति बुरी।[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, ७०।
२ रत्नावली दो०, ७०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २४०।
४ वही, पृ० २७८।
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।
६ वही, पृ० ४००।

कलहप्रियता तथा कर्कशा होना भी कुलक्षणियों के लक्षण हैं—

तिरिया कलही करकस होई

... .

घाघ कहै ये बिपति अपार ।[१]

बैताल कहते हैं कि इनके मरने पर रोना नहीं चाहिए—

मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू ।

... .

बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरे न रोइए ।[२]

गिरिधर दास ने कुलक्षणियों को पाना पूर्व जन्म का पाप माना है—

अति चंचल नित कलह रुचि पति सों नाहिं मिलाप ।
सो अधमा तिय जानिए पाइय पूरब पाप ।।[३]

इनके अतिरिक्त छिनारपन तथा लम्पटता—[४]

झिलंगा खटिया बातल देह ।
तिरिया लम्पट हाटे गेह ।
बेगा बिगरि कै मुदइ मिलन्त ।
घाघ कहैं ये विपति के अन्त ।।[५]

बात बीच में काटना—

नसखट पनही बतकट जोय ।
जो पहिलौठी बिटिया होय ।
पातरि कृषी बौरहा भाय ।
घाघ कहैं दुख कहाँ समाय ।।[६]

---

१ घाघ, पृ० ६९ ।

२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३९९ ।

३ वही, पृ० ५९४ ।

४ घाघ ने छिनार का लक्षण दिया है—

परमुख देखि अपन मुख गावैं ।
चूरी कंकन बेसरि टोवै ।।
आँचर टारि के पेट दिखावै ।
अब छिनार का डंका बजावै ।।

५ घाघ, पृ० ६८ ।

६ घाघ, पृ० २७ ।

बहुत चटक-मटक से रहना,

बैल चौंकना जोत में,
औ चमकीली नार।
ये बैरी हैं जान के,
कुसल करें करतार।[1]

शाम होते ही सो जाना, बरतन-भांडे इधर-उधर पड़ा रहने देना तथा घर-आँगन गन्दा रखना—

सांझै से परि रहती खाट।
पड़ी भड़ेहर बारह बाट।
घरु आँगन सब घिन घिन होय।
घरघा गहिरे देव डुबोय।[2]

आदि भी कुलक्षणियों के लक्षण हैं। ऊपर सुलक्षणियों के लक्षण दिए गए है। उनके उलटे लक्षण भी कुलक्षणियों के लक्षण माने जा सकते है।

स्त्री के विविध रूप—

(अ) कन्या—स्त्री का प्रथम रूप कन्या है। हिन्दी के नीतिकार कवियों का ध्यान युवतियों की ओर तो बहुत गया है, पर कन्या या लड़कियों की ओर उतना अधिक नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यवस्थित रूप से उन्होंने मानव जीवन के सभी अगों की ओर ध्यान नही दिया है, बल्कि परम्परागत बातों को ही अपने नीति-छन्दों में अधिक रखा है। पर, इसका रत्नावली अपवाद है। स्त्री होने के कारण उसका ध्यान इधर भी गया है। रत्नावली ने कन्या के लिए सारी आवश्यक बातों को अपने दोहों में सक्षेप मे रखा है। रत्नावली के अतिरिक्त हरदीन त्रिपाठी तथा रामप्रसाद तिवारी भी ऐसे नीतिकार कवि है, जिन्होंने इधर ध्यान दिया है। विशेषतः रामप्रसाद तिवारी ने तो "सुता प्रबोध" नाम की स्वतन्त्र पुस्तक ही लिखी है जिसमें केवल कन्याओं के लिए ही उपदेश हैं।

कन्या का सम्पर्क विशेषतः मात-पिता तथा भाइयों से होता है। रत्नावली कहती है कि माता-पिता के कड़वे बचन, कड़वी दवा के समान हितकारी होते हैं।[3] अर्थात् माता-पिता के कड़वे वचन को भी कन्या को विचारपूर्वक सुनना चाहिए और

---

१ **घाघ**, पृ० ६६।
२ **वही**, पृ० ८२।
३ **रत्नावली दोहा०, ६६**।

उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। कन्या को माता, पिता, भाई तथा अपनी सखी आदि का यथोचित आदर करना चाहिए।[1]

रत्नावली इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अवगत थीं कि लड़कपन के अभ्यास ही प्रायः जीवन के अन्त तक बने रहते है। इसी कारण वे कन्याओं को बचपन से ही दया, धर्म तथा कुलमर्यादा की ओर ध्यान देने की शिक्षा देती हैं—

बाल बंस ही सों धरो दया धरम कुल कानि।
बड़े भये रत्नावली कठिन परैगी बानि॥[2]

इसका उत्तरदायित्व कन्या के साथ-साथ उसके माता-पिता पर भी है। इसी बात को ध्यान में रखकर रत्नावली आगे कहती है—

बारेपन सों मातु पितु जैसी डारति बानि।
सो न छुटाए पुनि छूटत रतन भयेहुँ सयानि॥[3]

शृङ्गार-प्रसाधन तथा उत्तेजक व्यसनों से कन्या के पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है। रत्नावली इसीलिए कहती है—

नाच विषय रस गीत गँधि भूषन भ्रमर विचारु।
अंगराग आलस रतन कन्यहि हित न सिंगारु॥[4]

अर्थात्, नाचना, विषयों से पूर्ण भद्दे गीत गाना, सुगन्धित चीजें लगा कर तथा आभूषण पहन कर घूमना एव अङ्गराग (आलक्तक, अधरराग, कपोलराग तथा नखराग आदि) लगाना कन्या का शृङ्गार नहीं, अर्थात् उसके लिए उचित नहीं।

कन्याओं को आलस्य न करने की भी शिक्षा दी गई है। पहले कहा जा चुका है कि बचपन के अभ्यास आजीवन पड़े रहते हैं। अतः जो कन्या आलसी होगी वह आजीवन इस बुरी आदत को नहीं छोड सकती। कन्या को लड़कों के साथ खेलना, हँसना, तथा एकान्त में बैठना भी उचित नहीं है। इससे उनके चरित्र में कलङ्क लगता है—

लरकनि संग खेलनि हँसनि बैठनि रतन इकंत।
मलिन करन कन्या चरित हरन सील कहैं संत॥[5]

नीति के कवियों ने कन्याओं की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया है। स्त्री जाति घर पर ही शिक्षा पाने की अधिकारिणी मानी गई है—

---

१ रत्नावली दोहा०, ६२।
२ वही, १३७।
३ वही, १३८।
४ वही, १३९।
५ वही, १४०।

शिक्षा दीजै नारि को अपने मंदिर मांहि।
कबहूँ नहीं स्वतंत्र सो गेह पराए जाहिं ॥[1]

रत्नावली ने भी स्पष्ट कहा है कि माता-पिता और बड़ा भाई या यदि विवाह हो गया हो तो पति, बस इन चार से ही स्त्री को शिक्षा लेनी चाहिए—

जननि जनक भ्राता बड़ो होइ जु निज भरतार।
पढ़इ नारि इन चारि सों रतन नारि हित सार ॥[2]

आधुनिक युग में शिक्षा के सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि बहुत से प्रसिद्ध कवियों ने लिखा है और नारी को शिक्षित बनाने का उपदेश दिया है।

भारतेन्दु—

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष या में कछू न विभक्ति।
सीता अनुसूया सती अरुंधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण तहाँ सकल जग नारि ॥
वीर प्रसविनी बुध बधू होय हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की साचेहि स्वामिनि होय ॥[3]

मैथिलीशरण गुप्त—

विद्या हमारी भी न तब तक काम में कुछ आयगी।
अर्द्धांगिनी को भी सुशिक्षा दी न जब तक जायगी।[4]

पर, नारी की शिक्षा किस ढंग की हो, इस सम्बन्ध में इन लोगों ने कुछ नहीं कहा है। हरदीन त्रिपाठी तथा रामप्रसाद तिवारी ने अवश्य इस पर कुछ प्रकाश डाला है। त्रिपाठी जी के अनुसार कन्या को केवल अपने धर्म-कर्म की शिक्षा मिलनी चाहिए—

दीन कहै निज धर्म कर्म में लेहु परीक्षा।[5]

अर्थात् साधारण पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त उसे अपने धर्म एवं कर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए। धर्म में स्त्रियों का सामान्य धर्म तथा कर्म में गृह-कर्म की शिक्षा

---

१ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४६।
२ रत्नावली दोहा०, ५५।
३ बाल बोधिनी।
४ भारत भारती, भविष्य खण्ड।
५ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४६।

निहित है, जिसे आज के शब्दों में "गृह विज्ञान" कह सकते हैं। रामप्रसाद तिवारी ने कन्या के लिए जब तक माता के घर रहना है विद्या तथा गुणादि सीखने की सलाह दी है—

बेटी रहहु मात घर जब लौं। गुन विद्या ढंग सीखौ तब लौं।[1]

ऊपर के छन्द में विद्या, गुण और ढंग ये तीनों शब्द विचारणीय हैं। विद्या का अर्थ पढ़ना-लिखना है। रामप्रसाद तिवारी ने उन पुस्तकों का पढ़ना अनुचित कहा है जिनमें अनुचित बातें हों—

जाहि ग्रन्थ में अनुचित बाता। सो पुस्तक भ्रम संशय दाता।
ताके पढ़े होत दुख कैसे। मदिरा पिये होत मद जैसे।[2]

गुण से तिवारी जी का आशय सिलाई, कटाई तथा कढ़ाई आदि से है—

पुत्री सीखहु कर्म सिलाई। ·····।
सूची कर्म जानि गुन भारी। ·····।
जानि जाउ जब कर्म सिलाई। कतर ब्योंति सीखो मन लाई।
बूटा, बेल, कसीदा काढ़ह।[3]

ढंग का आशय 'रहने का ढंग' है। इसमें तिवारी जी ने बड़ों का आदर,[4] उनकी बातें मानना,[5] चंचल न होना,[6] दूसरे के घर व्यर्थ न जाना,[7] दूसरे के खाते समय बार-बार न देखना,[8] शीलयुक्त और सरल स्वभाव का होना तथा मीठी बात बोलना आदि बातें समाविष्ट की है।

भारत में वैदिक काल से ही भावज और ननद के झगड़ों के उल्लेख मिलते हैं। आगे "गृहिणी" पर विचार करते समय हम देखेंगे कि नीतिकारों ने भावज को अपनी ननद के साथ अच्छा व्यवहार रखने को कहा है। कन्याओं को उपदेश देते समय रामप्रसाद तिवारी इस बात को भी नहीं भूल सके हैं। इसीलिए उन्होंने माता, पिता तथा बड़े भाई के साथ भावज की भी गणना कर दी है—

---

१ सुता प्रबोध, पृ० ८।
२ वही, पृ० ३।
३ वही, पृ० ४।
४ मात पिता भावज बड़ भ्राता।
जो कछु उचित सिखावै बाता॥ —सुता प्रबोध, पृ० ३।
५ सुता प्रबोध, पृ० ३।
६ वही, पृ० ८।
७ वही, पृ० ६।
८ वही, पृ० ६।

मात पिता भावज बड़ भ्राता ।[1]

संक्षेप में हिन्दी के नीतिकार कवियों ने गृहिणी के लिए आवश्यक गुणों एवं अभ्यासों को ध्यान में रखकर उचित ढंग से कन्या को अपने व्यक्तित्व का सर्वोन्मुखी विकास करने का निर्देश किया है।

(आ) गृहिणी—स्त्री का सुन्दरतम और शिवतम रूप "गृहिणी" है। पुरुषों के जीवन—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में जो महत्वपूर्ण स्थान गृहस्थावस्था का है नारी-जीवन में वही महत्वपूर्ण स्थान उसके गृहिणी रूप का है। कन्या विवाहित होकर अपने पति के घर आकर गृहिणी बनती है। यहाँ उसे यथार्थ जीवन में प्रवेश करना पड़ता है। कहना अनुचित न होगा कि संसार के पूरे बाह्य कार्य यदि गृहस्थों पर हैं, तो पूरे गृह कार्य गृहिणियों पर हैं। इसीलिए गृहिणी का महत्व साहित्य और लोक साहित्य[2] दोनों में ही गाया गया है। घाघ कहते हैं—

बिन बैलन खेती करै बिन भैयन के रार।
बिन मेहराऊ घर करै चौदह साख लबार॥[3]

उदयमणि ने भी लिखा है—

घर मलीन बिन घरनि, धरनि बिन नृपति मलीनो।
मुख मलीन बिन पान, मान बिन मानुष हीनो॥[4]

विभिन्न स्वजनों से गृहिणी के सम्पर्कों तथा उसके कार्य-क्षेत्र की विस्तृतता के कारण उसके कई रूप हो जाते हैं। गृहिणी के क्षेत्र में प्रवेश करते ही नारी का प्रथम रूप 'रमणी' का दिखाई पड़ता है, जहाँ वह पति-भोग्या होती है। इसी के साथ उसके सेविका रूप का भी विकास होता है। वह पति के अतिरिक्त सास, ससुर, ननद तथा जेठानी आदि की सेवा करती है। भोग्या और सेविका रूपों का सामूहिक विकास उसके माता रूप में होता है और गृहिणी 'माता' बन जाती है। यहाँ पहुँचकर उसका भोग्या रूप बहुत सिमट जाता है या फीका पड़ जाता है और वह उत्सर्ग एवं सेवा की प्रतिमूर्ति बनकर सन्तान और पति की संरक्षिका एवं निःस्वार्थ सेविका बन जाती है। गृहिणी के माता रूप में ही आगे विकास होता है तो वह "सास" बनती है, जब उसकी पुत्रबधू घर आती है। यहाँ उसके स्नेह की परिधि में पति और सन्तान के अतिरिक्त पतोहू भी आ जाती है। इसी के साथ यदि उसकी

---

१ सुता प्रबोध, पृ० ३।
२ लोकोक्ति है—"बिन घरनी घर भूत का डेरा"।
३ घाघ, पृ० १२।
४ भँड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० १३।

पुत्री का भी विवाह हुआ तो उसे एक दूसरे रूप में "सास" बनना पड़ता है। यहाँ उसके स्नेह की परिधि में एक चौथा व्यक्ति "दामाद" भी आ जाता है, यद्यपि सर्वदा दूर रहने के कारण पति, सन्तान तथा पुत्रबधू जैसा स्नेह प्रायः वह उसे नहीं प्रदान कर पाती। दुर्भाग्य से यदि इसी बीच उसके पति का देहान्त हो गया तो उसे विधवा की संज्ञा मिलती है। इस रूप में उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है, साथ ही उसे संसार के प्रायः सभी आकर्षणों, मनोरंजनों, स्वाद, वैभव तथा प्रसाधन आदि से विरक्त होना पड़ता है।

इन रूपों के साथ ही उसके दो-तीन और भी रूप देखने मे आते हैं। यदि घर में नौकर रहे तो उसके साथ उसके व्यक्तित्व का एक और पक्ष दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धियों तथा पड़ौसियों से उसके सम्पर्क में उसके व्यक्तित्व का दूसरा और अपरिचितों (भिखारी, दुकानदार, फेरीवाले तथा साधु-संन्यासी आदि) के सम्पर्क में तीसरा पक्ष दृष्टिगत होता है।

इन सबके अतिरिक्त गृहिणी को अपने स्वास्थ्य तथा सुख-दुःख आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है और साथ ही उसे अपनी गृहस्थी को सँभालने में भोजन, सामान, व्यय तथा सफाई आदि पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है।

गृहिणी के उपर्युक्त रूपों को हिन्दी नीति-काव्य में देखने के लिए निम्नांकित शीर्षकों को लिया जा सकता है।

(क) पति—

पति के सम्पर्क में स्त्री विवाह के बाद आती है। शास्त्रों मे विवाह आठ प्रकार के माने गये हैं।[1] इसका आशय यह है कि ससार में कभी सभी प्रकार के विवाह—मान्य-अमान्य, नैतिक-अनैतिक—प्रचलित थे, पर जैसा कि स्मृतियों में मिलता है, इनमें ब्राह्म विवाह ही श्रेष्ठ माना गया है। नीति साहित्य में भी इसी विवाह को मान्यता दी गई है और इसी प्रकार के विवाह से प्राप्त पति गृहिणी का उचित पति माना गया है। रत्नावली ने लिखा है—

जाके कर में कर दयो मात पिता वा भ्रात।
रत्नावली सह बेद-विधि सोइ कह्यो पति जात॥[2]

भारत में, विशेषतः हिन्दू नारियों के जीवन में, पति का बहुत बड़ा स्थान है।

---

१ ब्राह्मो देवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्थासुरः।
गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः॥ —मनु० ३. २१।

२ रत्नावली दोहा०, २६।

वह पत्नी के लिए सब कुछ समझा जाता है। नीति काव्य में नारी के लिए पति के महत्व को विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है।

स्त्रियों के जीवन में शृङ्गार का बहुत बड़ा महत्व है पर, रत्नावली कहती है कि अन्य शृङ्गार तो मिथ्या है, पति ही पत्नी के लिए यथार्थ शृङ्गार है—

पिय साँचो सिंगार तिय सब झूँठे सिंगार।[1]

धन भी जीवन के लिए अत्यावश्यक है पर, पत्नी के लिए सबसे बड़ा धन पति ही है—

सज्जन को सतोष-धन, नृप धन सैन महान।
तिय को धन पिय जगत में, धन धन वैस्य प्रमान॥[2]

आजकल पत्नियाँ दूसरों को गुरु बनाती है पर नीति साहित्य में पत्नी का गुरु पति ही कहा गया है। उसके रहते किसी भी अन्य गुरु की आवश्यकता नहीं—

तीन बरन को विप्र गुरु, द्विज गुरु अग्नि प्रमान।
कामिनि को गुरु कंत है जग गुरु अतिथि सुजान॥[3]

इतना ही नहीं, अपितु पति एक ही साथ पत्नी के लिए देवता, गुरु, पूज्य, मित्र, बन्धु, धन तथा संसार मे सार पदार्थ है—

पति गति, पति बित, मीत पति, पति सुर गुर भरतार।
रत्नावली सरबस पतिहि बंधु बंद्य जगसार॥[4]

वही पत्नी की जीवन-नैया का कर्णधार है—

रतनावलि भवसिंधु मधि, तिय जीवन की नाव।
पिय केवट बिनु कौन जग, पेइ किनारे लाव॥[5]

भारतीयों के लिए जीवन की सबसे बड़ी प्राप्ति ब्रह्मानन्द या मुक्ति है। इसी के लिए तीर्थ, व्रत, उपासना, यज्ञ तथा तप आदि कठिन से कठिन साधनाएँ की जाती हैं। हमारे स्मृतिकारों की भाँति ही नीतिकारों की दृष्टि में भी पत्नी के लिए पति की सेवा का महत्व इन सारी साधनाओं से कम नहीं है।

मत संगति उपवास जप तप मष जोग विवेक।
पति सेवा मन बच करम रतनावलि उर एक॥[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, १४।
२ भँड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० ५८।
३ वही, पृ० ५६।
४ रत्नावली दोहा०, ३०।
५ वही, ३३।
६ वही, ४८।

और यदि पति-सेवा में पत्नी तत्पर नहीं है सो उसका यह सब करना व्यर्थ है—

उद्यापन, तीरथ, बरत, जोग, जग्य, जप, दान ।
रतनावलि पति सेव बिन सबहि अकारथ जान ।।[1]

रत्नावली ने तो यहाँ तक कहा है कि पति सेवा के आगे ये सब व्यर्थ हैं और बिना इनके किए ही पति-सेविका पत्नी स्वर्ग पा जाती है—

रतनावलि पति सों अलग कह्यो न बरत उपास ।
पति सेवत तिय सकल सुप पावत सुरपुर वास ।।[2]

रामचन्द्रिका में राम कौशल्या से कहते हैं—

जोग जाग ब्रत आदि जु कीजै ।
न्हान गान गुन दान जु दीजै ।
धर्म कर्म सब निष्फल देवा ।
होंहि एक फल कै पति सेवा ।।[3]

पति पत्नी के लिए साक्षात स्वर्ग की सीढ़ी है :

पति देवत कहि नार कहँ और आसरो नाहिं ।
सर्ग सिढ़ी जानहु यही वेद पुरान कहाहिं ।।[4]

और वह भगवान भी है। उसे अपमानित करना भगवान का अपमान करना है।

अपमानित पति के भए अपमानित भगवान ।[5]

इस प्रकार, नीतिकारों ने पति को एकान्त महत्ता दी है। कुछ ने तो इस महत्ता को और ऊपर उठाते हुए यहाँ तक कहा है कि पति के बिना पत्नी का जीवन शून्य है—

बैताल कहै बिक्रम सुनो पति बिनु सूनी कामिनी ।[6]

रत्नावली ने इस बात को और भी सुन्दर ढंग से कहा है—

नर अधार बिनु नारि तिमि जिमि स्वर बिन हल होत ।[7]

---

१ रत्नावली दो०, ३८ ।
२ वही, २६ ।
३ रामचन्द्रिका, पृ० १६ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६५ ।
५ रत्नावली दो०, ३६ ।
६ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१ ।
७ रत्नावली दोहा०, १७२ ।

अर्थात् पति के बिना पत्नी उसी प्रकार है जैसे स्वर के बिना व्यंजन। टोडर-मल ने भी प्रायः यही बात कही है—

तार बिन जंत्र जैसे स्याने बिन मंत्र जैसे पुर्ष बिनु नारि जैसे पुत्र बिनु घर है।
टोडर सुकवि तैसे मन में विचार देखो धर्म बिन धन जैसे पच्छी बिन पर है॥[1]

तुलसी मे भी इस भाव की पराकाष्ठा है—

जिय बिन देह नदी बिन बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिन नारी।[2]

पति के महत्व को इतना बढ़ा-चढ़ा कर कहने का एक मात्र यही अर्थ है कि पत्नी को पति से एकान्त प्रेम रखना चाहिए तथा उसकी सेवा करनी चाहिए। यदि पति सुन्दर, धनी, योग्य, स्वस्थ तथा आकर्षक है तो पत्नी स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित रहेगी तथा उससे प्रेम और उसकी सेवा करेगी, पर यदि पति इसके विरुद्ध अयोग्य, असुन्दर, दीन तथा अवगुणी हुआ तो स्वभावतः उसकी ओर से पत्नी कुछ पराङ्मुख सी रहेगी। नीतिकारों ने इस असंगति को रोकने के लिए ऐसा नियम बनाया है कि पति कितना भी बुरा क्यों न हो पत्नी का यह धर्म है कि उसे ही वह सबसे सुन्दर, धनी, योग्य तथा आकर्षक समझ कर उससे प्रेम तथा उसकी सेवा करे।

इस प्रकार की भावनाओ का बीज बहुत पहले से मिलता है। मनु ने ऐसा विधान किया है कि यदि कोई पत्नी जुआ आदि खेलों में व्यस्त रहने वाले तथा रोग पीड़ित पति की सेवा न करे अर्थात् उसका अनादर करे तो उसको उसका पति तीन मास के लिए त्याग दे तथा उससे वस्त्राभूषण आदि छीन ले।[3]

हिन्दी मे बहुत से कवियों ने इस प्रकार की बातें कहीं है। मानस में अनुसूया सीता से कहती है—

वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥[4]

रामचन्द्रिका में राम कौशल्या को उपदेश देते हैं—

पति देइ जो अति दुख।
मन मानि लीजै सुक्ख॥

---

१ भड़ौआ संग्रह, भाग १, पृ० १२।
२ मानस २, ६६. ४।
३ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा।
सात्रीन्मान्यरित्याज्या, विभूषण परिच्छदा॥ —मनु० ६. ७८॥
४ मानस ३. ५. ४—५।

सब जगत जान अमित्र।
पति जान केवल मित्र ।।
नारि तजै ना आपनो सपनेहू भरतार।
पंगु गुंग बौरा बधिर अंध अनाथ अपार।
अंध अनाथ अपार वृद्ध बावन अतिरोगी।
बालक पंडु कुरूप सदा कुबचन जड़ जोगी।
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी।
अंध अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ।।[1]

रत्नावली ने नारी होते हुए भी इन्हीं बातों का समर्थन किया है—

अंध पंगु रोगी बधिर सुतहि न त्यागति माय।
तिमि कुरूप दुरगुन पतिहि रतन न सती बिहाय ।।[2]

वे एक अन्य स्थान पर भी कहती हैं—

नेह सील गुन बिन रहित कामी हूँ पति होय।
रत्नावलि भलि नारि हित पूज्यदेव सम सोय ।।[3]

इस प्रकार पति चाहे कितना भी अयोग्य, कुरूप और बुरा आदि क्यों न हो, नीतिकार कवियों के अनुसार पत्नी को उसे देवता समझ कर उसका आदर करना चाहिए। कहना न होगा कि ये बातें आज के युग के लिए व्यर्थ हैं। यदि ये सत्य हैं तो पति के लिए भी और नहीं तो किसी के लिए नहीं।

पति का स्नेह—जिसकी इतनी महत्ता प्रदर्शित की गई है, उस पति का पत्नी के प्रति प्रेम, पत्नी के लिए कितना बहुमूल्य है कहने की आवश्यकता नहीं। जिस स्त्री का अपने पति का प्रेम या पति का सुख प्राप्त है, उसे संसार के सारे सुख प्राप्त हैं और वह अनेक कष्ट में रहती हुई भी बहुत सुखी है।

धन सुष जन सुष बंधु सुष सुत सुष सबहिं सराहि।
पै रत्नावलि सफल सुख पिय सुष पटतर नाहिं ।।[4]

जिस स्त्री को पति के प्रेम का आनन्द प्राप्त है उसे ब्रह्मानन्द की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्मानन्द पति-प्रेमानन्द के एक बूंद के समान भी नहीं है—

---

१ रामचन्द्रिका, पृ० १६।
२ रत्नावली दोहा०, १३३।
३ वही, २१।
४ वही, ६७।

सब रस रस इक ब्रह्म रस रतन कहत बुध लोय।
पै तिय कहँ पिय प्रेम रस बिन्दु सरिस नहिं सोय ॥[1]

इसके विरुद्ध जिस स्त्री को अपने पति का स्नेह प्राप्त नहीं है, उसका जीवन उस भाजी के समान फीका या व्यर्थ है जिसमें नमक न हो।

तिय जीवन तेमन सरिस तौं लौं कछुक रुचै न।
पिय सनेह रस राम रस जौं लौं रतन मिलै न ॥[2]

पतिव्रता—पतिव्रता स्त्री की नीतिकारों ने बड़ी प्रशंसा की है। दयाशंकर मिश्र "पतिव्रता" की परिभाषा में देते हैं—

पति तजि दूसर देव कहँ नहिं आराधै जौन।
ईस सरिस स्वामी गुनै पतिबरता है तौन ॥[3]

आशय यह है कि वही स्त्री पतिव्रता है जो अपने पति को ईश्वर (अर्थात् संसार में सभी बातों में सब से बड़ा) माने और केवल उसी की आराधना करे। उसका किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रेम आदि न हो।

गुणी या अच्छों की संसार में कमी रहती है। वही दशा पतिव्रता स्त्रियों के विषय में भी है। वे घर-घर नहीं होतीं। नरहरि ने लिखा है—

सर सर हंस न होत बाजि गजराज न दर दर।
तर तर सुफर न होत नारि पतिव्रता न घर घर ॥[4]

किसी भी काम का बनना कठिन है, पर बिगड़ना सरल। उसी प्रकार पतिव्रता बनना भी बड़ा कठिन है, और इस बनने में पूरी आयु व्यतीत हो जाती है, पर नष्ट होने में देर नहीं लगती—

सती बनत जीवन लगै असती बनत न देर।
गिरत देर लागै कहा चढ़िबो कठिन सुमेर ॥[5]

पतिव्रता सती स्त्रियाँ पति की आज्ञाकारिता, सेवा तथा उसके प्रति एकान्त प्रेम से अपने व्यक्तित्व को इतना ऊपर उठा लेती हैं कि अपनी आत्मशक्ति से असम्भव को भी सम्भव कर लेती है। सावित्री की कथा इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है जिसने अपने मृत पति सत्यवान को पुनर्जीवित कर लिया। ऐसा भी नीति के कवियों ने कहा है—

---

१ रत्नावली दोहा०, १३१।
२ वही, १३२।
३ सदाचार सोपान, ३९।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२९।
५ रत्नावली दोहा०, १३६।

रतनावलि जिय जानि तिय पतिव्रत सकति महान ।
मृत पति हू जीवित कर्‌यो सावित्री सतिवान ।।[1]

पतिव्रता स्त्रियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए रत्नावली ने अपने एक दोहे में एक विचित्र बात कही है। ब्रह्म को कान्त मान कर कान्तासक्ति भक्ति में विश्वास रखने वाले भक्त संसार की सभी आत्माओं को स्त्री तथा केवल ब्रह्म को पुरुष मानते हैं। रत्नावली ने पतिव्रताओं मे श्रेष्ठ की भी मनोदशा इसी प्रकार की मानी है—

तन मन पति सेवा निरत तुलसे पति लषि जोय ।
इक पति कह पूरष गनै सती सिरोमनि सोय ।।[2]

अर्थात् सतियों या पतिव्रताओं की शिरोमणि वही स्त्री है जो तन मन से अपने पति की सेवा में लगी रहती है, उसे देख प्रसन्न होती है तथा एकमात्र उसे ही पुरुष मानती है। अर्थात् उसके लिए संसार में केवल उसका पति ही पुरुष है शेष सभी स्त्रियाँ है। ये बातें सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से कही गई है। अन्यथा होने पर अव्यवस्था तथा अनाचार का राज्य हो जायगा। पर, पुरुष में भी इसी प्रकार के भाव अपनी स्त्री के प्रति आवश्यक है।

पतिव्रता चार प्रकार की होती हैं। तुलसी ने अनसूया के मुँह से कहलाया है-

जग पतिव्रता चारि बिधि अहही ।
बेद पुरान सन्त सब कहही ।
उत्तम के अस बस मन माहीं ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्या पर पति देखइ कैसे ।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई ।
सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई ।
जानेहु अधम नारि जग सोई ।।[3]

कहना न होगा कि इनमें यथार्थ पतिव्रता प्रथम प्रकार की ही हैं।

रक्षिका एवं पथ-प्रदर्शिका—ऊपर पति को पत्नी का ईश्वर, देवता, पूज्य गुरु, रक्षक, मित्र तथा धन आदि बहुत कुछ कहा जा चुका है पर दूसरी ओर

---

१ रत्नावली दोहा०, ५८।
२ वही, ६१।
३ मानस, ३. ५. ६—८।

पति के लिए पत्नी भी कुछ इसी प्रकार है। पत्नी पति के स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखने तथा उसका पालन-पोषण करने के कारण उसकी रक्षिका तथा माता, उसे यथावसर उचित सलाह देने के कारण गुरु, दुःख में उसका साथ देने के कारण मित्र, आपत्ति में पथ-प्रदर्शन करने के कारण पथ-प्रदर्शक तथा साक्षात् गृहलक्ष्मी होने के कारण, धन की भाँति सम्मान्य है। मनु ने इसी कारण कहा है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है उस घर में देवता वास करते हैं और जहाँ इसके विरुद्ध होता है सारा कर्म निष्फल होता है।[1] नीति के कवियों ने स्त्रियों के विषय में जहाँ भी लिखा है प्रायः या तो उसकी पानी पी-पी कर निन्दा की है या उसके रमणी रूप पर कुछ प्रकाश डाला है या फिर पति के प्रति उसके कर्तव्यों को बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है। किसी का भी इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं गया है कि यदि पत्नी के लिए पति पूज्य और रक्षक आदि है तो उसी प्रकार पति के लिए पत्नी भी है। नारी होने के कारण रत्नावली का ध्यान इधर अवश्य गया है। वह अच्छी और पतिव्रता स्त्री को सेविका होने के साथ-साथ पति का मित्र तथा उसकी माता भी मानती है—

दैति मन्त्र सुठि मीत सम, लेहिनि मातु समान।
सेवति पति दासी सरिस, रतन सुतिय धनि जान॥[2]

मित्र की भाँति सुलक्षणी स्त्री पति को मन्त्रणा देती है और माता की भाँति उसे अपने स्नेह से सिक्त रखती है, इसीलिए रत्नावली पत्नी को सिखाती है—

अनाचार धन-नाम रत निज पति रतन लषाइ।
लहि औसर समुचित बचन रहसि बोधियै ताइ॥[3]

तुलसी के मानस में राम बालि को डाँटते हैं—

मूढ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करेसि न काना॥

महाभारतकार ने कुछ इन्हीं भावनाओं का अनुभव कर स्त्री को पुरुषों के सभी दुखों की एकमात्र औषधि माना है।[4]

परीक्षा—यों तो पूरा जीवन—उसका पग-पग और क्षण-क्षण—परीक्षा है,

---

१ यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ —मनु० २।५६।

२ रत्नावली दो०, १६६।

३ वही, १६३।

४ न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजामतम्।
औषधं सर्व दुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि॥ —वनपर्व ६१।२६।

पर प्रत्येक व्यक्ति की उसकी स्थिति और योग्यता के अनुसार विशिष्ट अवसरों पर विशेष परीक्षा होती है।

तुलसी लिखते हैं—

धीरजु धरम मित्र अरु नारी।
आपदकाल परखियहु चारी॥[1]

अर्थात् दुख में अपने धैर्य, धर्म, स्त्री और मित्र की परीक्षा होती है। रहीम ने भी कहा है। दुख एक दृष्टिकोण से अच्छा है यदि थोड़े दिन के लिए या अस्थायी हो। इसमें स्वजनों तथा अन्यों की यथार्थ पहिचान हो जाती है।[2] सचमुच ही और किसी की हो या न हो पर आपत्ति या निर्धनता आने पर स्त्री और मित्र की परीक्षा तो हो ही जाती है। चाणक्य ने भी इसका समर्थन किया है।[3]

जब व्यक्ति धन-धान्य से पूर्ण और सुख में रहते हैं तो सुख के आकर्षण से बुरी या अच्छी सभी स्त्रियाँ साथ रहती है और अपना असीम प्रेम दिखलाती हैं, पर चिन्ता या निर्धनता में प्रायः कम स्त्रियों का प्रेम और अपनत्व पूर्ववत् रहता है। जिनका ऐसे में भी पूर्ववत् भाव रहे उन्हें ही पतिव्रता और स्त्री-रत्न समझना चाहिए। ऊपर दुःख के परीक्षा-काल के सम्बन्ध में रहीम की सामान्य सूक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने स्त्रियों के विषय में भी कहा है—

चिन्ता बुद्धि परेखिए टोटे परख त्रियाहि।
सगे कुबेला परखिए ठाकुर गुनो कि आहि॥[4]

गिरिधर दास ने भी इन्हीं बातों को दोहराया है—

सत्य सुमति धीरज धरम बन्धु मित्र सुत नारि।
आपत में परखिय इनहिं गिरिधरदास बिचारि॥[5]

इस प्रकार तुलसी और गिरिधरदास के शब्दों में आपत्तिकाल तथा रहीम के शब्दों में निर्धनता के समय नारी की परीक्षा होती है।

दुःख—यों तो संसार मे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख हैं पर स्त्रियों के लिये पुत्र-मृत्यु तथा पति से वियोग या महावियोग (मृत्यु) सब से बड़े है। पीछे गृहिणी में 'पति' शीर्षक के अन्तर्गत विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि पत्नी के लिए ईश्वर, देवता, गुरु, पूज्य, मित्र, धन, सुख तथा मोक्ष

---

१ मानस, पृ० ११०।

२ रहीम दोहा०, २३६।

३ मित्रं चापत्ति काले तु भार्यां च विभवक्षये। —चाणक्य०, पृ० ३।

४ रहीम दोहा०, ५७।

५ भँड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० ५५।

सभी कुछ पति है, इसी कारण उसके वियोग या महा-वियोग का दुख पत्नी के लिए सबसे बड़ा है।

पिय वियोग सम दुख जग नाहीं।[1]

यह तो एक पुरुष के लेखनी से उद्भूत पंक्ति है। पुरुष स्त्री-हृदय की भाव-तरङ्गों या चिन्ताधाराओं का अनुमान लगा सकता है, उनका अनुभव नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में तुलसी की चिरवियोगिनी प्रिया रत्नावली का एक दोहा देखने योग्य है। यदि रत्नावली तथा तुलसी के वियोग की घटना को सत्य मानें तो उसे अपने ही कुछ शब्दों के कारण पति का वियोग सहना पड़ा था और वह वियोग सीता या दमयन्ती की भाँति कुछ वर्षों का न होकर पूरे जीवन का था। प्रिय-वियोग के दुख के क्षेत्र में रत्नावली पौराणिक या ऐतिहासिक दोनों ही संसार में अद्वितीय है। उसका दुख पति से मिलते ही विधवा होने वाली या अक्षतयोनि विधवा से भी अधिक है। यह वह विधुरा थी जो सधवा होते हुए भी विधवा जीवन बिताने को बाध्य थी, क्योंकि उसी के शब्दों में जिस स्त्री का पति विदेश में हो उसे भी विधवा की भाँति मनोरंजन, रागरङ्ग, वैभव तथा सुख आदि को तिलाजलि दे देनी चाहिए।[2] उसने अपनी व्यथा को छन्द में बाँधने का प्रयास किया है—

असन बसन भूषन भवन पिय बिन कछु न सुहाय।
भार रूप जीवन भयो छिन छिन जिय अकुलाय॥[1]

रत्नावली पति वियोग के दुख के विषय में लिखती है—

को जानै रत्नावली पिय वियोग की बात।
पिय बिछुरन दुख जानतीं सीय दमती मात॥[3]

वह यह नहीं कहती कि यह बहुत बड़ा दुख है, वह यह भी नहीं कहती कि इतना बड़ा दुख संसार में है ही नहीं। वह कहती है कि इस दुख को कौन जान सकता है? यह जानने की चीज नहीं। केवल अनुभव किया जा सकता है। इसी कारण सीता दमयन्ती आदि भुक्त भोगी नारियाँ ही इसे जान सकती है। सचमुच स्त्री के लिये पति वियोग या पति की मृत्यु ही सबसे बड़ा दुःख है।

रमणी—गृहणी का रमणी रूप प्रायः भौतिक है। किसी भी व्यक्ति में उत्तमता दो प्रकार की होती है। बाह्य और आन्तरिक। रमणी में बाह्य उत्तमता की ओर प्रधान ध्यान जाता है। नारी के रमणी रूप का विवेचन कामशास्त्र की पुस्तकों में अधिक सांगोपाग और व्यवस्थित रूप से मिलता है। हिन्दी नीति-काव्य

---

१ मानस, पृ० १३२।
१ रत्नावली दोहा०, १३।
२ वही, ३२।

में इस सम्बन्ध में केवल कुछ अधिक प्रचलित बातों की ओर ही संकेत किया गया है—

रमणी के सम्बन्ध में प्रथम बात तो यह है कि उसे वृद्धा नहीं होना चाहिए नरहरि कहते हैं—

रोगी दरिद्र जीवन दुखद वृद्ध नारि रसगिद्धचित्।
एते निकृष्ट संसार में, सो इनको धिक्कार नित ॥[1]

एक अज्ञात कवि के अनुसार तो वृद्ध नारी साक्षात् काल है। सुख के अतिरिक्त इसमें स्वास्थ्य का दृष्टिकोण भी निहित है। दोहा इस प्रकार है—

वृद्ध नारि, निसि दधि असन कन्या रवि की धूप।
प्रात नीद रति सुष्क फल ए षट काल-सरूप ॥[2]

एक अन्य अज्ञात नीतिकार ने इसी स्वर में नवला स्त्री को 'जीवन' कहा है।

नवला तिय अरु अन्न तव गंगाजल बट छाँह।
छीरपाक सुन्दर वसन षट जीवन जग मांह ॥[3]

यहाँ तक तो अवस्था की बात थी। इसके अतिरिक्त रमणी को रूपवती भी होना चाहिए।

नगर नष्ट सरिता बिना धाम नष्ट बिन कूप।
पुरुष नष्ट बिन सील को नष्ट नारि बिन रूप ॥[4]

पर इसके विरुद्ध कुछ नीतिकारों ने सुन्दर पत्नी की बुराई भी की है।

वृद्ध गऊ जीरन बसन अधरम धन तजि देहु।
अरु बनिता पर सुन्दरी खलमण्डल को गेह ॥[5]

अर्थात्, सुन्दर स्त्री त्याज्य है। पर यह बात रमणी की दृष्टि से नहीं कही गई है। सुन्दर स्त्रियाँ प्रायः कठोर होती है। दुलारे लाल भार्गव ने अपनी "दुलारे दोहावली" में लिखा है—

रमनी रतननि हीर यह यह सांचो ही मोर।
जैतो दमकति देह दुति तैतों हियो कठोर ॥[6]

---

१ विशाल भारत, दिसम्बर १९४६, पृ० ३७८।
२ भड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० ६४।
३ वही, पृ० ६३।
४ वही, पृ० ५६।
५ वही, पृ० ५५।
६ दुलारे दोहा०, पृ० ७५।

अर्थात् रत्न और रमणी ऊपर से जितने ही सुन्दर होते हैं, भीतर से उनका हृदय उतना ही कठोर होता है। कहना न होगा कि यह कथन अर्थवाद हो सकता है सिद्धान्त नहीं। कितनी ही स्त्रियाँ सुन्दर न होती हुई भी कठोर होती हैं और दूसरी ओर कितनी ही सुन्दर होती हुई भी कोमल हृदय की होती हैं। यद्यपि कैकैयी अनिन्द्य सुन्दरी और अत्यन्त कठोर थी।

वर्ण की दृष्टि से रमणी को भूरी या काली न होकर गोरे वर्ण का होना चाहिए—

भूरी भामिन है बुरी भरतारहिं न सोहांहिं।
भरे भले भाविन भरी भूलेहु भाँवहिं नाहिं॥[1]

आछी काछी कामरी काली भली न नार।[2]

साथ ही रमणियों का तन्वंगी होना भी अच्छा कहा गया है। तन्वंगिता के साथ कटि का क्षीण होना सोने में सुगन्ध है—

चन्दन चाउर चून तिय बंक लंक सन सूत।
ये नव पतरे चाहिए तुला राग रजपूत॥[3]

रमणी के लिए उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त अत्यन्त कोमल, लज्जाशीला, गजगामिनी, सुन्दर स्मित वाली, हँसमुख तथा सुन्दर दृष्टि वाली आदि होना भी उत्तम कहा गया है—

कामिनि है मृदु-वादिनी गजि-गामिनि गुन खान।[4]

तथा

अति कोमल बोलत बचन बात कहत मुसकात।
कटि लचकावति चलति जब नारी गुन सु कहात॥[5]

कुछ स्त्रियों की आँखें कंजी होती हैं। भारतीय दृष्टिकोण से ऐसा होना असुन्दर माना गया है, अतः रमणियों में इसका होना दूषण है। साथ ही ऐसी स्त्रियाँ कुटिल, क्रूर तथा निष्ठुर कही गई हैं—

कँड़जी अँखियन की तिया कुटिला क्रूरा होय।
प्रीति रीति जानै नहीं निठुर निर्दयी सोय॥[6]

---

१ सदाचार सोपान, पृ० ५।
२ घाघ, २१।
३ भँड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० ७६।
४ सदाचार सोपान, पृ० ५।
५ भँड़ौआ संग्रह, भाग ३, पृ ३१।
६ सदाचार सोपान, पृ० ५।

रमणी के लिए लोमवती तथा रोगी होना भी बहुत बड़ा दूषण है। उसके लोमवती होने से शारीरिक कान्ति तथा कोमलता में बाधा पड़ती है और रोगी होने से सम्पर्क रखने वाला रोगी हो जाता है।

लोमवती सुख नहिं लहै पाएहु पीव महीप।
नरहू रोगी होत है रोगी नारि समीप॥[1]

स्वास्थ्यशास्त्र, शृङ्गार या नायिका भेद विषयक ग्रन्थों में इस विषय की और भी बातें मिल सकती हैं, पर वे नीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आते, अतः यहाँ उनको नहीं लिया जा रहा है।

विधवा—यों तो वैधव्यावस्था सौभाग्यवती स्त्री से दूर की चीज है, पर पति की मृत्यु से उद्भूत होने के कारण सीधे पति से सम्बन्धित है, अतः इस पर भी यहीं विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। दुःख शीर्षक में कहा जा चुका है कि पति का वियोग ही स्त्री के लिए सबसे बड़ा दुःख है। यह वियोग प्रवास-जनित और मृत्यु-जनित दो प्रकार का हो सकता है। प्रवास-जनित वियोग के दुख की तुलना में मृत्यु जनित वैधव्य का दुःख बहुत बड़ा है, क्योंकि प्रथम में तो पुनर्मिलन की आशा रहती है पर दूसरे में नहीं। यों दार्शनिकों की भाँति आशा को सबसे बड़ा दुख मान लें तो बात उलट भी सकती है।

हिन्दी के नीतिकारों में विधवा के सम्बन्ध में जो बातें मिलती है, उन्हें तीन वर्गों मे रखा जा सकता है—

(क) विधवा का आचार
(ख) सती
(ग) विधवा-विवाह

विधवा का आचार—विधवा के लिए अच्छे कपड़े-लत्ते या आभूषण आदि पहनने, हास-परिहास करने, दूसरे के घर जाने, प्रसाधन करने, अच्छे या पौष्टिक भोजन करने, खेल-तमाशे देखने तथा उत्सव आदि में जाने का निषेध है। रत्नावली कहती है—

रतन हास पर घर गमन षेल देह सिंगार।
तज उतसवन बिलोकिबो लहि वियोग भरतार॥[2]—

रामचन्द्रिका में राम ने विधवा-धर्म का वर्णन किया है।

गान बिन मान बिन हास बिन जीवहीं।
तप्त नहिं खाय जल सीत नहिं पीवहीं॥

---

१ **सदाचार सोपान**, पृ० ५।
२ **रत्नावली दोहा०**, १५८।

तेल तजि खेल तजि खाट तज सोवहीं।
सीत जल न्हाय नहिं उष्णजल जोवहीं॥
खाय मधुरान्न नहिं पाय पनहीं धरे।
काय मन वाच सब धर्म करिबो करैं॥
कृच्छ्र उपवास सब इन्द्रियन जीतहीं।
पुत्र सिख लीन तन जौं लगि अतीतहीं॥[1]

विधवा का पति तो नहीं रहता पर उसे पति को अपने लिए जीवित समझ कर उसकी इच्छा के प्रतिकूल जो कर्म हों कभी नहीं करने चाहिए—

पति के जीवत निधन हूँ पति अनरूचत काम।
करति न सो जग जस लहति पावति गति अभिराम॥[2]

इन निषेध वाक्यों के अतिरिक्त विधवाओं के लिए कुछ विधिवाक्य भी नीतिकारों ने दिए हैं। उन्हें शाक, मूल, फल आदि ऐसे सादे और सात्विक भोजन करने चाहिए जो पौष्टिक या उत्तेजक न हों। इससे ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में सहायता मिलती है। साथ ही उन्हें अपने मृत पति तथा भगवान का स्मरण भी करना चाहिए।

बिनु पति पति जगपति सुमिरि साक मूल फल षाइ।
विरमचरज व्रत धारि तिय जीवन रतन बनाइ॥[3]

मृत पति के कल्याण या उसकी आत्मा की शान्ति के लिए विधवा को जप तप आदि भी करना चाहिए।

जीवत पति सासन गहै सेवहि ताहि सप्रेम।
गएं सती व्रत अनुसरैं पति हित जप तप नेम॥[4]

वृहत्संहिता तथा स्कन्द पुराण आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि पति यदि पापी हो और उसकी पत्नी पतिव्रत धर्म के नियम से रहे तथा पति की मृत्यूपरान्त भी शुद्ध जीवन बिताते हुए उसके कल्याण की कामना करे तो उसके सारे पाप कट जाते हैं।[5] सम्भवतः इसी आधार पर उपर्युक्त विधान है।

विधवाओं के आचार-विचार-विषयक नियम सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ही बनाए गए हैं। इस प्रकार रहने पर उनके पथ-भ्रष्ट होने तथा दूसरों को पथ-भ्रष्ट

---

१ **रामचन्द्रिका**।
२ **रत्नावली दोहा०**, २५।
३ **वही**, ४२।
४ **वही**, ५२।
५ **प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान**, पृ० २०-३०।

करने का भय नहीं रहेगा। नहीं तो यों उनका विचलित हो जाना स्वाभाविक ही है। घाघ ने कहा है—

रॉड़ मेहरिया अनाथ भँसा।
जब बिचलै तब होवें कँसा।[1]

सती—विधवा के लिए सती हो जाना तो पवित्र जीवन बिताने से भी अधिक फलप्रद कहा गया है। इससे उस स्त्री और उसके पति दोनों ही का कल्याण होता है। स्कन्द पुराण के अनुसार तो जो नारी अपने मृत पति के साथ सती होने के लिए श्मशान की ओर जाती है वह पद-पद पर अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त करती है।[2] हिन्दी नीति काव्य में इस विषय मे बहुत कम लिखा गया है। रत्नावली कहती है—

धनि तिय सो रत्नावली पति संग दाहै देह।
जौं लौं पति जीवत जियै मरत मरे पति नेह॥[3]

सचमुच पातिव्रत धर्म तथा प्रेम की यह सीमा है कि जब तक पति जीवित रहे पत्नी जिए और उसके मरते ही अपना जीवन भी समाप्त कर दे। जमाल[4] आदि मुसलमान कवियों ने भी इसकी प्रशंसा की है। परम्परागत धर्म की दृष्टि से सती हो जाने को जो भी महत्व दिया जाय पर यों यह अमानुषिक है और इसे उचित नहीं कहा जा सकता।

विधवा-विवाह—मनु ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध में कहीं स्पष्ट तो विधि-निषेध रूप में नहीं लिखा है, पर कुछ निन्दात्मक बातें अवश्य कहीं हैं। यों एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि निःसन्तान विधवा किसी अन्य (सगोत्र) से सम्भोग (नियोग) कर एक सन्तान उत्पन्न कर सकती है।[5] अन्यत्र उन्होंने कहा है कि एक सन्तान सन्तान नहीं है। विधवा स्त्री एक और सन्तान उत्पन्न कर सकती है।[6] हिन्दी नीति काव्य में प्राचीन सभी कवियों ने इसका विरोध किया है। रत्नावली कहती हैं—

एक हु जगदाधार तिमि एकु हि तिय भरतार।[7]

---

१ घाघ, ३२।

२ अनु व्रजंती भर्तारं गृहात् पितृवनं मुदा।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्।
—प्रा० भा० संस्कृति में नारी का स्थान, पृ० ८८ पर उद्धृत।

३ रत्नावली दो०, ५३।

४ जमला ऐसी प्रीति करि जैसी हिन्दू जोय।
पूत पराये कारणें जल बल कोयला होय॥ जमाल दो०, ३२।

५ मनु०, ६, ६५-६६।

६ मनु०, ६।६१।

७ रत्नावली दो०, १६०।

बालकुन्द गुप्त ने भी इसका विरोध किया है—

भला हम विधवा माँ का ब्याह करें।[1]

पर भारतेन्दु ने विधवा-विवाह का कारण दिखलाते हुए समर्थन किया है।

रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाए।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो॥[2]

आधुनिक युग के अन्य बहुत से, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक तथा हरिऔध आदि, कवियों ने भी इसका समर्थन किया है। हरिऔध व्यंगात्मक शैली में कहते हैं—

मर्द चाहें माल चाबा ही करें, औरतें पीती रहेंगी मांड ही।
क्यों न रंडुए ब्याह कर लें बीसियों, पर रहेंगी रांड सब दिन रांड ही॥[3]

नीति-काव्य में अधिकतर बातें जब सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ही कहीं गई हैं तो निश्चय ही विधवा-विवाह का भी निषेध नहीं होना चाहिए। भारतेन्दु ने ठीक ही कहा है कि इस निषेध से व्यभिचार बढ़ता है।[4]

रक्षा—हमारे शास्त्रकारों तथा धर्माध्यक्षों को नारी का व्यक्तित्व बड़ा ही क्षीण और अस्थिर सा लगता रहा है, इसी कारण नारी के लिए सर्वदा किसी के अधीन रहने का विधान किया गया है। मनु का वह श्लोक प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने शैशव में पिता के, यौवन में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहने का नारी के लिए विधान किया है।[5] यहाँ बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहने का अर्थ शायद यह है कि वृद्धा को विधवा होने पर या पति के न रहने पर पुत्र के अधीन रहना चाहिए क्योंकि यदि स्त्री सधवा है या पति पास है तो पति के जीते उसे किसी और (पुत्रादि) के अधिकार में जाने की भला क्या आवश्यकता? इस प्रकार विधवा को अपनी एवं अपने आचरण की रक्षा के लिए पुत्र के अधीन रहना चाहिए। रत्नावली ने कहा है—

बिनु पति सुत आधीन रहि पतित होति स्वाधीन।[6]

---

१ स्फुट कविता, विधवा विवाह।

२ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ७६।

३ चुभते चौपदे, पृ० १६१।

४ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ७६।

५ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थावरे पुत्रान स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥ —मनु०, ६. ३।

६ रत्नावली दोहा० ३७।

(ख) सन्तान—

सन्तान के सन्दर्भ में गृहिणी को माता की संज्ञा दी गई है। स्त्रियों के व्यक्तित्व का मातृपक्ष कुछ दृष्टियों से सबसे अधिक महत्वपूर्ण, सबल तथा सुन्दर है। प्राचीन भारत में स्त्रियों के अत्यधिक आदर का प्रधान कारण यही था।[1] यही नहीं जो स्त्री जितने अधिक पुत्रों की माता होती थी उसका महत्व उतना ही अधिक था। ऋग्वेद में इन्द्राणी ने मनुसुता परशु की एक बार में २० सन्तान पैदा करने के लिए बड़ी प्रशंसा की है।[2] प्राचीन साहित्य में स्त्री का पर्याय क्षेत्र (खेत) मिलता है यह भी उसके और्वर्य की ओर ही संकेत करता है। वैदिक और लौकिक संस्कृत के पूरे साहित्य में सन्तानवती नारी या माता की बड़ी प्रशंसा की गई है।

नारी के लिए पुत्रवती या सन्तानवती होना आवश्यक माना गया है। असन्तानवती या वन्ध्या स्त्रियाँ घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं और किसी शुभ कार्य में उनका आना या सामने पड़ना अच्छा नहीं माना जाता। इस प्रकार नारी का माता न बनना अशुभ है। अन्य गुणों के साथ पुत्रिणी नारी दुर्लभ कही गई है। रामचरित उपाध्याय लिखते हैं—

पतिबरता अरु पुत्रिणी पाक प्रवीन पवित्र।
रूपवती पण्डित तिया दुरलभ रामचरित्र ॥[3]

माता की महिमा कई कारणों से है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वही किसी जाति या राष्ट्र को जीवित रखने वाली है। उसी के आधार पर पीढ़ी के बाद पीढ़ी आती है। इस प्रकार विश्व की सारी उन्नति, उसकी सारी आशाएँ योग्य माताओं पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, माता का व्यक्तित्व बहुत ही महान् है। वह प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, करुणा, सौहार्द्र, ममता तथा उत्सर्ग आदि की प्रतिमूर्ति है। हरिऔध ने अपनी "दिव्य दोहावली" में माता की महिमा और गरिमा के सम्बन्ध में दो दोहे कहे हैं जो इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं —

उसकी महिमा कथन में मति होती है मौन।
जग में जीवनदायिनी माता सम है कौन ॥
उसका जीवन स्नेह परिपूरित चित है धन्य।
माता सी त्राता न है अवनीतल में अन्य ॥[4]

---

1 The mother outlived the wife. The latter reached the climax of her power and importance when she become a mother.
(*Women in Rigveda*, पृ० १४४)

२ वही, पृ० १४४।

३ ब्रज सत०, पृ० ३६।

४ दिव्य दोहा०, पृ० ९३।

इसके अतिरिक्त माता का महत्व एक और कारण से भी है, जैसा कि कहा भी गया है। उसका सम्बन्ध संसार के सभी सम्बन्धों का मूल है।

चित्त समादर सहित है करता सदा कबूल।
माता नाता है सकल नाताओं का मूल ॥[1]

इस प्रकार माता होना किसी स्त्री के लिए बड़े सौभाग्य तथा गर्व का विषय है। कुछ स्त्रियाँ इसी लालच से अपने पति से अपने को पुत्रवती होते न देख साधु और सन्तों का आश्रय ग्रहण करती हैं। नीति साहित्य में इस बात की निन्दा की गई है। रत्नावली कहती है—

जो तिय संतति लोभ बस करति अपर नर भोग।
रत्नावलि नरकहिं परति जग निदरत सब लोग ॥[2]

यहाँ एक और बात भी विचारणीय है। माता केवल माता होने के कारण ही महत्वशालिनी नहीं होती। उसके पुत्र या पुत्रों या सन्तान का योग्य होना भी आवश्यक है। यह योग्यता कई प्रकार की हो सकती है। वैदिक काल में उन माताओं का विशेष आदर होता था जिनकी सन्तान बलिष्ट, वीर्यशाली तथा रणबाँकुरी होती थी। इसका कारण यह था कि उस समय युद्ध आए दिन होते थे और इस प्रकार बल वीर्य का विशेष महत्व था। कबीर आदि सन्त कवियों की दृष्टि में बल वीर्य वाला पुत्र विशेष महत्व नहीं रखता। वे तो भक्त पुत्र का ही अधिक महत्व मानते हैं। इसी कारण सन्त कवियों ने नारी की निन्दा करते हुए भी उन माताओं का गुणगान किया है, जिनकी कोख में में ज्ञानी, भक्त या वैष्णव पुत्र का जन्म होता है, पर दूसरी ओर उन माताओं को धिक्कार है, जो अभक्त या शाक्त पुत्र को जन्म देती हैं। कबीर कहते है—

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान बिचारी।
ताकी विधवा काहे न गई महतारी ॥[3]

कबीर फिर कहते हैं—

कबीर धनि ते सुन्दरी जिनि जाया वैसनों पूत।[4]

तुलसी का भी लगभग यही स्वर है. जब वे उस माता के नाश होने की कामना करते हैं जो पुत्र के भक्ति पथ में बाधक हो—

---

१ विश्व दोहा०, पृ० ९३।
२ रत्नावली दोहा०, ६०।
३ आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, पृ० ८ पर उद्धृत।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५३।

जरउ सुं सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ ।।[१]

आधुनिक युग में माता के महत्व की यह भावना परिवर्तित हो गई । प्राचीन भावना भक्ति काव्य के अनुकूल थी । इधर परतन्त्र भारत में जब चेतना आने लगी तो देश में भक्ति के स्थान पर वीरता का सचार होने लगा ।

भारतेन्दु ने सच्ची स्वामिनी की परिभाषा दी है—

वीर प्रसविनी बुध बधू का होय दीनता खोय ।[२]

वीर सतसई में वियोगी हरि उस माता की प्रशंसा करते हैं जो—

पाठु पढ़ावति मातु नित लै उछंग निज लाल ।
ललन वीर व्रत धारियो धरि पछारियौ काल ।।[३]

इस प्रकार हिन्दी नीति साहित्य में मिलने वाले ये दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, जिनसे माता के महत्व को आंका गया है । रत्नावली ने उन सारी बातों में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा है कि वही माता धन्य है जिसने सपूत पैदा किया । सौ पुत्र पैदा करने वाली माँ से तो बाझ अच्छी है यदि वे पुत्र कुपुत्र है—

रतन बांझ रहिबो भलौ भले न सौउ कपूत ।
बांझ रहै तिय एक दुष पाइ कपूत अपूत ।।[४]

माता का पुत्र पर अतुलित प्रेम होता है । वह अपने अंधे, लँगड़े या बीमार पुत्र का भी परित्याग नही करती—

अन्ध-पगु रोगी बधिर सुतहि न त्यागति माय ।[५]

इसी कारण कहा जाता है कि मनुष्य संसार में सब के ऋण से उऋण हो जाय पर माता से नहीं हो सकता । उस पर माता के आभार की सीमा नहीं ।

रतन जनक धन ऋन उऋन बहु जग जन गन होइ ।
पै जननी ऋण सों उऋन होइ बिरलजन कोइ ।।[६]

संस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है कि पुत्र कुपुत्र हो जाय पर माता कुमाता नहीं हो सकती ।[७] आशय यह है कि पुत्र अयोग्य सिद्ध होकर भले ही माँ के

---

१. तुलसी दोहा०, १३६ ।
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना, पृ० १२ पर उद्धृत ।
३. वीर सत०, पृ० २६ ।
४. रत्नावली दो०, १८५ ।
५. वही, १३३ ।
६. वही, १८६ ।
७. कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति । —शंकराचार्य ।

प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे पर उसकी माता उसके प्रति कुमाता होकर अपने कर्तव्य नहीं भूल सकती। नारी के माता के रूप की यही महानता है।

कर्तव्य—माता का सबसे बड़ा कर्तव्य सन्तान का उचित ढंग से पालन-पोषण करना है। बच्चे गीली मिट्टी हैं। उन्हें जैसा भी हम बनाना चाहे सरलता से बना सकते हैं। इसी कारण बचपन की आदतें और संस्कार मृत्यु-पर्यन्त साथ रहते है।

वारेपन सो मातु पितु जैसी डारति बानि।
सो न छुटाए पुनि छुटत रतन भयेहु सयानि।।[1]

इसी कारण माता का उत्तरदायित्व बहुत अधिक है। वही शिशु या बालक के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे रहती है। उसे शिशु का लालन-पालन इस ढंग से करना चाहिए कि वह अवगुणी न बन जाय।

बालहि लालहु अस रतन सो न औगुनी होय।[2]

सच्चा लालन-पालन वही है, जिससे बच्चा दिनोंदिन अधिकाधिक गुण ग्रहण करता रहे—

दिन दिन गुन गुरुता गहै साँचो लालन सोइ।[3]

रत्नावली ने ठीक ही कहा है कि माता को अपनी सन्तान को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि लोग देखकर सराहना करें।

बालहि सीष सिषाय अस लषि लषि लोग सिहाँय।
आसिष दें हरषे रतन नेह करें पुलकाँय॥[4]

इसके विरुद्ध जो माताएँ अपनी सन्तान को इस प्रकार की शिक्षा नहीं देतीं वे उसकी शत्रु है।

जनक शत्रु जननी अरिहि जे न सिखायो बाल।
अस सन्तति नहिं सोहहीं काग ज्यों मध्य मराल॥[5]

टोना-टोटका—कुछ माताएँ अपने बच्चों के स्वास्थ्य आदि के लिए टोने टोटके का सहारा लेती हैं। टोने-टोटके की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। अथर्ववेद में भी इस तरह की बहुत सी चीजें मिलती है। अब सभ्य लोगों में तो इसका प्रचार नहीं है पर अशिक्षित तथा ग्रामीणों में अब भी इसका बोलबाला है। हिन्दी नीति-काव्य में इसका विरोध किया गया है।

---

१ रत्नावली दो०, १३८।
२ वही, १८७।
३ रत्नावली दोहा०, १८७।
४ रत्नावली दोहा०, १८८।
५ नीति छन्द०।

जादू टोना है लग्यो जानहिं मूरख नारि।
बालक ले के नीच से कहैं दीजिये झारि॥
कहैं दीजिए झारि देइ सो मुख से फूंका।
होवै भ्रष्टाचार पड़ै मुख ऊपर थूका॥
दीन कहै तब अधिक सुखी हो बालक लोना।
जब माता गुणवती न मानै जादू टोना॥[1]

(ग) अन्य परिचित—

ससुराल या अपने घर में पति तथा सन्तान के अतिरिक्त और भी बहुत से लोगों के सम्पर्क में स्त्री को आना पड़ता है। इन लोगों में ससुर, सास, ननद, जेठ, जेठानी, देवर, देवरानी, सखी, पड़ोसी, सौत तथा नौकर आदि प्रधान हैं। इन लोगों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है प्रथम वर्ग अपने बड़ों या गुरुजनों का है। इसमें ससुर-सास, जेठ तथा जेठानी आदि हैं। दूसरा वर्ग प्रायः अपने बराबर के लोगों का है। इसमें ननद, सखी, पड़ोसी, तथा सौत आदि हैं। तीसरा वर्ग अपने से छोटों का है। इसमें देवर, देवरानी, नौकर तथा नौकरानी आदि हैं।

(क) बड़े—बड़ों के प्रति स्त्री को श्रद्धाभाव रखना चाहिये। बड़ों में नीति काव्य में ससुर, सास, और जेठानी इन तीन ही का प्रायः नाम मिलता है। ससुर तो स्पष्टतः पिता के समान है। सास और जेठानी माता के समान है। रत्नावली ने कहा है–

सासु जिठानी जननि सम।[2]

इन तीनों में भी सास और ससुर का स्थान तो और भी ऊँचा है। तुलसी ने तो लिखा है कि स्त्री के लिए सास और ससुर की सादर पद पूजा से बड़ा कोई धर्म नहीं है—

एहि तें अधिक धरमु नहिं दूजा।
सादर सास ससुर पद पूजा॥[3]

रत्नावली ने भी कहा है कि कुलीन स्त्री के लिए सास, ससुर तथा पति के चरण ही तीर्थ और चारों धाम हैं। इनकी सेवा से लोक और परलोक दोनों बनता है–

सास ससुर पति पद रतन कुल तिय तीरथ धाम।
सेवइ तिय जग जस लहै पुनि पति लोक ललाम॥[4]

---

१ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४८।
२ रत्नावली दो०, ७४।
३ मानस, पृ० २७।
४ रत्नावली दो०, १५५।

स्त्री को नित्य प्रति प्रातः इनके चरणों को प्रणाम करना चाहिए।[1] उसे इनकी आज्ञाओं का आँख मूंद कर पालन करना चाहिए। यदि कभी ये कड़वी बात कहें तो वैद्य की कड़वी दवा की भाँति अपने लिए हितकारी जानकर उसका स्वागत करना चाहिए—

मात पिता सासू ससुर ननद नाथ कटु बैन।
भेषज सम रत्नावली पचत करत तनु चैन॥[2]

(ख) **बराबर**—बराबर के लोगों में ननद, सखी, पड़ोसी तथा सौत आदि प्रमुख हैं। वय आदि के आधार पर इनमें कुछ लोग छोटे-बड़े भी होते है पर प्रायः इन्हें बराबर ही समझा जाता है—

ननद को अपनी बहिन समझना चाहिए।

रत्नावली ने लिखा है—

ननदहि भगिनि समान।[3]

ननद के साथ भी स्नेह-बरताव रखने तथा उसका हित चिन्तन करने का आदेश है।[4] रत्नावली ने ननद के कड़वे वचन को भी वैद्य की कड़वी औषधि की भाँति हितकर बतलाया है।[5]

ननद और भावज का वैमनस्य भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही मिलता है। लोक गीतों में इस प्रकार के बहुत से गीत हैं, जिनमें इस वैमनस्य का चित्रण है। हिन्दी साहित्य में भी इसके यत्र-तत्र चित्र मिल जाते हैं। मीराबाई और ऊदाबाई की बात प्रसिद्ध ही है। इस विरोध का कारण सम्भवतः यह है कि भावज के आने के पूर्व भाई का अतुलित प्रेम बहिन पर रहता है। पर भावज के आने पर वह उधर खिच जाने के कारण कम हो जाता है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप भावज ननद के कोप का भाजन बनती है।

नीति-काव्य मे स्त्री को अपनी ननद को बहन के समान समझने का आदेश देने में घर के वातावरण को व्यवस्थित रखने की ओर ही कदाचित नीतिकारों का ध्यान है।

पड़ोसी स्त्रियों से भी दिन-रात का सम्पर्क रहता है। पड़ोस ही समय-असमय, घटे-बढ़े अपने काम आता है। बहुत से नीतिकारों ने इस सम्बन्ध में स्नेह भाव रखने

---

१ रत्नावली दोहा०, १५४।
२ वही, ६६।
३ वही, ७४।
४ सुधा सरोवर, पृ० ५१।
५ रत्नावली दोहा०, ६६।

तथा आदर करने की बात कही है।[1] पड़ोसी स्त्रियों में ही कुछ मित्र (सखी) भी होती हैं। उनके साथ भी स्त्री को स्नेह भाव रखना चाहिए। सखी या सम्बन्धी से सम्बन्ध रखने के विषय में रत्नावली ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है। कभी भी इन सब से लेन-देन का व्यवहार नहीं रखना चाहिए। ऋण से (पड़ोसी को ऋण देने या उससे लेने से) प्रेम व्यवहार तो समाप्त हो ही जाता है, शत्रुता भी मोल लेनी पड़ती है, इसी कारण नीति-काव्य में इसका विरोध है।

स्वजन सखी से जनि करहु कबहूँ ऋन व्यवहार।
ऋन सों प्रीति प्रतीति तिय रतन होति सब छार॥[2]

सपत्नी या सौत की भी गणना अपने बराबरों में होती है। प्रायः सौतों मे द्वेष-भाव देखा जाता है। यह स्वाभाविक भी है। इसी से नीतिकारों ने कहा है कि अपनी सौत कभी सहेली (अर्थात् प्रीतिभाव रखने वाली) नहीं हो सकती—

चोर को न यार, बटमार को न प्रीति होत।
लाबर न मीति होत, सौत ना सहेलरी॥[3]

तुलसी ने भी कहा है कि सौत अपनी सौत को प्रेम भाव से कभी नही देखती—

सवति सुभाउ सकहि नहिं देखी।[4]

रत्नावली ने कहा है कि भेद-भाव दूर कर अपनी सौत को मित्र या सखी तथा उसके पुत्र को अपना पुत्र समझना चाहिए।

सौतिहि सखि सम व्यवहरौ रतन भेदि करि दूरि।
तासु तनय निज तनय गनि लहौ सुजस सुष भूरि॥[5]

(ग) **छोटे**—स्त्री के लिए अपने से छोटों में सन्तान के अतिरिक्त देवर, देवरानी, नौकर तथा नौकरानी आदि प्रधान हैं। नीति-काव्य में देवर को पुत्र के समान मानने को कहा गया है—

रत्नावलि निज सुत सरिस
देवर करहु प्रमान॥[6]

देवर के भी हित-चिन्तन का आदेश है।[7]

---

१ **सुधा सरोवर, ५१; रत्नावली दोहा०, ६२।**
२ **रत्नावली दो०, १४७।**
३ **भँड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० १६।**
४ **मानस, पृ० २०५।**
५ **रत्नावली दोहा०, १५६।**
६ **वही, ७४।**
७ **वही, १५७।**

नौकरानी तथा नौकर अपने सम्बन्धी न होकर भी सर्वदा समीप रहने के कारण अपने ही के समान हैं। इनके साथ भी अपनों सा ही आदर का व्यवहार रखना चाहिए तथा इन्हें यथावसर नेग आदि देना चाहिए।

रतन इनहिं सादर सदा बरतहु बितरहु बित्त ।।[1]

कवि किंकर ने अपने सुधा सरोवर में ननद, जिठानी, देवरानी तथा पुरबाम आदि की श्रेणी में ही अनुचरी को भी रखा है तथा कहा है कि उसका भला अपना भला है। आशय यह है कि अपने ही भले के समान उसके भले का भी ध्यान रखना चाहिए। पर इसके साथ ही अपने घनिष्ट लोगों की भाँति अनुचर या अनुचरियों के सम्पर्क में सर्वदा नहीं रहना चाहिए। इससे उन पर अपना प्रभाव कम हो जाता है तथा वे भय नहीं मानते। गृहिणी को चाहिए कि इनसे आवश्यकतानुसार ही वार्तालाप करें।

करमचारि जन सों भली जथाकाज बतरानि।
बहु बतानि रतनावली गुनि अकाज की खानि ।।[2]

रत्नावली अधिक दिनो तक पूर्णरूपेण गृहस्थिनी तो नही रह सकी पर तुलसी की भाँति ही उसकी बुद्धि भी बड़ी प्रखर तथा प्रतिभासम्पन्न थी। इसी कारण गृहस्थ जीवन की बहुत छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में भी उसने स्त्रियों को सूचित किया है। नौकरों के विषय में कहते हुए वह कहती है कि स्त्रियों को अपने पति के पुराने कपड़ों को धुला कर रखना चाहिए और उसे यथासमय दास-दासियों को देना चाहिए।

धरि धुवाइ रतनावली निज पिय पाट पुरान।
जथासमय जिन दै करहु करमचारि सनमान ।।[3]

अपरिचित—

स्त्रियों के सम्पर्क में कुछ अपरिचित लोग भी आते है जैसे फेरी वाले, भिखारी तथा साधु इत्यादि। किसी भी नीतिकार कवि ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है पर रत्नावली यह भी नहीं भूल सकी है। पहले तो वह एक सामान्य बात कहती हैं कि अपरिचितों का विश्वास न करो—

अनजाने जन को रतन कबहुँ न करि विश्वास।[4]

फिर कहती हैं कि उनकी दी वस्तु कभी न खाओ और न तो कभी उन्हें अपने घर में ठहराओ ही—

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ५१।
२ रत्नावली दोहा०, १०५।
३ वही, १५८।
४ वही, १५१।

वस्तु न ताकी पाइ कछु देइ न गेह निवास ।[1]

यह बात क्या स्त्री क्या पुरुष सभी के लिए लाख टके की है। पर स्त्रियो ं लिए तो इसका मूल्य और भी अधिक है।

रत्नावली ने अपरिचितों में प्रमुख के सम्बन्ध में अलग भी कहा है। इनमें भिखारी और फेरी लगाने वाले बनिए ये ही दो प्रधान हैं। छोटे मोटे-साधु भी भिखारी के अन्तर्गत ही आते हैं, क्योंकि वे साधु न होकर यथार्थतः भिखारी ही होते हैं। रत्नावली कहती हैं कि इनका कभी विश्वास न करना चाहिए क्योंकि प्रायः इसी रूप में ठग लोग स्त्रियों को ठगते हैं—

बनिक फेरुआ भिच्छुकन जनि कबहूँ पतिआइ।
रतनावलि जेह रूप धरि ठगजन ठगत भ्रमाइ ।।[2]

(ङ) गृहस्थी—

गृहिणी का सम्बन्ध पति, सन्तान तथा नौकर-चाकर के अतिरिक्त अपनी गृहस्थी से भी होता है। पतिव्रता तथा आदर्शमाता होने तथा अन्य गुणों से परिपूर्ण होने पर भी जो गृहिणी अपनी गृहस्थी को ठीक से नहीं सँभालती उसे योग्य नहीं कहा जा सकता। नरहरि ने तो कहा है कि कुलवन्ती स्त्रियों को यह सिखाने की आवश्यकता नहीं—

को सिखवत बुल बधू लाज गृह काज रंग रति।[3]

आशय यह है कि उनमें स्वभावतः या जन्मजात ही घर सँभालने या गृहस्थी के कार्य करने के संस्कार होते है।

गृहस्थी का प्रधान सम्बन्ध भोजन से है। गृहिणी को भोजन बनाने में पटु होना चाहिए। रत्नावली कहती है कि अच्छी स्त्री वही है जो सूप कर्म में रत्न हो अर्थात् भोजन बहुत अच्छा बनाती हो—

सूप करम आचार कुल पतिरत रतन सुनारि।[4]

भोजन बनाने में बहुत सफाई रखनी चाहिए। रत्नावली ने लिखा है कि ऐसी स्त्रियों की बड़ाई देवता लोग करते हैं—

तन मन अन भाजन वसन भोजन भवन पुनीत।
जो राषति रतनावली तेहि गावत सुर गीत ।।[5]

---

१ रत्नावली दोहा०, १५१।
२ वही ७५।
३ कविता कौमुदी, पृ० २२७।
४ रत्नावली दोहा०, ७१।
५ वही, ७०।

इन दो बातों के अतिरिक्त भोजन के विषय में नीति-काव्य में यह भी मिलता है कि उसे गुप्त रखना चाहिए।[1] लोगों को विश्वास है कि सबके सामने या सब को दिखाकर खाया गया भोजन शरीर में नही लगता।

भोजन के अतिरिक्त घर, बरतन, कपड़े तथा अन्न आदि की सफाई का भी गृहस्थी में बहुत बड़ा स्थान है। उपर्युक्त उद्धृत दोहे में रतनावली ने तन तथा भोजन आदि के अतिरिक्त अन्न, बर्तन, वस्त्र तथा घर आदि के विषय में भी कहा है। इसी सन्दर्भ में रत्नावली ने यह भी कहा है कि स्त्री को घर की सारी वस्तुओं को ठीक से सुधार कर या सजाकर रखना चाहिए।[2]

पति कमाता है पर गृहस्थी चलाना स्त्रियों का काम है। उन्हें मितव्ययता के साथ अपनी गृहस्थी चलानी चाहिए तथा भविष्य के लिए भी धन रखना चाहिए। रतनावली ने अच्छी स्त्रियों के लक्षण बतलाते हुए कहा है—

धन जोरति मितव्यय धरति।[3]

मनु ने स्त्री के व्यय सम्बन्धी विचारों को या अभ्यासों को बड़ा महत्व दिया है। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि स्त्री अधिक खर्चीली हो तो पति को उसके जीते दूसरा ब्याह कर लेना चाहिए।[4]

गृहस्थी से ही सम्बन्धित कुछ और फुटकर बातें भी रतनावली में मिलती है। गृहिणी को आलस्य छोड़कर ठीक समय पर काम करना चाहिए तथा आज का काम अभी कर डालना चाहिए।

आलस तजि रतनावली जथा समय करि काज।
अबको करिबो अबहिं करि तबहिं पुरै सुष साज॥[5]

उसे प्रातः सबसे पहले उठकर घर के काम करना चाहिए तथा रात में सबको सुलाकर घर की वस्तुओं को उचित ढंग से रखकर ही सोना चाहिए।

रतनावलि सबसों प्रथम जगि उठि करि गृह काज।
सबन सुवाइहि सोइ तिय धरि सम्हारि गृह काज॥[6]

गृहिणियों को पति की आवश्यकता की चीजों को बहुत सँभाल कर रखना

---

१ रत्नावली दोहा०, १४३।
२ वही, ७१।
३ वही, ७१।
४ मनु ९।७९।
५ रत्नावली दोहा०, १०१।
६ वही, १०२।

चाहिए तथा जब आवश्यकता हो आलस्य और गर्व छोड़कर तुरत देना चाहिए। यह न करने के कारण बहुत से पति-पत्नियों मे कलह मचा रहता है। रतनावली ने लिखा है—

पति बरतत जेहि वस्तु नित तेहि धरि रतन सँभारि।
समय समय नित दै पियहिं आलस मदहि बिसारि॥[1]

रात में कभी-कभी प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। स्त्रियाँ प्रायः ऐसे समय में किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर इधर-उधर दियासलाई आदि ढूंढ़ने लगती हैं। रतनावली के समय में दियासलाई नहीं थी। लोग चकमक पत्थर तथा रुई आदि से आग पैदा करते थे। उसने गृहिणियों से कहा है—

अगिनि तूल चकमक दिया निमि महँ धरहु सँभारि।
रतनावलि जनु का समय काज परै लेउ बारि॥[2]

इन सारे गुणों के अतिरिक्त गृहिणी का अवस्था में कुछ बड़ा (अर्थात् सभी बातों के समझने योग्य) होना भी आवश्यक है। कम अवस्था की वधू गृहस्थी के उत्तरदायित्वों को पूर्ण रूप में नहीं सँभाल सकती। इसीलिए घाघ ने कहा है—

बाछा बैल बहुरिया जोय।
ना घर रहै न खेती होय॥[3]

परकीया—

परकीया ऐसी स्त्रियों को कहते है जो अपने पति से इतर पुरुष से सम्पर्क रखती है। इन्हें छिनार या व्यभिचारिणी आदि भी कहा गया है। पीछे कुलक्षणी पर विचार करते समय इस सम्बन्ध में कुछ कहा जा चुका है। नीति-काव्य में ऐसी नारी को अत्यन्त गर्हित कहा गया है। इसकी निन्दा सर्वदा से होती आई है पर ऐसा लगता है कि सभी युगों में इसका प्रचार था। ग्वाल ने लिखा है—

जाहू पाप इन्द्र की सहस्र भग देह भई
जाई पाप चन्द्रमा कलङ्की आन छायो है।
जाई पाप मिटिगे बराती शिशुपाल जू के
जाही पाप हाथ धर भसम जरायो है।
जाई पाप बाली बनमाली मोरि तासो हुते
जाई पाप कीचक कूं कीच ठहरायो है।

१ रत्नावली दोहा०, १९६।
२ वही, १०३।
३ घाघ, ३३।

जाई पाप रावण कौ मारि लंक छारि करी
सोई पाप लोगन खिलौना करि पायो है ।[1]

इस पाप में प्रवृत्त स्त्रियों से स्त्रियों और पुरुषों दोनों ही के लिए दूर रहना उचित है । ये कालिख का घर कही गई है अर्थात् इनसे सम्पर्क मात्र रखने से भी बदनाम हुए बिना कोई नहीं रह सकता । इसीलिए रत्नावली ने ऐसी भ्रष्ट स्त्री से क्या मैत्री और क्या शत्रुता सम्पर्क मात्र को बुरा कहा है—

कबहूँ नारि उतार सों करिय न बैर सनेह ।
दोऊ बिधि रतनावली करत कलंकित एह ।।[2]

वेश्या —

जब नीति के कवियों ने सामान्यतः नारी को ही प्रायः बुरा कहा है तो वेश्या तो उसका स्वयं ही विकृत रूप है, अत. स्वभावतः इसकी नीति-काव्य में बहुत भर्त्सना की गई है । ग्वाल कहते हैं :

काया सों काम जात, गांठ हूँ सों दाम जात,
मित्रन सों प्रीत जात, रूप जात अंग तें ।
उत्तम करम जात, कुल के धरम जात,
गुरु की सरम जात निज चित भंग तें ।
राग-रंग-रीति जात, ईश्वर सों प्रीत जात,
सज्जन प्रतीत जात मदन उमंग तें ।
सुर पुर वास जात, भक्ति को निवास जात,
पुण्यन को नास जात गनिका प्रसंग तें ।[3]

वेश्या के प्रेम तथा उसके रसपूर्ण व्यवहार को ऊपरी कहा गया है । साथ ही वह अस्थायी भी है । टोडरमल कहते हैं—

बेस्या रस रीति जैसे फल बिन तरु जैसे ।[4]

अर्थात् व्यर्थ है ।

वेश्या का वेश्यागामी के प्रति पहले तो बहुत (ऊपरी) प्रेम रहता है, पर जब वह निर्धन हो जाता है तो प्रेम समाप्त हो जाता है । बाँकीदास कहते हैं—

१ ग्वाल रत्नावली, पृ० ८० ।
२ रत्नावली दोहा०, ९१ ।
३ ग्वाल रत्नावली, पृ० ८० ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २३७ ।

पातरवाली प्रीत मीठी लागे प्रथम मन ।
मंद हुआ धन मीत हुवे विरस कड़वी हुवे ।।[1]

यथार्थतः पैसे लेने के लिए ही वह यह प्रेम दिखलाती है ।[2]

लज्जा को नारी का भूषण कहा गया है । नीति का एक छन्द है—

कुल तिय मंडन लाज वचन मंडन प्रसन्न मुख ।
मति मंडन कवि कर्म साधु मंडन समाधि सुख ।।[3]

पर इसके विरुद्ध निर्लज्जता ही वेश्या के लिए उचित कही है । लजाने वाली वेश्या दुःखद कही गई है—

पति मूरख बेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र ।
सूम स्वामि सेवक बधिर सुखद न राम चरित्र ।।[4]

वेश्या के लिए सौन्दर्य तथा शारीरिक स्वच्छता का बहुत महत्व है, इसीलिए घाघ ने कहा है—

बनिय क सखरज ठकुर क हीन ।
बैद क पूत व्याधि नहिं चीन ।
पंडित चुप चुप बेस्वा मइल ।
कहें घाघ पाँचों घर गहल ।।[5]

तथा

आलस नींद किसानै नासै ।
चौरै नासै खाँसी ।
अँखिया लीबर बेसवै नासै ।
बाबे नासै दासी ।।[6]

निर्लज्जता, स्वच्छता तथा सौन्दर्य के साथ ही वेश्या का अवस्था में कम होना भी अच्छा कहा गया है । इसीलिए वेश्याएँ अपनी अवस्था कम बतलाती हैं—

वेस्या बरस घटावही जोगी बरस बढ़ाय ।[7]

---

१ बांकीदास ग्रन्थ०, भाग २, पृ० ४ ।
२ बार बधू ही हरण बित नेह जणावे नैण । —बांकीदास ग्रन्थ०, भाग १, पृ० ६५ ।
३ सभा विलास, पृ० ६८ ।
४ ब्रज सतसई०, पृ० ३६ ।
५ घाघ, २६ ।
६ वही, ४१ ।
७ सभा विलास, पृ० ६ ।

वेश्याएँ ठगने में बहुत प्रवीण होती हैं।

गनिका कुटिल कटाक्ष खल केहि न ठगत सहास।[1]

इसीलिए रामचरित उपाध्याय ने उन्हें धूर्तता सम्बन्धित कलाओं का पण्डित माना है—

ह्वै निलज्ज मन मोहिबो मूखा नेह धन लेन।
बिनु गनिका कोऊ इन्हें अपर सिखाइ सके न॥

वेश्या के सम्बन्ध में नीति-काव्य में कही गई बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि नीति के कवियों ने वेश्याओं को अनेकानेक दुर्गुणों का घर माना है तथा उनसे दूर रहने का आदेश दिया है। साथ ही उनके कथन से यह भी ध्वनि निकलती है कि इस वृत्ति का जितना ही जल्दी उन्मूलन हो सके उतना ही अच्छा है।

(ङ) स्वास्थ्य—

शरीर ही हमारे सभी कर्मों का आधार है। यद्यपि सन्त कवियों ने शरीर को नश्वर तथा पाप का घर माना है और इसीलिए उसकी सेवा की बड़ी निन्दा की है[2] पर बिना इसके धर्म भी तो नहीं किया जा सकता। संस्कृत की लोकोक्ति है—

शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्

दुलारेलाल भार्गव भी कहते है—

सबै सुखन को सोत, सतत निरोग शरीर है।
जगत जलधि को पोत, परमारथ पथ रथ यहै॥[3]

अतः जब बिना उचित स्वास्थ्य के मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता तो निश्चय ही उसका पहला कर्तव्य यह है कि वह शरीर को स्वस्थ रखे। हिन्दी नीति-काव्य में भी इस बात का अनुभव किया गया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

शरीर ही से पुरुषार्थ चार।
शरीर की है महिमा अपार॥
शरीर रक्षा पर ध्यान दीजै।
शरीर सेवा सब छोड़ कीजै॥[4]

स्वास्थ्य विज्ञान मूलतः वैद्यक या चिकित्सा शास्त्र के अन्तर्गत आता है, इसी

---

१ कन्हैयालाल पोद्दार, क० कौ०, भाग २, पृ० २६१।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २२. १६; सहजो बाई, पृ० १८. ७; सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ७२०. ७. ८। दे० पीछे 'धर्म और आचार नीति' अध्याय में "शरीर" शीर्षक।

३ दुलारे दो०, ३५।

४ द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४१४।

कारण हिन्दी नीति-काव्य में इसके सांगोपांग और व्यवस्थित विवेचन की आशा नहीं की जा सकती। इसमें स्वास्थ्य-विषयक कुछ प्रधान बातें ही चलते ढङ्ग से कह दी गई हैं।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सब से आवश्यक यह है कि मनुष्य संयम से रहे, अर्थात् जिस समय जो (शयन, भोजन, पान, व्यायाम, विश्राम, स्नान तथा सम्भोग आदि) जिस मात्रा में करना उचित हो करे। छत्रसाल ने कहा है—

संयम सी न औषधि, न विद्या सो अटूट धन,
नेह सो न बन्धु औ दया सो पुन्य कौन सो ॥[1]

संयम विषयक कुछ बातों के सम्बन्ध में निश्चित निर्देश भी नीति-काव्य में मिलते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। रामचरित उपाध्याय प्रातः कालीन सम्भोग को बहुत ही अस्वास्थ्यकर बतलाते हैं—

मरनो हो तो ठानि लै वहै सुनै यह बात।
कै विष खैयै मीचि दृग के करु विषय प्रभात ॥[2]

घाघ के अनुसार अधिक मात्रा में खाना हानिकर है। जो अपनी भूख से कुछ कम खाते हैं, उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है—

रहै निरोगी जो कम खाय।[3]

दिन का सोना प्रायः बुरा कहा जाता है, पर घाघ कहते हैं कि जेठ में दिन में सोना लाभकर है। जो ऐसा करता है उसे बरसात में होने वाला ज्वर नहीं होता—

जेठ मास जो दिन में सोवै।
ओकर जर असाढ़ में रोवै ॥[4]

घाघ ने ऋतुओं के अनुसार कुछ चीजें खाना या कुछ कार्य करना लाभकर तथा कुछ हानिकर बतलाया है। यहाँ दोनों सूचियाँ देखी जा सकती हैं—

लाभकर—

सावन हर्रे भादों चीत। क्वार मास गुड़ खायउ मीत।
कातिक मूली अगहन तेल। पूस में करै दूध से मेल॥
माघ मास घिउ खींचरि खाय। फागुन उठि के प्रात नहाय।
चैत मास में नीम बेसहनी। बेसाखै में खाय जड़हनी ॥[5]

---

१ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० १२।
२ ब्रज सत०, पृ० ४९।
३ घाघ, ८६।
४ वही, २१। प्रयोग की कसौटी पर यह बात कितनी सच उतरेगी, कहना कठिन है।
५ वही, २१।

हानिकर—

चैतै गुड़ बैसाखै तेल। जेठ क पंथ असाढ़ क बेल।
सावन साग न भादौं दही। क्वार करैला कातिक मही।
अहगन जीरा पूसै धना। माघे मिश्री फागुन चना॥[1]

कुछ खाद्य पदार्थ ऐसे भी होते हैं, जो एक साथ खाने पर हानि पहुँचाते हैं। नीति-काव्य में कुछ इनके निर्देश भी है। घाघ कहते हैं कि अरवी की तरकारी के साथ पूरी खाना प्राण को लेने वाला है—

जाको मारा चाहिए बिन मारै बिन घाव।
वाको यही बताइए घुइयाँ पूरी खाव॥[2]

दही और मूली एक साथ खाना भी अस्वास्थ्यकर है—

मूरी दही न खाइए उपजै तन में पीर।[3]

फल खाने के बाद पानी पीना भी अस्वास्थ्यकर कहा गया है।

पानी पीउ न फल मुल खाय।[4]

भोजन ताजा करना चाहिए। बासी भोजन अस्वास्थ्यकर तथा बुद्धि-नाशक है।

घग्घा उनकी बुद्धि बिनासै, खाँय जो रोटी बासी।[5]

खाने के बाद पेशाब करना और फिर कुछ देर बाएँ करवट लेटना आवश्यक कहा गया है। घाघ लिखते है—

खाइ कै मूतै सूतै बाउँ। काहै के वैद बसावै गाउँ।[6]

खाने की भाँति पानी पीने के बारे में भी विधि-निषेध हैं।

गुरु कीजै जान कर। पानी पीजै छान कर।

प्रसिद्ध कहावत है। घाघ के अनुसार सबेरे उठते ही पानी पीना बड़ा लाभकर है।

प्रातःकाल खटिया ते उठि के पिअह तुरन्तै पानी।
कबहूँ घर में बैद न अइहैं बात घाघ कै जानी॥[7]

---

१ घाघ, २०।
२ वही, ८०।
३ नीति छन्द०।
४ वही।
५ घाघ, ३६।
६ वही, ८५।
७ घाघ, ८७।

स्वास्थ्य के लिए सांस की गति के आधार पर काम करने के भी संकेत हिन्दी नीति साहित्य में मिलते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ चरनदास लिखित "ज्ञान स्वरोदय" है। यह पूरी पुस्तक इसी विषय पर है कि नाक के किस पुरवे से सांस आते समय क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

बाईं करवट सोइये जल बाएँ स्वर पीव।
दहिने स्वर भोजन करे तो सुख पावै जीव॥[1]

पर इसके विरुद्ध—

बाएँ स्वर भोजन करै, दहिने पीवै नीर।
दस दिन भूला यों करै, पावै रोग सरीर॥[2]

लघुशंका और शौच के सम्बन्ध में चरनदास कहते है—

दहिने स्वर झाड़ै फिरै बाएँ लघुशंकाय।[3]

इसी प्रकार की और बातें भी इसमें वर्णित है।

ये सब बातें स्वस्थ व्यक्ति को दृष्टि मे रखकर कही गई हैं। अस्वस्थ व्यक्ति के लिए भी नीति काव्य में उचित परामर्श है। रोग चाहे कितना भी छोटा हो उसे छोटा नहीं समझना चाहिए। तुलसी ने लिखा है—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।[4]

आशय यह है कि रोग होते ही, चाहे वह छोटा हो या बडा उसका उचित उपचार होना चाहिए।

चिकित्सक का पुराना होना अच्छा कहा गया है।

नव घृत अरु तरुनी नवल पर वर वैद्य पुरान।[5]

स्वास्थ्य-विषयक कुछ अन्य फुटकर बातें भी नीति-काव्य में कही गई है। जैसे, कमरत करने, नहाने और सोने के विषय में घाघ कहते है—

अंतरे खोंतरे डंडे करै।
तालु नहाय ओस मा परै।
दैव न मारै अपुवइ मरै।[6]

---

१ **कविता कौमुदी**, भाग १, पृ० ४२०।
२ **वही**।
३ **वही**।
४ **तुलसी सूक्ति सुधा**, पृ० ३९१।
५ **नीति छन्द०**।
६ **घाघ**, ५४।

आशय यह है कि कसरत लगातार करनी चाहिए। कभी करने और कभी न करने से स्वास्थ्य का नाश हो जाता है। ताल में नहाना और ओस में सोना भी हानिकर है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्वास्थ्य के विषय में हिन्दी नीति काव्य में सामान्य व्यावहारिक बातों का अच्छा निर्देश किया गया है, और व्यक्ति यदि इनका ध्यान रखे तो उसके अस्वस्थ होने की सम्भावनाएँ कम हो सकती हैं।

(च) खेती—

कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत में खेती जीविकार्थ किए गए सभी कामों में श्रेष्ठ मानी गयी है। लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान॥

दामोदरसहाय सिंह ने अपनी "सुधा सरोवर" पुस्तक के नीति-निचय भाग में इसे अपने शब्दों में कहा है—

उत्तम खेती जानिये मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम भीख कहावत सार॥[1]

साथ ही मनुष्य की सबसे प्रधान समस्या पेट का भी समाधान इसी कारण होता है, अतएव इस दृष्टि से भी इसे सर्वोत्तम मानना अन्यथा नहीं कहा जा सकता।

---

१ सुधा सरोवर पृ० ४०।
पराशर मुनि खेती की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहते हैं—

अवस्त्रत्व निरन्नत्वं कृषितो नैव जायते।
अनातिथ्यञ्च दुःखित्वं दुर्मनो न कदाचन॥

(खेती करने वाले व्यक्ति को अन्न और वस्त्र का कष्ट नहीं होता। अतिथि सेवा में असमर्थता एवं अन्य दुखों से भी उसका मन कभी दुखी नहीं होता।)

सुवर्णं रौप्यमाणिक्य वसनैरपिपूरिताः।
तथापि प्रार्थयन्त्येव कृषकान् भक्त तृष्णया।

(सोना, चाँदी, मणिक और वस्त्र आदि के सम्पन्न लोगों को भी खाद्य पदार्थ की इच्छा से किसानों से ही प्रार्थना करनी पड़ती है।)

अन्नं तु धान्य सम्भूतं धान्यं कृष्या बिना न च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य कृषिं यत्नेन कारयेत्।

(अन्न से भोजन बनता है और वह खेती से उत्पन्न होता है, अतएव दूसरे काम छोड़कर सर्व प्रथम खेती करनी चाहिए।)—ग्राम साहित्य, पृ० ८३-८४।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है—

कृषि कर्म की उत्कर्षता सर्वत्र विश्रुत है सही ।[1]

पर आज भारत में कृषकों को इतना कष्ट है कि यहाँ कृषि कर्म आदर की दृष्टि से नहीं देखा जा रहा है । गुप्त जी ने लिखा है—

पर देख अपने कर्षकों को चित्त में आता यही ।
हा देव क्या जीते हुए आजन्म मरना था उन्हें ।।
भिक्षुक बनाते पर विधे ! कर्षक न करना था उन्हें ।[2]

और उस पुरानी कहावत[3] के स्थान पर—

खेती निधन गवार कर, चतुर चाकरी लोग ।[4]

का प्रचार है । इसका प्रधान कारण यह है कि पढ़े-लिखे लोग इधर नहीं झुक रहे है, अतएव नवीन वैज्ञानिक ढङ्गों का इसमें प्रयोग नहीं हो रहा है ।

हिन्दी नीति-काव्य में खेती और खेतिहारों से सम्बद्ध इन सामान्य बातों के अतिरिक्त कृषि विज्ञान से सम्बन्धित विशिष्ट बातें भी वर्णित हैं । इस दृष्टि से विशेष सम्पन्न घाघ तथा भड्डरी हैं । यों कुछ सामग्री तुलसी तथा दामोदरसहाय सिंह आदि में भी मिल जाती है । यहाँ निम्नांकित प्रधान विषयों पर नीति-काव्य में कही गई प्रमुख बातें दी जा रही हैं—

(१)	किसान	(२)	बैल
(३)	खेत	(४)	खाद
(५)	जोताई	(६)	बीज
(७)	बोआई	(८)	खोंटाई
(९)	सिंचाई	(१०)	निराई
(११)	कटाई	(१२)	वर्षा
(१३)	ओला	(१४)	पाला
(१५)	अकाल और सुकाल		

किसान—खेती या किसानी में बड़े परिश्रम की अपेक्षा होती है, अतएव किसान को बहुत कर्मठ होना चाहिए । घाघ कहते हैं—

---

१ भारत भारती, पृ० ९२ ।

२ वही, पृ० ९२ ।

३ उत्तम खेती मध्यम बान । निकृष्ट चाकरी भीख निदान ।।

४ सुधा सरोवर, पृ० ४० ।

बाढ़ै पूत पिता के धर्मा ।
खेती उपजै अपने कर्मा ।।[1]

खेती अपने ही कर्म से उपजती है । जो किसान बहुत आलसी या बहुत सोने वाला होता है उसकी खेती चौपट हो जाती है ।

आलस नींद किसानै नासै ।[2]

घाघ ने किसानों के तीन भेद किए हैं । एक तो वे हैं जो स्वयं हल चलाते हैं अर्थात् अपने बल पर खेती करते है, दूसरे वे है जो स्वयं कुछ न करके नौकरों से कराते हैं पर स्वयं उनके साथ सदा रहते हैं और तीसरे वे हैं जिनके सारे काम नौकर करते हैं और वे स्वयं कोई दिलचस्पी नहीं लेते । ये क्रम से उत्तम, मध्यम, और अधम हैं—

उत्तम खेती जो हर गहा ।
मध्यम खेती जो संग रहा ।।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ ।
बीज बूड़िगे तिनके तहाँ ।।[3]

घाघ ने अन्यत्र भी कहा है कि सन्देशे से खेती नहीं होती—

परहथ वनिज संदेसे खेती ।
... ...
ये चारो मिलि पीटे छाती ।।[4]

अतएव अपने नौकर-चाकर कितने ही क्यों न हों, स्वयं किए बिना खेती अच्छी नहीं होती—

खेती पाती बीनती और घोड़े की तंग ।
अपने हाथ सँवारिये लाख लोग हों संग ।।[5]

इस प्रकार उत्तम किसान वही है, जो परिश्रमी तथा अपने ही हाथ से खेती करने वाला हो ।

बैल—आज मशीन के युग की बात तो नहीं कही जा सकती पर इसके पूर्व खेती के लिए बैलों का होना अत्यावश्यक था । घाघ ने बिना बैल खेती करने वाले को चौदह पुश्तों का लबार या झूठा कहा है—

---

१ घाघ, ५८ ।
२ वही, ६ ।
३ वही, १ ।
४ वही, ३२ ।
५ वही, १६ ।

बिन बैलन खेती करै बिन भैयन के रार।
बिन मेहरारू घर करै चौदह साख लबार ॥[1]

खेती के लिए जवान बैल अच्छे होते है। कम अवस्था के

बाछा बैल बहुरिया जोय।
ना घर रहै न खेती होय ॥[2]

या

खेत बे पानी बूढ़ा बैल।
सो गृहस्त सांझे गहै गैल ॥[3]

बूढ़े बैल से खेती अच्छी नहीं होती।

खेती के लिए कम से कम दो हलों की आवश्यकता घाघ ने बतलाई है। एक हल से केवल शाक-तरकारी की खेती की जा सकती है अन्न की नहीं। और एक बैल रखकर तो कुछ करना ही व्यर्थ है। उससे अच्छी तो कुदाली कही कई है—

दुइ हर खेती यक हर बारी।
एक बैल से भली कुदारी ॥[4]

चौंकने वाला बैल बहुत बुरा होता है।[5] साथ ही बैल का नाटा (बहुत छोटे कद का), डगमग डोलने वाला, बडी सींग वाला, गादर (चलते समय बैठ जाने वाला गरियार), सुस्त, मरकन (मारने वाला), तरकन (भड़कने वाला), खैर (कत्थई रंग का, यह अशुभ माना जाता है), नासू (जिसकी पसलियाँ बराबर हों, यह भी अशुभ है), कुबड़ा, काले रंग और सात दन्त का उदंत (यह भी अशुभ है) या मसुरिहा (जिसका डील लटका हो, यह भी अशुभ है) आदि होना बुरा कहा गया है।[6] अच्छे कद के बगौधा (पालतू, सीधा) मुड़ी सींग वाले, छोटी सीग और छोटी पूँछ वाले, कजरे (काली आँख के), गुच्छेदार पूंछ के, हिरनमुतान (जिसकी मूत्र-नलिका हिरन की तरह पेट में चिपकी हो), काले, सुनहरे, लाल, मिश्रनी तथा मेवासी नस्ल के या नीले कंधे तथा बैंगनी खुरों के बैल अच्छे होते हैं।[7]

---

१ घाघ, ७५।
२ वही, ३।
३ वही, २६८।
४ वही, ४२।
५ वही, २२।
६ वही, २१७, २१८, २२२, २४४, २६२, २६४ तथा २६५ आदि।
७ वही, २१६, २१६, २२३, २२४, तथा २२७ आदि।

सभी बैल सभी काम के योग्य नहीं होते—

जोतै क पुरबी लादै क दमोय ।
हेंगा क काम दे जो देवहा होय ।।[1]

अर्थात् जोतने के लिए पूर्वी, लादने के लिए दमोय और हेगा के लिए देवहा बैल अच्छे होते है ।

बैलों को स्वस्थ और अधिक दिनों तक पुष्ट रखने के लिए चौरस जमीन जोतना, चराना, बरसात में खाने को भूसा देना, तथा भादों में सूखे घर मे रखना आदि आवश्यक कहा गया है—

समथर जोतै पूत चरावै ।
लगते जेठ भुसौला छावै ।
भादों मास उठै जो गरदा ।
बीस बरस तक जोतो बरदा ।[2]

खेत—खेती का आधार खेत ही है । इसके सम्बन्ध में तुलसी और घाघ ने सक्षेप में विचार किया है ।

तुलसी घर से बहुत दूर के तथा रास्ते पर के खेत को बुरा कहते है ।

पाही खेती लगन बडि ऋण कुब्याज मगु खेत ।[3]

घर से दूर के खेत की ठीक से रक्षा नहीं हो पाती और यदि उसी की रक्षा पर आदमी पूर्णतः मुस्तैद हो तो घर की रक्षा नही हो पाती । इसीलिए उसे बुरा कहा गया है । रास्ते पर का खेत भी बुरा है । आते-जाते आदमियों तथा पशुओं से उसमें बोई गई फसल का रास्ते के समीप का भाग नष्ट हो जाता है ।

खेत के सम्बन्ध में तीन अन्य बातों का ध्यान भी आवश्यक माना गया है । खेत समथल होना चाहिए । इससे जोतने-बोने में सरलता होती है तथा बैल पर बहुत भार नही पड़ता[4] । बहुत छोटे खेत बैल की दृष्टि से अच्छे नही होते । घाघ के शब्दों में बैल कहता है—

ना मोहि नाधो उलिया कुलिया ।[5]

---

१ **घाघ**, २२६ ।
२ **वही**, २२० ।
३ **तुलसी सत०**, ७. ११६ ।
४ **घाघ**, २२० ।
५ **वही**, २२१ ।

साथ ही खेत का ऊँची मेंढ़ तथा अपने पानी को न बहने देने वाला भी होना अत्यावश्यक है। इससे खेत की शक्ति बहकर व्यर्थ नहीं जाने पाती—

खेत बेपनिया बूढ़ा बैल।
सो किसान साँझै गहै गैल ॥[1]

खाद—खाद ही खेती की जान है। बिना उसके खेती व्यर्थ है—

खाद परै तो खेत।
नहीं त कूड़ा रेत ॥[2]

एक कहावत में तो यहाँ तक कहा गया है कि भाग्य का लिखा टल सकता है पर खाद डालना निष्फल नहीं जा सकता।

खादै कूड़ा ना टरै करम लिखा टरि जाय।

खाद कई प्रकार की होती है, जिसमें प्रधान

गोबर, मैला, नीम की खली

गोबर मैला नीम की खली।
याते खेती दूनी फली ॥[3]

खेत में पानी का सड़ना,

गोबर मैला पानी सड़े।
तब खेती में दाना पड़े ॥[4]

चोकर तथा चकवड़ और अड़ूसे की पत्ती,

गोबर चोकर चकवड़ रूसा।
इनके छोड़े होय न भूसा ॥[5]

नील का डंठल,

अब्बर खेत जो जुट्टी खाय।
सड़ै बहुत तो बहुत मोटाय ॥[6]

सनई,

सन के डंठल खेत छिटावै।
तिनके लाभ चौगुना पावै ॥[7]

---

१ घाघ, २६८।
२ वही, ६४।
३ वही, ६५।
४ वही, ६६।
५ वही, ६८।
६ वही, १०७।
७ अज्ञात।

तथा हड्डी का चूर्ण,

वही किसानी में है पूरा।
जो छोड़ै हड्डी का चूरा॥

आदि हैं। खाद ऐसे समय मे डालनी चाहिए जब उसके बह जाने का भय न रहे इसीलिए खाद देने के पूर्व खेत के डाँड को ऊँचा कर लेना उचित है।

जोताई—जोताई का प्रथम गुर यह है कि यह खूब गहरी होनी चाहिए। कहावत है—

जेतना गहिरा जोतै खेत।
बीज परै फल अच्छा देत॥[1]

पर सबके लिए यह बात नहीं है। यदि खेत में धान बोना हो तो गहरा जोतने की कोई आवश्यकता नही—

गहिर न जोतै बोवै धान।
सो घर कोठिला भरै किसान॥[2]

जोतने में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि खेत की घास अच्छी तरह उखड़ जाय।

जोतै खेत घास ना टूटै।
तेकर भाग साँझ ही फूटै॥[3]

जोताई में गहराई के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह बीड़र अर्थात् दूर-दूर न हो।

बिड़रे जोत पुराने बिया।
ताकी खेती छिया बिया॥[4]

कच्चे खेत में अच्छी जोताई भी हानिकर सिद्ध होती है। कच्चे खेत से आशय उस खेत से है जिसका पानी अच्छी तरह सूखा न हो।

कच्चा खेत न जोतै कोई।
नाहीं बीज न अँकुरै कोई॥[5]

चने के खेत को जोतने के बाद हेंगाना नही चाहिए और जोतना भी इस

---

१ घाघ, ४८।
२ वही, ४१।
३ वही, ४०।
४ वही, १०२।
५ वही, ७६।

प्रकार चाहिए कि खेत मे मिट्टी भुरभुरी न हो जाय अपितु ढेले हों, क्योंकि ढेले वाले खेत में ही इसकी पैदावार अच्छी होती है—

जब सेल खटाखट बाजै।
तब चना खूब ही गाजै॥[1]

जोतों की संख्या सभी अन्नों के लिए अलग अलग है। चना के लिए एक-दो जोत पर्याप्त हैं। मटर के लिए कुछ इससे अधिक और जौ के लिए कुछ और अधिक। पर गेहूं के लिए तो खेत को १० से १६ बार तक जोतने की आवश्यकता होती है और ईख के खेत को बीस बार।

दस बाहों का माँड़ा।
बीस बाहों का गाँड़ा॥[2]

ईख के खेत में तो बोने के बाद भी एक प्रकार की जोताई होती है जिसे गोड़ाई कहते हैं। यह गोड़ाई प्रायः १३ बार आवश्यक है—

तीन कियारी तेरह गोंड़।
तब देखौ ऊखी के पीर॥[3]

बीज—बीज के सम्बन्ध में जानने की प्रमुखतः दो बातें है। एक तो यह कि बीज पुराना नहीं होना चाहिए—

बिड़रै जोत पुराने बिया।
ताकी खेती छिया बिया॥[4]

दूसरे प्रत्येक अन्न उचित मात्रा में बोया जाना चाहिए। उससे कम या अधिक बीज डालने पर खेती अच्छी नहीं होती। यहाँ सभी अनाजों के बीज की तोल देनी सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए कुछ की मात्रा दी जा रही है—

जौ गेहूँ बौवे पाँच पसेर।
मटर के बीघा तीसै सेर॥
बौवै चना पसेरी तीन।
तिन सैर बीघा जोन्हरी कीन॥[5]

---

१ घाघ, ३३।
२ वही, ४५।
३ वही, ५२।
४ वही, १०२।
५ वही, ११४।

अर्थात् जौ और गेहूँ के बीज बीघे में पाँच पंसेरी, मटर के छः पंसेरी, चना के तीन पंसेरी और जोन्हरी के तीन सेर बोए जाने चाहिए।

बोआई—बोआई के समय का ध्यान रखना आवश्यक है। देर से बोने से फसल अच्छी नहीं होती—

आगे की खेती आगे आगे।
पाछे की खेती भागे जागे॥[1]

या

अगाई, सो सवाई।[2]

बोने में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि किस स्थिति के खेत में क्या बोया जाय। उदाहरणार्थ किसी जङ्गल के पास यदि बाजरा बो दिया गया, तो फल यह होगा कि जङ्गल से आने वाली चिड़ियाँ सब खा जाँयगी।

आस पास रबी बीच में खरीफ।
नोन मिर्च डाल के खा गया हरीफ॥[3]

बोआई के बारे में दिनों के शुभाशुभ के विचार के सम्बन्ध में भी नीति-काव्य में कुछ बातें कही गई हैं।

बुध बउनी। सुक लउनी।[4]

अर्थात् बुद्ध को बोना और शुक्र को काटना चाहिए।

या

बुद्ध वृहस्पत दो भले, सुक्र न भले बखान।
रवि मंगल बोउनी करै, द्वार न आवै धान॥[5]

दिनों की ही भाँति नक्षत्रों में भी बोने का आदेश या निषेध है। धान के बारे में कहा है—

अद्रा धान पुनर्बसु पैया।
गया किसान जो बौवै चिरैया॥[6]

अर्थात् अद्रा नक्षत्र में धान बोना चाहिए। पुनर्वसु में बोने से पैया (बहुत पतला जो व्यर्थ समझा जाता है) होगा और पुष्य में बोने से बिल्कुल नहीं होगा।

१ घाघ, २६२।
२ वही, ८५।
३ वही, ३१६।
४ वही, १०४।
५ वही, ६०।
६ वही, ७८।

रोगों के लिए भी नक्षत्रों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

चित्रा गोहूँ अद्रा धान।
न उनके गेरुई न इनके घाम ॥[1]

अर्थात् चित्रा में गेहूँ बोने से गेरुई (गेहूँ का एक रोग) नहीं लगती।

घाघ ने यह भी कहा है कि नक्षत्रों का पैदावार की कमी-बेशी पर भी प्रभाव पड़ता है। धान को पूर्वा नक्षत्र में नहीं रोपना (बोने के बाद धान दूसरे खेत में रोपा जाता है। इसके लिए रोपाई वही है जो और अन्नों के लिए बोबाई) चाहिए नहीं तो फसल बहुत खराब होती है—

पुरवा में जिन रोपा भैया।
एक धान में सोरह पैया ॥[2]

इसके अतिरिक्त बोबाई में इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि पिछले वर्ष किस खेत में क्या बोया गया था तथा आगे क्या बोना है। इसका ध्यान न रखने पर फस्ल तो खराब हो ही जाती है, कभी-कभी खेत भी कमजोर हो जाता है। साथ ही ऐसा भी न करना चाहिए कि एक खेत में लगातार कई वर्ष तक एक ही चीज बोते चले जायँ। घाघ ने इस विषय में भी लिखा है। एक उदाहरण देखा जा सकता है—

बोयो गेहूँ काट कपास।
होय न ढेला होय न घास ॥[3]

बोआई में दूर-दूर या समीप-समीप बोने का भी ध्यान रखना चाहिये। जैसे मक्का, बाजरा या ककड़ी आदि दूर-दूर बोए जाने चाहिए पर इसके उलटे ईख तथा सन आदि समीप-समीप बोए जाने चाहिए।[4]

खोंटाई—अन्न एक निश्चित समय पर खोंट देने से खूब बढ़ते हैं। चना के खोंटने के सम्बन्ध में घाघ कहते है—

चना सींच पर जब हो आवै।
ताको पहले तुरत खुटावै ॥[5]

जिन अन्य अनाजों को खोंटने की आवश्यकता होती है उनमें प्रमुख रूप से मटर का नाम लिया जा सकता है।

---

१ घाघ, ७७।

२ वही, ८८। सामान्यतः ये सभी बातें अन्धविश्वास प्रतीत होती है पर किसानों से पूछने पर पता चला कि प्रयोग में ये बातें प्रायः सही उतरती हैं।

३ वही, १०१।

४ वही, ९२-९७।

५ वही, १२०।

सिंचाई—सिंचाई खेती के लिए बहुत आवश्यक है। कहा गया है—

सभी किसानी हेठी।
अगहनिया पानी जेठी ॥[1]

अर्थात् अगहन में सींचना खेती के लिए सबसे अधिक लाभकर होता है। खरीफ की फसल के लिए मनुष्य द्वारा की गई सिंचाई की आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती क्योंकि बरसात का पानी ही उसके लिए पर्याप्त होता है, पर रबी की फसल के लिए सिंचाई आवश्यक है। सिंचाई प्रायः कातिक से लेकर अगहन तक चलती है। अगहन का पानी बहुत ही लाभकर कहा जाता है।

अगहन में सरवा भर।
फिर करवा भर ॥[2]

अर्थात् अगहन में का दिया हुआ एक दिया पानी उतना ही लाभकर है जितना अन्य महीनों में दिया हुआ घड़े भर।

सभी अन्नों को अलग-अलग मात्रा में पानी की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में घाघ ने बहुतों के लिए अलग-अलग निर्देश दिए हैं। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है—

धान पान उखेरा।
तीनों पानी के चेरा ॥[3]

अर्थात् धान, पान और ईख के लिए अधिक पानी अपेक्षित है।

निराई—निराई भी खेती के लिए आवश्यक है। न निराने पर फसल कमजोर हो जाती है, क्योंकि व्यर्थ के पौधे खेत का रस खींच लेते हैं। घास अधिक निकलने का मौसम सावन-भादों है, अतः इन दो महीनों में खेत अवश्य निराना चाहिए—

सावन भादों खेत निरावै।
तब गृहस्थ बहुते सुख पावै ॥[4]

कटाई—कटाई अनाज के प्रायः पक जाने पर आरम्भ होती है। शकुन के विचार से शुक्रवार को कटाई आरम्भ होनी चाहिए—

बुध बउनी। सुक लउनी।[5]

---

१ घाघ, १२०।
२ वही, २७४।
३ वही, १२१।
४ वही, १२४।
५ वही, १०४। कहना न होगा कि यह अन्धविश्वास पर आधारित है।

कटाई के सम्बन्ध मे दो बातों का ध्यान रखा जाता है। एक तो यह कि कौन फसल किस महीने में प्रायः पकती है और दूसरी यह कि कौन फसल पूर्णतः पक जाने पर काटी जाती है और कौन उसके पूर्व ही।

ईख के पकने का समय वसन्त है।

लाग बसन्त। ऊख पकन्त।[1]

धान स्वाति नक्षत्र के सात दिन बीतने पर पक जाता है—

सात सेवाती। धान उपाठ।[2]

या

कन्या धाने मीन जौ। जहाँ चाहै तहाँ लौ।[3]

अर्थात् कन्या राशि में धान और मीन में जौ पक जाते हैं। इसके बाद उन्हें जब इच्छा हो काटा जा सकता है।

प्रायः सभी अन्न पकने पर काटे जाते हैं पर चना अधपका काटा जाता है। गेहूँ के काटने का समय तब आता है जब उसकी बाल लटक जाय।

चना अधपका जौ पका काटै।
गेहूँ बाली लटका काटै॥[4]

मंड़ाई व दंवाई—खलिहान में लाने पर कुछ सूख जाने के बाद गल्ले को बैलों से रौदाया जाता है, यही मँड़ाई या दँवाई है। मँड़ाई के लिए पछुवाँ हवा बड़ी अच्छी होती है। यह खुश्क रहती है और इस कारण अनाज का डण्ठल जल्द टूटता है। पर दूसरी ओर पुरवैया में नमी रहती है अतः डण्ठल टूटने में देर लगती है। कहा जाता है कि पछुवाँ से तीन गुना अधिक समय पुरुवा में दंवाई कराने में लगता है—

दो दिन पछुँवाँ छः पुरुवाई।
गेहूँ जौ को लेव दँवाई॥[5]

या

गेहूँ जौ जब पछुंवाँ पावै।
तब जल्दी से दाया जावै॥[6]

---

१ घाघ, १२४।
२ वही, ३२०।
३ वही, ११०।
४ वही, १४६।
५ वही, १४८।
६ वही, १४५।

ओसाई—ओसाना भी पछुवाँ हवा में ही उत्तम है। घाघ के अनुसार पछुवाँ के ओसाऐ अन्न में घुन नहीं लगता।

पछुवा हवा ओसावै जोई।
घाघ कहें घुन कबहूँ ना होई ॥[1]

वर्षा—खेती के लिए वर्षा आवश्यक है। वर्षा बादल से होती है। बादल के रङ्ग और रूप से वर्षा होने और न होने का अनुमान लगाया जा सकता है। काले रंग का बादल पानी से भरा समझा जाता है पर यथार्थतः वह केवल डरावना होता है। अच्छा पानी भूरे रंग के बादल से बरसता है।

करिया बादर जिउ डरवावै।
भूरे बदरै पानी आवै ॥[2]

यदि बदली आकाश में तीतर के पंख की भाँति लहरदार छाई हो तो पानी अवश्य बरसता है—

तीतर बरनी बादरी रहे गगन पर छाय।
कहै डंक सुन भड्डरी बिनु बरसे ना जाय ॥[3]

इसी प्रकार यदि बादल हवा के उलटे चढ़ते दिखाई दें तो पानी अवश्य बरसता है—

उलटा बादर जो चढ़ै विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहैं सुन भड्डरी यह बरसै बह जाय ॥[4]

इन्द्रधनुष से भी वर्षा का पता चलता है—

साँझे धनुष सकारे मोरा।
ये दोनों पानी के बौरा।[5]

अर्थात् यदि सायकाल इन्द्रधनुष हो और प्रातः मोर बोले तो पानी बहुत बरसेगा।

आकाश भी वर्षा का ज्ञान कराता है—

आभा राता। मेह पाता ॥[6]

अर्थात् आकाश लाल हो तो बर्षा बहुत होगी।

---

१ घाघ, १४६।
२ वही, १६४।
३ वही, ११५।
४ वही, १६।
५ वही, २७।
६ भड्डरी, ६।

हवा थमी हो तो भी वर्षा का होना अवश्यम्भावी माना जाता है—

पवन थक्यो.....

वा दिन बरसे मेह ।।[1]

जानवरों, पक्षियों तथा अन्य चीजों से भी वर्षा का आगम जाना जाता है। कुछ उदाहरण हैं

मट्ठे और मोर से—

बोले मोर महातुरी खाटी होय जु छाछ।
मेह मही पर परन को जानो काछे काछ ।।[2]

अर्थात् मोर जल्दी-जल्दी बोले और मट्ठा खट्टा हो जाय तो पानी का आगम समझना चाहिए—

पानी, चिड़िया और चींटी से—

कलसे पानी गरम हो, चिड़िया न्हावै धूर।
अण्डा ले चीटी चलै तौ वरषा भरपूर ।।[3]

मेढक से—

उतरै जेठ जो बोलै दादुर।
कहै भड्डरी बरसै बादर ।।[4]

इसी प्रकार दिन, नक्षत्र, दिशाओं तथा गर्मी-सर्दी आदि से भी वर्षा का आगम जाना जाता है।

ओला—ओला फसल के लिए बड़ा हानिकर सिद्ध होता है। इसके भी गिरने का समय जाना जा सकता है—

माघ में बादर लाल धरै।
तब जान्यो साँचो पथरा परै ।।[5]

पाला—पाला भी खेती विशेषतः आलू, मटर आदि के लिए बड़ा हानिकर है। इसके गिरने का अनुमान भी कुछ पहले से लगाया जा सकता है—

जै दिन भादों बहै पछार।
तै दिन पूस में पड़ै तुसार ।।[6]

---

१ भड्डरी, ११६।
२ वही, १२१।
३ वही, १२।
४ वही, ६६।
५ घाघ, १६२।
६ वही, १५३।

अकाल—अति-वृष्टि या अनावृष्टि के कारण जब खेती ठीक से नहीं हो पाती और अन्न का अत्यधिक अभाव हो जाता है, तो अकाल पड़ता है। अकाल का आगम जानने के विषय में भी नीति-काव्य में कुछ सामग्री मिलती है। इसके लिए कई युक्तियाँ हैं। कुछ प्रधान यहाँ दी जा रही हैं—

कौवे और सियार से—

रात्यौ बोलै कागलो दिन में बोलै स्याल।
तो यों भाखें भड्डुरी निहचै परै अकाल॥[1]

तारा से—

सावन सुक्र न दीसै निहचै पड़ै अकाल।[2]

अर्थात् सावन में यदि शुक्र अस्त हों तो अवश्य अकाल पड़ेगा।

दिनों से—

माघ मास सनि पाँच हौं फागुन मंगल पाँच।
काल पडैगो भड्डुरी जोतिस को मत साँच॥[3]

अर्थात् माघ में यदि ५ शनिवार और फागुन में ५ मंगलवार पड़ें तो अकाल पड़ेगा।

इसी प्रकार नक्षत्र, आकाश, पशु तथा और भी बहुत सी चीजों के आधार पर अकाल जानने का नियम है। अकाल की ही भाँति सुकाल की भी सूचना हिन्दी नीति-काव्य के अनुसार विभिन्न चीज़ों से मिलती है। एक उदाहरण लिया जा सकता है—

आसाढ़ै धुर अष्टमी चन्द उगंतो जोय।
कालो वै तौ करबरो धोलो वै तो सुगाल॥[4]

असाढ़ बदी ८ का चन्द्रमा उगते समय यदि काले या सफेद बादलों में हो तो सुकाल की सम्भावना रहती है।

नीति-काव्य में खेती के लिए आवश्यक प्रायः सभी बातें सामान्य ढङ्ग से दे दी गई हैं। ये बातें बीते युगों के अनुभवों पर आधारित है, और देहात में किसान प्रायः इनसे लाभान्वित होते हैं, अतएव कुछ अंशों में ये विश्वानीय भी हैं। हाँ सुकाल-अकाल, पाला तथा ओला आदि के विषय में भविष्य के बातों के अनुमान के लिए जो आधार दिए गए हैं, उनके विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों द्वारा परीक्षा अपेक्षित है।

---

१ भड्डरी, १३४।

२ घाघ, ३१७।

३ भड्डरी, १३।

४ वही, १८।

(छ) व्यापार—

जीविका के रूप में व्यापार का स्थान भारतीय समाज में नौकरी से उच्च और खेती से निम्न रहा है। लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान॥

सुधा-सरोवर में भी कहा गया है—

उत्तम खेती जानिए, मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम, भीख कहावत सार॥[1]

पर अब यह भावना बदल गई है, और व्यापार सर्वश्रेष्ठ कहा जाने लगा है। हरदीन त्रिपाठी लिखते हैं—

प्रथम कृषी उत्तम रही, अब उत्तम व्यौपार।[2]

इस उत्तमता का कारण है व्यापार में लाभ, स्वच्छन्दता और आराम का आधिक्य।

रोजगार बानिज्य को सुखप्रद अरु स्वच्छन्द।
जामे निज लछिमी बसति, देर करत मति मन्द॥[3]

व्यापार के सम्बन्ध में हिन्दी नीति-काव्य में अधिक नहीं कहा गया है। गुप्त जी देश के व्यापार के नष्ट होने पर दुःख प्रकट करते हैं और पुनः व्यापार के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं—

वैश्यो सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे है पार है क्या क्लेश का।
अब भी न यदि कर्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ।
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ॥[4]

दामोदरसहाय सिंह कहते है कि व्यापार के लिए बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं है। जिसने भी दत्तचित होकर इसे आरम्भ किया देखते ही देखते वह धनिक हो गया।

जनि सोचहु धन बल नहीं, जनि सोचहु बुधि नाहिं।
लघु धन से प्रारम्भ करि, लाखपती बनि जाहिं॥[5]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ४०।
२ सामान्य नीति-काव्य, ३३।
३ सुधा सरोवर, पृ० ४७।
४ भारत भारती, पृ० १६८।
५ सुधा सरोवर, पृ० ४७।

वे आगे उदाहरण देते है—

लखहु मारवाड़ी बनिक सिर पर धरि दुइ थान।
आज फिरत बेचत अधम कालि हि सेठ परधान ॥[1]

इस प्रकार—

यहि बिधि या व्यापार में जिन जिन दीन्हों चित्त।
तिन तिन थोड़हि काल में बहुत बटोरो बित्त ॥[2]

व्यापार के लिए सब से आवश्यक है इस बात को जानना कि कहाँ कौन सी वस्तु अधिकता से होती है और कहाँ उसकी कमी है। इसका विचार करके व्यापार करने वाला शीघ्र सफल होता है। दामोदरसहाय सिंह ने—

कौन वस्तु की कहँ कमी, कौन कहाँ अधिकात।[3]

द्वारा इसी ओर संकेत किया है।

आजकल कई व्यक्ति मिलकर कम्पनी रूप में यदि व्यापार करें तो अधिक सुविधा होती है। नीति-काव्य में यह करने की भी सलाह दी गई है—

अलग अलग व्यापार में बहु व्यय स्रम लघु आय।
याते मिलि कर कम्पनी, कारज करहु बनाय ॥[4]

व्यापार पूर्णरूपेण लाभप्रद तब तक नही होता जब तक कि स्वयं न किया जाय। घाघ ने कहा है कि दूसरे के भरोसे व्यापार करने वाले छाती पीटकर रोते हैं, अर्थात् उन्हें हानि होती है—

पर हथ बनिज सदेसे खेती।
... ...
ये चारो मिलि पीटै छाती ॥[5]

इस प्रकार व्यापार के सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातों का ही हिन्दी नीति-काव्य में संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया है। अन्त में एक अज्ञात कवि का दोहा उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें व्यापार में सफलता के मूल मन्त्र समाहित कर लिए गए हैं—

श्रम चातुरी एकाग्रता अरु सच्चा व्यवहार।
समय ज्ञान अरु नम्रता मूल मन्त्र व्यापार ॥[6]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ४७।
२ वही, पृ० ४७।
३ वही, पृ० ४८।
४ वही, पृ० ४८।
५ घाघ, ३२।
६ नीति छन्द०।

(ज) शकुन—

संस्कृत के नीति-ग्रन्थों में शकुन के सम्बन्ध में सामग्री प्रायः नहीं मिलती, पर, हिन्दी में कुछ मिल जाती है। इस दृष्टि से तुलसी, चरनदास, जायसी तथा भड्डरी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। शकुन यथार्थतः ज्योतिष का एक अंग है। इसका सम्बन्ध फलित ज्योतिष से है।

हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित शकुन में प्रधान रूप से निम्नांकित कार्यों लिए शकुन-विचार करने का विधान दिया गया है—

(क) यात्रा।
(ख) नवीन वस्त्रों का पहनना।
(ग) विवाह, शिक्षारम्भ तथा दान आदि शुभ कार्य।
(घ) लेन-देन या खेती का आरम्भ।
(ङ) अन्य।

इन विषयों पर शकुन विचारने के आधार निम्नांकित हैं—

(अ) दिन
(आ) नक्षत्र
(इ) तिथि
(ई) समय
(उ) विभिन्न प्रकार के मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, कीड़ों या वस्तुओं का मिलना, दिखाई पड़ना, कुछ क्रिया करना या गिरना आदि।
(ऊ) छींक
(ए) स्वर (नाक के दाएँ या बाएँ पुरवे से साँस निकालना)

इन सातों आधारों पर उपर्युक्त पाँच के विषय में हिन्दी नीति-काव्य में वर्णित शकुन-विचार यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

यात्रा—जायसी "दिन विचार" को आधार मानते हुए यात्रा के विषय में कहते हैं—

आदित सूक पछिउँ दिसि राहू।
विहफै दखिन लंक दिसि डाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू।
मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू॥[1]

---

१ पद्मावत, पृ० ४३३।

भड्डरी कहते हैं—

सोम सनीचर पुरब न चाल।
मंगल बुद्ध उतर दिसि काल।
जो बिहफै को दक्खिन जाय।
बिना गुनाहै पनही खाय।
बुद्ध कहै मैं बड़ा सयाना।
मोरे दिन जिन किह्यो पयाना॥[1]

पर यदि ऐसे दिनों को किसी ऐसी दिशा में जाना आवश्यक हो, जो शकुन के अनुसार वर्जित हैं तो कुछ टोटके किए जा सकते है। जायसी ने लिखा है—

अवसि चला चाहै जौ कोई।
ओखद कहौ रोग कहँ सोई।
मंगल चलत मेलु मुख धना।
चलिअ सोम देखिय दरपना।
सूकहि चलत मेलु मुख राई।
बिहफै दखिन चलत गुर खाई।
आदित ही तम्बोर मुख मंडिअ।
बावभिरँग सनीचर खंडिअ।
बुद्धहि दधिकै चलिअ भोजना।
ओखद यहै और नहिं खोजना।

भड्डरी भी कहते हैं—

रवि तामूल सोम के दरसन।
भौमवार गुरु धनियाँ चरबन।
बुद्ध मिठाई बिहफै राई।
सुक्र कहै महि दही सुहाई।
सन्नी बाउबिरंगी भावै।
इंद्र जीति पुत्र घर आवै॥[3]

शकुन और उपचार दोनों ही में जायसी और भड्डरी के कथन बहुत मिलते-जुलते हैं। नहीं कहा जा सकता कि यथार्थतः इनका रचयिता कौन है। यह भी

---

१ भड्डरी, १७८।
२ पद्मावत, पृ० ३७८।
३ भड्डरी, १७६।

असम्भव नहीं है कि 'लोक' में इन बातों का प्रचार रहा हो और वहीं से दोनों ही ने ये बातें ली हों।

दिन के अतिरिक्त तिथि, नक्षत्र तथा विभिन्न जीवों और वस्तुओं या स्वर के आधार पर भी यात्रा के शकुन-विचार के सम्बन्ध में तुलसी, जायसी, भड्डरी तथा चरनदास आदि ने बहुत सी बातें कही हैं। संक्षेप में कुत्ते का कान फटफटाना, सामने से एक शूद्र, दो वैश्य, तीन ब्राह्मण और चार क्षत्रिय या नौ स्त्रियों का आना;[1] पाँच भैंसे, छः कुत्ते, एक बैल, एक बकरा, तीन गाएँ या सात हाथी का मिलना,[2] रविवार को द्वादशी, मंगल को एकादशी तथा बुद्ध को दशमी आदि का पड़ना[3] तथा दाहिने स्वर के चलने के समय दक्षिण या पश्चिम जाना[4] आदि अपशकुन हैं और नेवला मिलना, बायीं ओर नीलकंठ का चारा खाना, दाहिनी ओर कौआ दिखाई पड़ना[5], लोमड़ी का बार-बार दिखाई पड़ना, हरिन का बाएँ से दाहिने जाना सौभाग्यवती स्त्री का पानी से भरा घड़ा लाना, सामने दही, मछली, बछड़ा पिलाती गाय का मिलना[6], बाएँ स्वर के चलते समय बायाँ पैर आगे रखना[7], गोधूलि बेला के समय पूर्व में, प्रातःकाल पश्चिम में, दोपहर को उत्तर में और रात में दक्खिन जाना शुभ हैं।[8]

यात्रा के लिए प्रस्थान रखने का भी नियम है। यदि किसी ऐसे दिन जाना आवश्यक हो जो यात्रा के योग्य न हो तो एक दिन पूर्व प्रस्थान (पायँत) रखा जाता है। प्रस्थान रखने के सम्बन्ध में भड्डरी कहते हैं—

रबिदिन बास चमार घर, ससि दिन नाई गेह।
मंगल दिन काछी भवन, बुध दिन रजक सनेह॥
गुरु दिन ब्राह्मण के बसे भृगुदिन वैश्य मँझार।
सनि दिन बेस्वा के बसै भड्डर कहैं विचार॥[9]

अर्थात इन दिनों इनके यहाँ प्रस्थान रखना चाहिए।

---

१ भड्डरी, १८२।
२ वही, १८१।
३ तुलसी दोहा०, ४५८।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१६।
५ भड्डरी, १८३।
६ वही, १८७।
७ वही, १९३।
८ वही, १९३।
९ वही, १८८।

नवीन वस्त्र—नवीन वस्त्र के पहनने के सम्बन्ध में भड्डरी लिखते हैं—

कपड़ा पहिरै तीन बार।
बुद्ध बृहस्पत सुक्रवार॥
हारे अबरे का इतवार।
भड्डर का है यही विचार॥[1]

आशय यह है कि नवीन वस्त्र के लिए अच्छे दिन केवल तीन ही हैं। बुद्ध, वृहस्पत और शुक्रवार। बहुत आवश्यक होने पर रविवार को भी नवीन वस्त्र पहना जा सकता है, पर शेष सोमवार, मगल तथा शनि इस दृष्टि से पूर्णतः वर्जित है।

शुभ कार्य—शुभ कार्यो के लिए रविवार की द्वादशी, सोमवार की एकादशी, मंगल की दशमी, बुद्ध की तृतीया, गुरुवार की षष्ठी, शुक्र की द्वितीया तथा शनिवार, की सप्तमी अच्छी नही मानी गई है।[2]

स्वरों की दृष्टि से शुभ कार्यो को आरम्भ करने के लिए बायाँ स्वर अच्छा माना गया है।[3]

दिन तथा तिथियों में शुभ कार्यों के लिए कौन अच्छे हैं, इसका उल्लेख नीति-काव्य में प्रायः नहीं मिलता।

लेन-देन तथा खेती आदि--

श्रवण, धनिष्ठा, शतभिक्, हस्त, चित्रा, स्वाती, पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा अश्विनी, रेवती और अनुराधा नक्षत्र इनके लिए उपयुक्त है।[4] खेती की दृष्टि से भड्डरी कहते हैं—

इतवार करै धनवन्तरि होय।
सोम करै सेवा फल होय॥
बुध बिहफै सुक्रै भरै बखार।
सनि मंगल बीज न आवै द्वार॥[5]

अन्य—अन्य शकुन-अपशकुन के विचार कितनी ही बातों के विषय में दिए गए हैं। यहाँ उदाहरण के लिए कुछ देखे जा सकते हैं।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, १८१।
२ तुलसी दो०, ४५८।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ८।
४ तुलसी दो०, ४५६।
५ भड्डरी, १७६।

भरणी, विशाखा, कृत्तिका, आर्द्रा, मघा और मूल नक्षत्रों में कुत्ते का काटना बुरा है।[1]

युद्ध करने यदि जाना हो तो दाएँ स्वर के चलने के समय चलना चाहिए। चरनदास कहते हैं—

युद्ध बाद रण जीते सोई।
दहिनै स्वर में चालै कोई॥[2]

छिपकली या गिरगिट के गिरने से भी शकुन का विचार होता है। इस सम्बन्ध में भड्डरी लिखते हैं—

सिर पर गिरै राज सुख पावै।
औ ललाट ऐश्वर्यहि पावै।
कंठ मिलावै पिय को लाई।
काँधै पड़े विजय दरसाई॥
जुगल कान औ जुगल भुजाहूँ।
गोधा गिरै होय धन लाहू॥
हाथन ऊपर जो कहुँ गिरई।
सम्पति सकल गेह में धरई॥
निश्चय पीठ परै सुख पावै।
परै काँख पिय बन्धु मिलावै॥
कटि के परै वस्त्र बहु रंगा।
गुदा परै मिल मित्र अभंगा॥
जुगल जाँघ पर आनि जो परई।
धन गन सकल मनोरथ भरई॥
परै जाँघ पर होइ निरोगी।
परब परै तन जीव वियोगी॥
या विधि पल्ली सरट बिचारा।
कहै भड्डरी जोतिस सारा॥[3]

छींक के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार लिखा है—

सनमुख छींक लड़ाई भाखै।
पीठ पाछिली सुख अभिलाखै॥

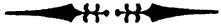
---

१ भड्डरी, १८०।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१८।
३ भड्डरी, १९०।

छींक दाहिनी धन को नासै ।
बाम छींक सुख सदा प्रकासै ।।
ऊंची छींक महा सुभकारी ।
नीची छींक महा भयकारी ।।
अपनी छींक महा दुखदाई ।
कह भड्डर जोसी समझाई ।।
अपनी छींक राम वन गयऊ ।
सीता हरन तुरते भयऊ ।।[1]

कहना न होगा कि आजकल ये मान्यताएँ प्रायः अन्ध-विश्वास कही जाती हैं, और अब बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इनका ध्यान रखते हैं। वियोगी हरि ने इनका विरोध करते हुए अपनी वीर सतसई में लिखा भी है—

अब पत्रा देखत कहा सोधत सुदिनु गँवार ।
परे कूदि रण कुंड वै रहै तोरि गढ़ द्वार ।।
....
चलत कबहुँ दिन सोधि तुम कबहूँ छींक बचाय ।
किन इन थोथे टोटकनु दई अनी बिचलाय ।।[2]



१ भड्डरी, १८९ ।
२ वीर सत०, पृ० ३० ।

: ६ :

नीति-काव्य का कला-पक्ष

(क) भाषा—

नीति-काव्य में प्रयुक्त भाषाएँ—हिन्दी नीति-काव्य में प्रधान रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। रहीम, बीरबल, टोडरमल, रत्नावली, वृन्द, बिहारी, दीनदयाल गिरि, सुन्दरदास तथा छत्रसाल आदि प्राचीन एवं दुलारेलाल, वियोगी हरि तथा रामचरित उपाध्याय (ब्रज सतसई) आदि आधुनिक कवियों के नीति-छन्द ब्रजभाषा में ही हैं। तुलसी के भी कुछ नीति-छन्दों (दोहावली) की भाषा यही है। यों जन्म, निवास-स्थान या अन्य कारणों से इन कवियों की ब्रजभाषा में यत्र-तत्र कन्नौजी, बुन्देली, अवधी, बैसवाड़ी, राजस्थानी, खड़ीबोली या भोजपुरी के प्रभाव भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

तुलसी (दोहावली तथा मानस के कुछ नीति छन्द) नरहरि तथा गिरिधर कविराय आदि कुछ कवियों के नीति-छन्दों की भाषा अवधी है, पर साथ ही ब्रजभाषा के कवियों की भाँति ही इनकी भाषा में भी ब्रज, बैसवाड़ी तथा खड़ीबोली आदि के कुछ रूप मिल जाते हैं।

अन्य बोलियों में डिंगल तथा खड़ी बोली का भी हिन्दी नीति-काव्य में प्रयोग हुआ है। डिंगल के लिए प्रधान रूप से बाँकीदास का, तथा खड़ी बोली के लिए रामचरित उपाध्याय (सूक्तिशतक), महात्मा भगवानदीन एवं दिनकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन पर भी ब्रज, अवधी या भोजपुरी का प्रभाव यत्र-तत्र मिल जाता है।

सन्त कवियों में सुन्दरदास को छोड़कर प्रायः सभी के नीति-छन्दों की भाषा राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी, खड़ीबोली तथा भोजपुरी आदि का मिश्रित रूप है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त प्रायः सभी भाषाएँ न्यूनाधिक रूप से हिन्दी नीति-काव्य में प्रयुक्त हुई हैं, यद्यपि प्रधान रूप से ब्रजभाषा का ही प्रयोग मिलता है।

शब्द-समूह—हिन्दी नीति-काव्य की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध है। बाँकीदास की डिंगल रचनाओं को छोड़कर (जिनकी भाषा डिंगल है अतएव डिंगल शब्दों का प्रयोग अधिक है) हिन्दी के शेष नीति-काव्य में नब्बे प्रतिशत से भी अधिक ऐसे प्रचलित और सरल शब्दों का प्रयोग है जो सामान्य हिन्दी पाठक के लिए बिल्कुल

अपरिचित नहीं हैं। यही कारण है कि नीति के छन्दों का सामान्य हिन्दी जनता में अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक प्रचार है।

नीति-काव्य के शब्द-समूह पर संस्कृत, अरबी-फारसी-तुर्की तथा अन्य इन तीन उपशीर्षकों के अन्तर्गत यहाँ विचार किया जा रहा है।

संस्कृत—हिन्दी साहित्य की अन्य धाराओं की भाँति उसकी नीति-धारा में भी संस्कृत शब्दों की संख्या सबसे अधिक है। ये शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। एक तो अपने शुद्ध रूप (तत्सम) में जैसे न्याय, कुल, भेद, लोभ, चिन्ता, समय, उपकार, नारी आदि तथा दूसरे अपने विकसित रूप (तद्भव) में जैसे गुन (गुण), बिकार (विकार), सबद (शब्द), बिद्या (विद्या), परजा (प्रजा), असनान (स्नान), आस (आशा), तथा नेह (स्नेह) आदि।

तत्सम शब्द तीन प्रकार के है। एक तो वे है जो बहुत प्रचलित हैं और प्रतिदिन की भाषा में भी जिनका प्रयोग प्रायः होता है। उदाहरण के लिए सत्य, अत्याचार, आत्मा, रस, नर, पण्डित, मूर्ख, कुलीन, ज्ञान, सभा, कर्म, संग, जीव, सत्संग, कमल, मन, संसार, प्रेम, भूमि, कपट, अन्तर, पाप, धन, निन्दा, चिन्ता, अति, मन्दिर तीर्थ, भक्त, दान, संकट, उदय, पति, भक्ति, दुर्लभ, जन्म छल, जन्तु, चातक, पृथ्वी, हृदय, धर्म, अधर्म, परोपकार, अगम, कुकर्म, पराधीन, कठिन, मृग, खल, लोभ तथा चिन्ता आदि। दूसरे प्रकार के तत्सम शब्द वे है, जिनका रोज़ की भाषा में तो प्रयोग नही होता पर वे कठिन नही है। उदाहरण के लिए हेम, गंगोदक, रद, मयंक, पवि, नयन, घृत, नृप, गज, कनक, नीर, गगन, निज, सुर, वंध्या, अचल, क्लेश तथा रवि आदि लिए जा सकते हैं। तीसरे प्रकार के तत्सम शब्द वे हैं जो दुरूह हैं तथा जिन्हें साधारणतया लोग नहीं समझ सकते। इस प्रकार के शब्दों की संख्या नीति-काव्य में बहुत ही कम है। हाटक, कोकनद, अमेध्य, श्येन, शाखी, श्वपच, मकरालय, अन्तोदक, कनक (धतूरा), दान (हाथी का मद), करंड, चलदल तथा वन (कपास) आदि इसी श्रेणी के है।

तद्भव शब्द तत्सम की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इन्हें भी तीन वर्गों में रखा जा सकता है। पहला वर्ग ऐसे शब्दों का है जो प्रायः बोलचाल के हैं। हिन्दी नीति-काव्य में ऐसे शब्द संख्या में सबसे अधिक हैं। गुन, आतमा, बिकार, सच, अचरज, सोच, निसोच, निहकरमी, आँख, दूध, थान, भरम, फूल, कोख, नेह, गरब, कुकरम, करम, पुन्य, मरजाद, अपजस, कीरति, दरपन, सोग, परजा, चरित्तर, तिरिया, कलेस, छीर, तिनका, बिद्या, बिख, बिरिध, पानी, बैराग, नाँव, जस, परमेसर तथा सरनागत आदि कुछ ऐसे ही शब्द है। दूसरे प्रकार के वे तद्भव शब्द हैं जो उपर्युक्त शब्दों की भाँति सरल न होकर दुरूह है। उदाहरणार्थ कंच (रत्न),

कुबत (निन्दा कुवार्ता), मदीठ (न देखने योग्य) कांगा (कंगाल), सोवन (स्वर्ण), जिह (धनुष की डोरी), गथ (दाम, पूंजी) व्यौरा (अन्तर), तथा सरावग (बौद्ध या जैन साधु), आदि लिए जा सकते हैं। तीसरे वर्ग के तद्भव शब्द ऐसे हैं जिन्हें तत्सम या तद्भव शब्दों के आधार पर कवियों ने छन्द की मात्रा या तुक आदि के लिए तोड़-मरोड़ कर बना लिया है। कबीर, दादू तुलसी, नरहरि, छत्रसाल, घाघ तथा गिरिधर कविराय आदि में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। बचन्न (वचन), जल्ला (जल), नीत (नीति), पल्ला (पाला), दाया (दया), चीन (चीन्हें, चिन्ह), साचा (साच, सच), कूंची (कुञ्जी), अंबा (आम), बानियाँ (बनियाँ), मीता (मीत, मित्र), उंझी (उलझी), रतन्न (रत्न), दम्मा (दाम), मोरा (मोर), सगा (सग), तिनूका (तिनका), रीती (रीति), बैकुण्ठा (बैकुण्ठ), धना (धनियाँ), सुसंगू (सुसंग), बिपती (बिपत्ति), मूला (मूल), मनन (मन), तथा बिसेषी (विशेष) आदि इसी श्रेणी के शब्द हैं।

फारसी, अरबी तथा तुर्की—फारसी, अरबी तथा तुर्की के शब्दों का भी हिन्दी नीति साहित्य में प्रयोग मिलता है। इन तीनों में फारसी शब्द सबसे अधिक, अरबी शब्द उससे कम तथा तुर्की शब्द सबसे कम मिलते है।

संस्कृत के शब्दों की भाँति ही इन शब्दों को भी तत्सम और तद्भव दो वर्गों में तथा तीन-तीन उपवर्गों में रखा जा सकता है। नीचे संक्षेप में ये वर्ग तथा उपवर्ग कुछ उदाहरणों के साथ दिए जा रहे है।

तत्सम—

अतिप्रचलित—आह, अंगूर, अनार, दर्द, साहब, दर, इल्म, इन्सान, अल्लाह, गुलाब, अमीर, हलाल, हराम, हिम्मत, पीर, आमद, इलाज, कबूतर तथा किताब आदि।

अल्पप्रचलित—अंजाम, आदल, दरकार, आब, महबूब, गिला, दीदार तथा इमाम आदि।

अप्रचलित तथा दुरूह—अम्बोह (भीड़), हिमायत (बहादुर) तथा नर्द (चौसर की गोंटी) आदि।

तद्भव—

अतिप्रचलित—सैतान, जमात, खबर, कागज, दुसमन, जोर, अरज, गैर, मौजि, फकीर, साहेब, चसमा, दरियाव, आसिक, करज, बदाम, वकील, गजब, गरीब, कीमत, कहर, इनसाफ, काजी तथा खरच आदि।

अप्रचलित—चिराक (चिराग), नकीब (भाट), औजूद (मौजूदगी), नफस (आत्मा, वासना), मसलत (मसलहत), मौसर (मयस्सर), तथा कुमाच (कुमाश) आदि।

छन्द के लिए तोड़े-मरोड़े हुए शब्द—खोदाय (खुदा), किम्मत (कीमत), मसीति (मस्जिद), इताति (इताअत) तथा अकब्बर (अकबर) आदि।

अन्य—अन्य शब्द अँग्रेजी तथा पुर्तगाली आदि यूरोपीय भाषाओं के हैं। इनका प्रयोग आधुनिक युग के हरदीन त्रिपाठी, दामोदरसहाय सिंह 'कवि किंकर' तथा दुलारेलाल भार्गव आदि कवियों ने किया है। इन यूरोपीय शब्दों की संख्या बहुत थोड़ी है और उनमें भी दो एक को छोड़कर प्रायः सभी अँग्रेजी के हैं। ये शब्द अधिकतर ऐसे हैं जो आज हिन्दी के अपने हो गए हैं और इनका सभी वर्गों के लोगों में प्रचार है। उदाहरण के लिए फीस, कम्पनी, डिग्री, आफिस, कोर्ट, अफसर, बूट, टाई, स्टिक, हाकी, गोल, ग्रेजुएट तथा पुलिस आदि शब्द लिए जा सकते हैं। इनमें स्टिक तथा टाई आदि तो शब्द अँग्रेजी तत्सम हैं, पर पुलिस, अफसर, आफिस तथा फीस आदि तद्भव रूप हैं।

अँग्रेजी के शब्दों के अतिरिक्त 'अँग्रेज' तथा 'तमाखू' आदि कुछ अन्य यूरोपीय शब्दों का भी प्रयोग आधुनिक नीति-साहित्य में हुआ है। ये दोनों ही शब्द पुर्तगाली हैं।[1]

सम्भव है नीति-काव्य में मुण्डा, द्रविड़, चीनी तथा देशज शब्द भी हों पर अभी तक इस दृष्टि से हिन्दी के शब्द-समूह का पूर्ण प्रामाणिक अध्ययन नहीं हो सका है, अतः निश्चय के साथ कुछ कहना सम्भव नहीं है।

कुछ लोगों ने अँग्रेजी शब्द का न प्रयोग कर उनके लिए नए शब्द भी गढ़े हैं। ऐसे दो उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

'न्यूज पेपर' के लिए 'कागजखबर'

हाथ लिए कागजखबर रह जाते मुँह बाय। —कवि किंकर

'मनीआर्डर' के लिए 'वितआयुस'

लौटि दैनहारेइ ढिग वितआयसु लौं जाय। —राजेश

कहना न होगा कि शब्दों के ये अनुवाद शाब्दिक दृष्टि से तो ठीक हैं पर न तो ये प्रचलित हैं और न उसके योग्य ही। यह प्रवृत्ति हिन्दी नीति-काव्य में अधिक नहीं है।

मुहाविरे—मुहाविरों के प्रयोग से भाषा में संक्षेप में सुन्दर ढंग से अधिक भाव व्यक्त करने की शक्ति आ जाती है। हिन्दी के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य में मुहाविरों का प्रयोग मिलता तो है पर अधिक नहीं। आधुनिक युग के भी उन्हीं कवियों की भाषा में इसका विशेष रूप से दर्शन होता है, जिन्होंने उर्दू से परहेज नहीं रखा है। हिन्दी नीति-काव्य के लिए भी यही बात सत्य है। पुराने कवियों में

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा 'अँग्रेज' शब्द को फ्रांसीसी मानते हैं।—हिन्दी भाषा का इतिहास, प्रयाग, १९४९, पृ० ७४।

इसका कहीं-कहीं दर्शन मात्र हो जाता है और आधुनिक में भी कुछ ही लोगों ने इसका प्रयोग किया है और वह भी कहीं-कहीं। यहाँ हिन्दी नीति-काव्य की कुछ मुहाविरा-युक्त पंक्तियाँ उदाहरण के लिए दी जा रही हैं—

१. जो रहीम पग तर परो **रगरि नाक अरु सीस** ....रहीम
२. करहिं ते फोकट **पचि मरहिं** सपनहुँ मुख न सुबोध ....तुलसी
३. चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन **पचि पचि मरिय** .. तुलसी
४. जाके **कर में कर दयो** ... .रत्नावली
५. सब **गुड़ माटी होय** ... .मलूकदास
६. बात चलै जो सभा में ताको **राखहु कान** .....जान
७. **कूप खोदिबो** है वृथा **जरन लगे जब गेह** .....दीनदयाल गिरि
८. इन तेरह सों **तरह दिए** बनि आवै साई ....गिरिधर
९. पहिले **हाथ पसार के** बहुरि पसारै पायँ ....गिरिधर
१०. टाँग को अड़ा के कैसे **मुँहकी न खाएँगे** .....रामचरित उपाध्याय
११. सुजन परार्थ से न **मुख मोड़ता** है कभी ....रामचरित उपाध्याय
१२. चालें ऐसी क्यों चलें **पड़े चाटना थूक** .....हरिऔध
१३. इन सठ मठधारीनु पै तौहू **गिरति न गाज** .....वियोगी हरि
१४. यह विकास दिन द्वैक को **मिलिहै माटी माहिं** .....दुलारेलाल भार्गव
१५. गई **चौकड़ी भूलि** तौ पागुरि छोड़ि
खड़े **तृन दाबि के दाँतन** में। ....पूर्ण
१६. हाथ लिए कागजखबरि **रह जाते मुँह बाय** .....कविकिंकर

लोकोक्तियाँ—यों तो लोकोक्तियों का प्रयोग हिन्दी साहित्य की सभी धाराओं में हुआ है पर नीति की धारा में यह सबसे अधिक है। इसका प्रधान कारण है दोनों की प्रकृति का एक होना। प्रायः बहुत सी लोकोक्तियों में नीति की बातें रहती है और दूसरी ओर बहुत से नीति के छन्द पूर्णतया या अंशतः लोकोक्ति होते है। श्री विश्वम्भरनाथ खत्री के प्रसिद्ध लोकोक्ति कोष में तुलसी, रहीम तथा वृन्द के बहुत से नीति के दोहे ज्यों के त्यों या अंश रूप में लोकोक्ति मानकर रख दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी भी बहुत सी लोकोक्तियाँ है जो यथार्थतः लोकोक्ति न होकर किसी कवि के छन्द या छन्दांश हैं। 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता', 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे', 'बेस्या बरस घटावहीं जोगी बरस बढ़ाय' तथा 'मोह न नारि नारि के रूपा' आदि ऐसी ही लोकोक्तियाँ हैं।

हिन्दी के नीतिकारों में लोकोक्तियों का सबसे अधिक प्रयोग पं० प्रताप नारायण मिश्र ने अपने नीति-ग्रन्थ 'लोकोक्ति शतक' में किया है। इसमें सभी

छन्दों के अन्त में एक-एक लोकोक्ति है। यहाँ उदाहरण के लिए उससे दो छन्द दिए जा रहे है—

करत नही श्रम निज हित हेत।
काल कर्म कहँ दूषन देत।
बुद्धि आलसिन को गई बेढ़।
नाचि न आवै आंगन टेढ़॥

तथा

दुरबल के नित होहु सहाय।
हरि तूठै जग जस ह्वै जाय।
ताहि सताए श्रमहु अकाथ।
बकुला मारै पखना हाथ॥[1]

अन्य नीतिकार कवियों मे तुलसी, सुन्दरदास, वृन्द तथा वियोगी हरि आदि के नाम इस दृष्टि मे विशेष रूप से लिए जा सकते हैं। यहाँ हिन्दी नीति-काव्य से कुछ ऐसी पंक्तियाँ दी जा रही हैं, जिनमें लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है।

(१) तुलसी भेंड़ी की धँसनि जड़-जनता-सनमान। —तुलसी
(२) लोक रीति फूटी सहै आँजी सहै न कोइ। —तुलसी
(३) दीप हाथ कत कूआँ परिहैं। —जान
(४) बीछू मन्त्र न जानई साँप पिटारे हाथ। —वृन्द
(५) जैसे बस सागर बिषै करत मगर सों बैर। —वृन्द
(६) जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहिं फूँकि। —वृन्द
(७) सीधी अँगुरी घी जम्यो क्योंहूँ निकरै नाहिं। —वृन्द
(८) देखी कै काहू सुनी लगत साँच कौ आँच। —रसनिधि
(९) जो गुड़ खाय सु कान बिधावै। —सुन्दरदास
(१०) स्वान पूँछ सुधरै नहिं अन्त टेढ़ को टेढ़। —मलूकदास
(११) पंचनि त्यौं परमेसुर बोलै। —छत्रसाल
(१२) जिमि आँधर कर आरसी जिमि बानर कर बीन। —वियोगी हरि
(१३) आदी के सुस्वाद को न कपि पहचानेगा। —रामचरित उपाध्याय

गुण—हिन्दी नीति-काव्य की भाषा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। इसके लिए कवियों ने प्रमुखतः दो बातों का ध्यान रखा है। एक तो सरल और प्रचलित शब्दों का प्रयोग और दूसरे प्रयोग करते समय शब्दों के लाक्षणिक या व्यंजनामूलक अर्थ

---

१ ये छन्द 'लोकोक्ति शतक' के छोटे संस्करण 'अनूठी कहावतें' से लिए गए हैं।

की ओर ध्यान न देकर अभिवार्थ पर ही प्रायः ध्यान। इसके विपरीत कुछ छन्द ऐसे भी अवश्य मिल जाते है, जिनमें कठिन एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग है या जिनमें कुछ शब्द अप्रसिद्ध, अरूढ़ या लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। पर इस प्रकार के छन्द अपवादस्वरूप हैं और वे इस धारा की सामान्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत नहीं आते।

यहाँ प्रसाद गुण के उदाहरणस्वरूप कुछ छन्द दिए जा रहे है। कहना न होगा कि हिन्दी नीति-काव्य के अधिक छन्दों की भाषा इन्ही की भाँति सरल एवं स्पष्ट है।

करता था तौ क्यूँ किया, अब करि क्यूं पछताइ।
बोवै पेड़ बबूल का अम्ब कहाँ तें खाइ ॥[1] ···कबीर

समय पाय फल होत है समय पाय झरि जाय।
सदा रहे नहिं एक सी, का रहीम पछिताय ॥[2] ·· रहीम

जड़ चेतन गुण दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥[3] ···तुलसी

भागहीन कों ना मिले भली बस्तु कौ भोग।
दाख पके मुख पाक को होत काग को रोग ॥[4] ·· वृन्द

जग नद में तेरी परी देह नाव मंझधार।
मन मलाह जो बस करै निहचै उतरै पार ॥[5]

····दुलारेलाल भार्गव

(ख) शैली—

शैलीगत प्रधान विशेषताएँ—नीतिकाव्य के सृजन में नीतिकार कवियों का ध्येय पाठक या श्रोता को धार्मिक, व्यावहारिक तथा स्वास्थ्य एवं शकुन आदि के विषय में उपदेश देना या नीति की बातें बतलाना रहा है, इसी कारण स्पष्टता, सरलता और प्रभविष्णुता से अपनी शैली को समन्वित करने का उन्होंने विशेष प्रयास किया है। उपदेश देने का ढंग यदि सरल, स्पष्ट और प्रभावशाली न हो तो उसका देना और न देना बराबर है। यहाँ नीति-काव्य की शैलीगत इन प्रधान विशेषताओं पर कुछ विस्तार से विचार किया जा रहा है।

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३०।
२ रहिमन विलास, पृ० २६।
३ तुलसी दोहा, ३६६।
४ वृन्द सत०, पृ० ४१६।
५ दुलारे दोहा०, पृ० ३६।

स्पष्टता और सरलता—स्पष्टता और सरलता हिन्दी नीति-काव्य की शैली के प्राण हैं। हिन्दी काव्य की अन्य धाराओं की भाँति इस धारा के कवियों का ध्यान व्यंजना और लक्षणा या उलझे अलंकारों से बोझिल अभिव्यक्ति की ओर बिल्कुल नहीं गया। उन्होंने प्रधान रूप से शब्दों के अभिधेयार्थ का ही सहारा लिया और केवल सरल, सीधे तथा विषय की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति में सहायक अलंकारों को ही अपनी रचना के लिए चुना। नीति-काव्य की शैली में स्पष्टता और सरलता पर विशेष ध्यान केवल हिन्दी में ही नहीं है। यह परम्परा संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से होती आई है। दूसरे शब्दों में प्राचीनकाल से ही नीति के लिए सरल और स्पष्ट शैली अपेक्षाकृत अधिक मान्य रही है। यह मान्यता अकारण नहीं है। बोझिल, दुरूह, या काव्य के व्यंजना-लक्षणामूलक दुर्बोध या असुबोध चमत्कारों से युक्त शैली में भाव-गांभीर्य चाहे जो हो कहते या सुनते ही प्रभाव डालने की शक्ति नहीं रहती। पर नीति और उपदेश के क्षेत्र मे यह शक्ति अत्यावश्यक है, इसीलिए सरलता और स्पष्टता के बिना नीति-काव्य पंगु हो जायगा। उसका सद्यः प्रभाव डालने का लक्ष्य ही समाप्त हो जायगा। इसी कारण केशव जैसे 'कठिन काव्य के प्रेत' और चमत्कारवादी कवि ने भी जब-जब नीतिपूर्ण सूक्ति या छन्द कहने का प्रयास किया है उन्हें अपनी अस्पष्ट और चमत्कारपूर्ण टेढ़ी शैली को छोड़कर सरलता, सुबोधता और स्पष्टता को अपनाना पड़ा है। रामचन्द्रिका में राम परशुराम से 'होनहार' के सम्बन्ध में कहते हैं—

टूटै टूटनहार तरु बायुहि दीजत दोष।
त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष।
हम पर कीजत रोष कालि गति जानि न जाई।
होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई॥
होनहार ह्वै रहै मोहमद सब को छूटै।
होय तिनूका बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै॥[1]

क्या मुक्तककार और क्या प्रबन्धकार प्रायः सभी नीतिकारों ने इसी प्रकार की सरल और स्पष्ट शैली को नीति के लिए अपनाया है।

अपनी शैली को इन दोनों गुणों से समन्वित करने के लिए जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नीतिकारों ने प्रधान रूप से दो बातों का ध्यान रखा है—

१—अभिधार्थ पर ही प्रधान रूप से दृष्टि रखते हुए सरल एवं प्रचलित शब्दों का प्रयोग।

---

१ रामचन्द्रिका, पृ० १२६।

२—भावाभिव्यक्ति में प्रत्यक्ष सहायक सरल अलंकारों का प्रयोग।

इसके विरुद्ध जहाँ भी कठिन या अप्रचलित शब्दों या अलंकारों का प्रयोग किया गया है वहाँ प्रभविष्णुता एवं आकर्षण का पूर्णतया अभाव है। बांकीदास के बहुत से नीति छन्दों में यह दोष है।

प्रभविष्णुता—नीति के छन्द पढ़ने या सुनने वालों को प्रभावित करने के लिए ही लिखे जाते हैं, अतएव बिना प्रभविष्णुता के उनकी कोई उपयोगिता नहीं।

काव्य में प्रभविष्णुता के लिए दो बातों का होना आवश्यक है—

१—जो कुछ कहा जाय स्पष्ट और सरल हो।

२—कहने का ढंग आकर्षक हो।

प्रथम के विषय में ऊपर विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि हिन्दी के अधिकांश नीतिकारों में यह वर्तमान है।

कहने के ढंग की दृष्टि से हिन्दी नीति-काव्य को मोटे रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में नीति-काव्य का वह अंश है जिसके कहने का ढंग पूर्णतः सीधा-साधा और गद्यवत् है। इस ढंग से कहे गए नीति छन्दों में बातें वाग्वैदग्ध-पूर्ण ढंग से या सटीक उदाहरणों (अप्रस्तुत विधान) आदि के साथ न कही जाकर सीधे कही गई हैं। जगजीवन साहब कहते हैं—

भूलु फूलु सुख पर नहीं, अबहूँ होहु सचेत।
साईं पठवा तोहि कौं लावो तेहि तें हेत॥[1]

इस दोहे में उसी ढंग का सहारा लिया गया है। कबीर के

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगत बिनु कछू न आवै हाथ॥[2]

या गिरिधर के

साईं बैर न कीजिये गुरु पंडित कवि यार।
बेटा बनिता पँवरिया यज्ञ करावन हार।
यज्ञ करावनहार राजमन्त्री जो होई।
विप्र पड़ोसी वैद्य आपको तपै रसोई।
कह गिरिधर कविराय युगन ते यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिए बनि आवै साईं॥[3]

---

१ जगजीवनबाणी, पृ० १३०।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४६।

३ गिरिधर कुण्ड०, पृ० १६।

में भी इसी ढंग को अपनाया गया है। सन्तों एवं गिरिधर जैसे कुछ अन्य कवियों द्वारा लिखित नीति-साहित्य का अधिकांश इसी प्रकार का है।

नीति-काव्य का दूसरा वर्ग वह है, जिसमें कहने का ढंग सीधा और गद्यवत् न होकर काव्योचित एवं आकर्षक है। इसमें भावों को स्पष्ट करने में समर्थ उदाहरण आदि सरल अलंकारों के प्रयोग के कारण ऊपर के छन्दों की शुष्कता नहीं है। रहीम, वृन्द तथा दीनदयाल गिरि आदि के अधिकांश नीति-छन्द इसी वर्ग के हैं। उदाहरणार्थ वृन्द का एक दोहा है—

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर होत निसान॥[1]

यहाँ कथित बात को उदाहरण से पुष्ट करने से छन्द अधिक आकर्षक और प्रभावशाली हो गया है। इसी प्रकार रहीम का एक दोहा है—

बिगरी बात बनै नहीं लाख करो किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को मथै न माखन होय॥[2]

कहना न होगा कि प्रथम वर्ग के ढंग की शुष्कता दूसरे वर्ग में नहीं है, इसीलिए प्रभविष्णुता की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। प्रथम में इसकी मात्रा अत्यल्प या नहीं के बराबर है तो दूसरे में अत्यधिक है।

नीति-काव्य की विभिन्न शैलियाँ—

नीति-काव्य में विषय-वर्णन की कई शैलियाँ मिलती हैं। यहाँ उन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

उपदेशात्मक शैली—उपदेशात्मक शैली हिन्दी नीति-काव्य की सबसे सीधी, स्पष्ट और नीरस शैली है। इसमें किसी भी प्रकार के ऐसे ढंग के प्रयोग का प्रयास नहीं रहता, जिससे कथन आकर्षक और प्रभावशाली हो। सन्त कवियों, गिरिधर तथा घाघ और भड्डरी आदि के बहुत से नीति-छन्द इस शैली के हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। सुन्दरदास 'विश्वास' करने के विषय में उपदेश देते हैं—

सुन्दर अब बिस्वास गहि सदा रहैं प्रभु साथ।
तेरो कियो न होत है सब कुछ हरि के हाथ॥[3]

आधुनिक कवि हरिदीन त्रिपाठी माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध में कहते हैं—

सेवा कीजै मातु अरु पितु की सहित सनेह।
जाके शोणित शुक्र के मिले बनी यह देह॥

---

१ वृन्द सत०, ३११।
२ रहीम दोहा०, १३५।
३ सुन्दर ग्रन्थ०, ७१६।

मिले बनी यह देह जीव जामें सुख मानै ।
जाके बिनु नहिं वेद ईश को भजन बखानै ।।
दीन कहै पाछै पूजहु सब देवी देवा ।
पहिले चित दे करहु मातु पितु गुरु की सेवा ।।[1]

उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि उपदेशात्मक शैली में कवि व्यक्ति या समूह से सीधे उपदेश के स्वर में कहता है जैसे 'बिस्वास गहि' या 'सेवा कीजै' । इसी कारण इस शैली की नीति कविताएँ उच्च कोटि की नहीं कही जा सकतीं और इनके रचयिता कवि से अधिक उपदेशक या सुधारक जैसे हैं ।

उपदेशात्मक शैली के अन्तर्गत ही पहाड़ा, अखरावट, सोलह तिथि निर्नय, बारहखड़ी, बर्ननामा, ककहरा या अलिफनामा आदि रूप में कहे गए उपदेशों के छन्द भी आते हैं, जिनमें हिन्दी या उर्दू के अक्षर, अंक, तिथि या वार आदि में क्रम से एक-एक को लेकर उपदेश के छन्द कहे गए हैं ।

इस प्रकार वर्णमाला या अंक आदि के अनुसार कविता करने की परम्परा भारतवर्ष के बाहर भी मिलती है । चासर ने ए, बी, सी के अनुसार मेरी के प्रति एक कविता लिखी थी और उसके भी पूर्व लगभग सन् १३३० ई० में किसी फ्रांसीसी कवि ने भी इस प्रकार की कविता की थी ।[2]

भारत में इस शैली के प्राचीनतम प्रयोग 'अंगुत्तर निकाय' के संख्यात्मक उपदेशों में मिलते है । आगे चलकर अपभ्रंश के किसी पृथ्वीचन्द्र जैन नामक कवि ने सन् १३४३ के लगभग 'मातृका प्रथमाक्षर दोधक' में इस शैली का प्रयोग किया है ।[3]

हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो में कबीर, सुन्दरदास, धरनीदास, पलटू साहब तथा सहजोबाई आदि सन्तों, जायसी तथा जान आदि सूफी कवियों एवं विश्वनाथ सिह तथा रामसहायदास आदि ने इस शैली की कविता की है । इनकी इन रचनाओं में साम्प्रदायिक रहस्योद्घाटन या योग आदि से सम्बद्ध बातें भी है पर कही-कही नीति या उपदेश की बातें भी है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१ सामान्य नीति काव्य, ३७ ।

२ Geoferey Chaucer—L lailavoix लन्दन पृ० ६३ ।

३ मलयाली साहित्य में 'अक्षरावली' नामक काव्य भी इसी प्रकार का होता है । उसमें छन्द की प्रत्येक पंक्ति के आरम्भिक अक्षर किसी वर्ण की बारहखड़ी के होते हैं । भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, काशी, २०१०, पृ० ४६ ।

'ल' अक्षर—लल्ला लालच बुरी बलाय यही सब बात बिगारी।
लालच जेहि का नाम माया की है महतारी ॥[1]
'ण' अक्षर—णणा नीच ऊँच नहिं देख देख सब एक पसारा।
नहि बाह्मन नहिं सूद्र नहीं छत्री कोउ न्यारा ॥[2]
'क' अक्षर—क कै करहु करनी भली ज्यों आगै सुष होइ।[3]
'ष' अक्षर—षैर रेंड बबूर सेंहुड़ सो न फरिहैं दाख।[4]
तीज— तीज तनिक सुख कारने
बहुत फसायो जीव।
लालच लगि ऐसो गिरै
जैसे मक्खी घीव।[5]

सूक्त्यात्मक शैली—नीति-साहित्य की अपेक्षाकृत अच्छी और अपनी शैली सूक्त्यात्मक है। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द तथा दीनदयाल आदि नीति के प्रधान कवियों ने प्रमुख रूप से इसी शैली को अपनाया है। इस शैली की प्रधान विशेषताएँ दो हैं। पहली विशेषता तो यह कि इस शैली में कही गई बात उपदेशात्मक शैली की भाँति सीधे नहीं कही जाती। उदाहरण के लिए 'परिश्रम करने' को लें। उपदेशात्मक शैली में यदि कहना हो तो उपदेशकार कहेगा—

श्रम कर श्रम कर रे मनुज श्रम ते जागे भाग।
श्रम विहीन के भाग में लगे सदा ही आग ॥[6]

पर सूक्तिकार इस बात को सीधे न कह कर एक सामान्य बात के रूप में कहेगा जिससे सुनने वाले को इस बात का अनुभव न हो कि बात सीधे उसके लिए है। वृन्द ने परिश्रम के विषय में लिखा है—

श्रम ही ते सब मिलत है बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुरी घी जम्यो क्यों हूँ निकरैं नाहिं ॥[7]

सूक्त्यात्मक शैली की दूसरी विशेषता है कहने के ढंग का सौन्दर्य। इसमें किसी शब्दालंकार के सहारे या योंही किसी एक शब्द को बार-बार कहकर या

---

१ पलटू साहब : ककहरा।
२ तुलसी साहब : ककहरा।
३ जानः वर्णनामा।
४ धरनीदास : ककहरा।
५ सोलह तिथि निर्नय, सहजो बानी, पृ० ४६।
६ नीति छन्द०।
७ वृन्द सत०, १९०।

इसी प्रकार के अन्य चमत्कारों से छन्द को ऐसा आकर्षक और प्रभावशाली बना दिया जाता है कि उपदेश की भाँति इस शैली में कहा गया छन्द टकरा कर रह नहीं जाता अपितु श्रोता या पाठक के मन में चुभता है और देर तक अपना प्रभाव रखता है।

ऊपर श्रम के विषय में उद्धृत दोनों छन्दों में ये दोनों विशेषताएँ स्पष्ट है। कहना न होगा कि प्रभविष्णुता और कथन-सौन्दर्य की दृष्टि से दोनों छन्दों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

हिन्दी नीति-काव्य में प्रयोग की दृष्टि से सूक्त्यात्मक शैली के कई भेद-विभेद किए जा सकते हैं जिनमें कुछ प्रमुख के संक्षिप्त और सोदाहरण विवरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

मोटे रूप से इस शैली के दो भेद हैं। पहले प्रकार की सूक्तियों में अप्रस्तुत विधान के सहारे कही गई बात या नीति को स्पष्ट, पुष्ट, प्रमाणित, समर्थित या उदाहृत करते है। उदाहरणस्वरूप तुलसी का एक दोहा लिया जा सकता है—

बड़ो गहे ते होत बड़, ज्यों बावन-कर-दण्ड।
श्री प्रभु के संग सों बढ़ो, गयो अखिल ब्रह्मण्ड॥[1]

यहाँ कवि को कहना है कि छोटे या साधारण व्यक्ति भी बड़ों का साथ पकड़ने से बड़े हो जाते है। इसके लिए वह भगवान वामन के हाथ के डण्डे का उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि करता है।

रामचरित उपाध्याय का एक छन्द है—

साम नय से दुष्ट सीधे मार्ग पर जाते नहीं।
हाथ में आते न जब तक दण्ड वे पाते नहीं।
तप्त हो जब तक घनों की चोट खाता है नहीं।
काम में तब तक हमारे लौह आता है नहीं॥[2]

यहाँ लौह (अप्रस्तुत) की विशेषता से सामान्य दुष्ट के दण्ड की बात का समर्थन है।

इस प्रकार की शैली की सूक्तियों में अप्रस्तुत का अर्थांतरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा उदाहरण आदि अलंकारों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न अलंकारों के आधार पर इसके और भी उपभेद किए जा सकते हैं।

सूक्त्यात्मक शैली का दूसरा भेद वह है जहाँ अप्रस्तुत विधान का सहारा

---

१ तुलसी दोहा०, ५३२।

२ काव्य दर्पण, पृ० ३८६।

लिए बिना ही बात चमत्कार, आकर्षण या वाग्वैदग्धपूर्ण ढंग से कही जाती है। इसके भी बहुत से भेदोपभेद किए जा सकते हैं। यहां कुछ प्रधान भेदों को देखा जा सकता है।

कभी-कभी कुछ कवि किसी एक क्रिया को लेते हैं और उसकी बार-बार आवृत्ति करते हुए नीति की अनेक बातें एक ही छन्द में कह जाते है। गिरिधर दास 'देना' क्रिया को लेकर कहते हैं—

गुरुन को शिष्यन, सुपात्र भूमि देवन को,
मान देहु ज्ञान देहु दान देहु धन सों।
सुत को संन्यासिन को वर जिजमानन को,
सिच्छा देहु भिच्छा देहु दिच्छा देहु मन सों।
सत्रुन को मित्रन को पित्रन को जगबीच,
तीर देहु, छीर देहु, नीर देहु पन सों।
गिरिधर दासै स्वामी को अघी को आसु,
रुख देहु सुख देहु दुख देहु तन सों॥[1]

इस छन्द का आकर्षण 'देहु' की आवृत्ति तथा अंत्यानुप्रास के कारण है।

क्रिया के अतिरिक्त संज्ञा शब्दो की आवृत्ति भी की जाती है। एक दोहे में

तीर देहु, छीर देहु, नीर देहु पन सों।

इसी प्रकार 'कहा'[1] (क्या), 'सून'[2] (शून्य), न कछु[3] तथा 'मरै'[4] आदि अनेकानेक अन्य शब्दों की आवृत्ति करते हुए भी एक छन्द में नीति की अनेकानेक बातें कहने की शैली हिन्दी नीति-साहित्य में मिलती है।

कुछ कवियों ने कभी-कभी संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय शब्दों की आवृत्ति तो की है पर नीति की बहुत सी बातें न कहकर एक ही बात कही है। उदाहरणार्थ बैताल का महत्व दिखलाने के लिए 'टका' की आवृत्ति करते हैं—

टका करै कुलहूल टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाए रात दिन।
बैताल कहैं बिक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥[5]

बैताल ने इसी प्रकार एक अन्य छप्पय में जीभ के महत्व-दर्शन के लिए 'जीभ' शब्द की आवृत्ति की है।[6]

कुछ कवियों ने किसी एक बात के सम्बन्ध में नीति कथन के लिए उसकी आवृत्ति तो की है पर साथ ही बहुत से उदाहरण लेते हुए छन्द के अन्त में अपने लक्ष्य को स्पष्ट किया। ऐसे छन्दों में उदाहरणों के बाद उनके निष्कर्ष स्वरूप से नीति की बात रखी जाती है अतः उसमें अधिक बल आ जाना स्वाभाविक है। गंग का एक छन्द उदाहरणार्थ देखा जा सकता है—

फूट गए हीरा की बिकानी कनी हाट-हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयौ।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषन है,
रावन समेत बंस आसमान को गयो।
कहैं कवि गंग दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक में फूटें तें गुमान बाको नै गयो।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २३७।
२ नीति छन्द०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२८।
४ वही, भाग १, पृ० ३९९।
५ वही, भाग १, पृ० ३९९।
६ वही, भाग १, पृ० ३९९।

फूटें तें नरद उठि जात बाजी चौसर को,
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो।[1]

सार, कारणमाला तथा एकावली आदि शृंखलामूलक अलकारों के प्रयोग से भी हिन्दी नीति-साहित्य मे सुन्दर सूक्तियाँ कही गई है। एक-एक उदाहरण लिए जा सकते है।

सार—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुं माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए तिन मुख निकसत नाहिं॥[2]

सूक्तियों की यह शैली भी आकर्षक और प्रभावशाली होती है। इसमें एक के बाद दूसरे को अधिक अच्छा या अधिक बुरा दिखलाया गया है।

एकावली—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाही।
ते न पढे जिन साधु न साधित, दीह दया न हियँ जिन माहीं॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो जु बसै छल छाहीं॥[3]

सूक्तियों की इस शैली मे विषय या वस्तु के ग्रहण और त्याग द्वारा एक माला या श्रेणी बनाकर चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न किया गया है।

कारणमाला—

गुरु ते विद्या होत है, विद्या ते ह्वै ज्ञान।
ज्ञान ते होत है जगत मे सुख सम औ कल्याण॥[4]

इस शैली मे कार्य और कारण की लड़ी या माला द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया जाता है।

कुछ कवियों ने अपने छन्दों में केवल कुछ प्रश्न रख दिए हैं, जिनकी ध्वनि से उत्तर निकलता है और उसमें नीति की बातें रहती है। तुलसी का एक प्रसिद्ध दोहा इस तरह का है—

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥[5]

---

१ **कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २७६।**
२ **रहीम दोहा०, २४०।**
३ **नीति छन्द०।**
४ **नीति छन्द०।**
५ **तुलसी दो०, २६७।**

यहाँ चार प्रश्न मात्र हैं पर इनसे ध्वनि निकलती है कि आग सब कुछ जला सकती है, समुद्र में सब कुछ समा सकता है, स्त्री सब कुछ कर सकती है, और काल सबको खा सकता है। सूक्ति-कथन की यह शैली भी बड़ी सुन्दर है यद्यपि हिन्दी नीति-काव्य में इसका बहुत कम प्रयोग हुआ है।

इसी से मिलती-जुलती सूक्ति-कथन की एक शैली वह भी है जिसमें एक ही छन्द में पहले प्रश्न और फिर उत्तर रहता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक छन्द है—

कवि—हे स्वतन्त्रते ! जन्म तुम्हारा।
कहाँ बता यह प्रश्न हमारा ॥
स्वतन्त्रता—सूर देश हित तजते जहाँ।
प्राण जन्म मेरा है वहाँ ॥[1]

भगवानदीन ने भी इस शैली में कुछ दोहे लिखे हैं। दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

किसे मृत्यु का डर नहीं, किसे न धन की चाह ?
जिसे आत्मा का पता, लगा जो उसकी राह ॥
तथा
किसे हार का डर नहीं, किसे न जय की चाह ?
जय पाकर हँसता न जो, हार करे नहिं आह ॥[2]

इस शैली के छन्द भी हिन्दी नीति-साहित्य में अधिक नहीं मिलते।

अन्योक्ति शैली—नीति-साहित्य की शैलियों में सबसे सुन्दर और शिष्ट अन्योक्ति शैली है।

अन्योक्ति एक अलंकार है। जिस प्रकार सादृश्य बतलाने के लिए सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का काव्य में प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार किसी को बुरा न लगने देने की दृष्टि से व्यंग्यमूलक अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। अलंकारों के व्यंग्यमूलक वर्ग मे अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, गूढ़ोक्ति, तथा काकु वक्रोक्ति—ये सात अलंकार आते हैं। इनमें अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद—कार्य निबन्धना, कारण-निबन्धना, सामान्य निबन्धना, विशेष निबन्धना

---

१ द्विवेदी काव्य माला, पृ० ४२०।
२ नीति के दोहे।

और सारूप्य-निबन्धना होते हैं। पाँचवे भेद सारूप्य निबन्धना का ही दूसरा नाम अन्योक्ति है।

अन्योक्ति में प्रस्तुत का (या से) कथन न कर उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत का (या से) कथन करते हैं।

उदाहरण के लिए दीनदयाल की एक अन्योक्ति ली जा सकती है। कवि किसी ऐसे व्यक्ति को उपदेश देना चाहता है जो अपने ऐश्वर्य एवं उन्नति की दशा में गुणियों या सज्जनों का साथ न कर दुर्गुणियों या दुर्जनों के साथ बुरे कामों में अपना धन बहा रहा है। वह प्रस्तुत या उस व्यक्ति की बात न कर अप्रस्तुत रूप में आम के वृक्ष को चुनता है और उससे कहता है—

ऐसी संगति रावरे संग न सजै रसाल।
कागन के गन ये तुमै घेरि रहे इहि काल।
घेरि रहे इहिकाल कहा कुसुमाकर आये।
रसहु सुगन्ध समेत बृथा तुम देत बहाये।
बरनै दीनदयाल दई गति भई अनैसी।
कोकिल कीर मलिन्द तीन नहिं संगति ऐसी॥[1]

कहना न होगा कि इसमें बाते सभी आम से कही गई हैं पर घटती हैं एक ऐश्वर्यशाली व्यक्ति पर भी। इस प्रकार इस शैली की सहायता से प्रत्यक्ष रूप से कुछ कहे बिना भी सब कुछ कहने में कवि सफल हुआ है।

इस शैली के सबसे अधिक सुन्दर छन्द दीनदयाल के अन्योक्ति कल्पद्रुम में मिलते हैं, पर दीनदयाल के अतिरिक्त तुलसी, रहीम, वृन्द, बिहारी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा सैयद अमीर अली 'मीर' आदि ने भी सुन्दर अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

कथात्मक शैली—पंचतन्त्र, बुद्ध-जातक, प्राकृत-अपभ्रंश की जैन कथाएँ तथा सेख सादी की गुलिस्ताँ आदि इसी शैली में लिखी गई हैं। इसमें एक ऐसी कथा रहती है जिससे निष्कर्ष स्वरूप नीति की कोई बात निकलती है और वह छन्द रूप में कथा के आरम्भ, अन्त या बीच में रहती है। प्रभविष्णुता की दृष्टि से यह शैली सबसे सफल कही जा सकती है। हिन्दी में 'किस्सा तोता मैना' कुछ इसी प्रकार की शैली में है, यद्यपि उसकी नीति स्त्री और पुरुष की बुराई और अच्छाई तक ही सीमित है। मध्ययुग में ईश्वरदास कृत 'सत्यवती की कथा', कुशललाभ कृत 'माधवानल

---

१ अन्योक्ति कल्पद्रुम, ८८।

कामकन्दला चौपई' तथा चतुर्भुजदास कायस्थ कृत 'मधुमालती' में पंचतन्त्र की भाँति नीतिकथाएँ तथा नीति के छन्द भी हैं पर इन ग्रन्थों का मूल स्वर नीति का न होकर प्रेमाख्यानक काव्य का है, अतएव इन्हें नीतिकाव्य न मानकर प्रेमाख्यानक काव्य मानना ही उचित होगा। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग के बहुत से उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ जिनकी रचना उपदेश देने या समाज सुधार करने की दृष्टि से आर्य-समाज तथा अन्य सुधार आन्दोलनों के प्रभाव से की गई थी, इसके अन्तर्गत आती है। इन सबमें अधिक प्रसिद्ध तथा उल्लेख्य लाला श्रीनिवासदास का उपन्यास 'परीक्षा गुरु' है। पर, ये सारी रचनाएँ गद्य के माध्यम मे हुई हैं अतः प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तर्गत नहीं आतीं।

द्विवेदी तथा बाद के युग में भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में भी उपदेशात्मक पद्यबद्ध कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं और हो रही है पर वे प्रायः बाल साहित्य के अन्तर्गत आती है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी लिखित इस प्रकार की कुछ पद्यबद्ध उपदेशात्मक कहानियाँ बड़ी अच्छी बन पड़ी है और इनकी रचना भी केवल बालकों को दृष्टि में रखकर नहीं की गई है, अतः हिन्दी नीति साहित्य मे उपदेशात्मक शैली का प्रतिनिधित्व त्रिपाठी जी की ये पद्यबद्ध कहानियाँ ही करती हैं। व्यक्तिगत रूप से उन्होंने बतलाया था कि इस प्रकार की आठ-दस कहानियाँ उन्होंने लिखी थीं पर अब उनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं। 'क्षमा का अद्भुत परिणाम' तथा 'निर्बल' पर लिखी गई इस प्रकार की पद्यबद्ध दो कहानियाँ किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित 'काव्य-वाटिका' मे संगृहीत है। यहाँ उदाहरण के लिए एक उद्धृत की जा रही है।

क्षमा का अद्भुत परिणाम—

श्री महात्मा वायुजित् ज्ञानी गुणी गम्भीर थे।
शान्त चित्त, क्षमा-विभूषित, नम्र, सज्जन धीर थे॥
एक दिन की बात है, वे जा रहे थे पाथ में।
एक गायक आ मिला ले तानपूरा हाथ में॥ १॥
वायुजित् कहने लगे उससे "सखा! कुछ गाइये।
आप श्रीमुख से कृपा कर ब्रह्म-गीत सुनाइये।"
दुष्ट गायक ने कहा—"रे मूढ! क्या तेरे लिए।
सीखने को गान के हमने परिश्रम हैं किये?" ॥ २॥
वायुजित् बोले कि "भय्या क्रोध करना पाप है।
लाभ कुछ इसमें नहीं बस मानसिक सन्ताप है॥

ब्रह्म कीर्तन से सहज में, दोष-दुख खो जायगा।
शुद्ध जीवन सदन, बस आनन्द का हो जायगा" ॥ ३ ॥
क्रोध कर उसने कहा "शठ ! ज्ञान तू सिखला नहीं।
दूर हट जा, दम्भ यह हरि-भक्ति का दिखला नहीं ॥
तू न राजा है न बाबू है नहीं सरदार है।
गान सुनने का हमारा, क्या तुझे अधिकार है ?" ॥ ४ ॥
वायुजित् ने नम्रता से, शान्ति से उत्तर दिया।
"आपने यह क्रोध तो हे विप्रवर ! नाहक किया ॥
ब्रह्म व्यापक और उसमें व्याप्त सब संसार है।
क्यों न उसका सुयश सुनने का मुझे अधिकार है ? ॥ ५ ॥
"आप जिस प्रभु की कृपा से लोक-प्रिय गायक हुए।
गान द्वारा मुग्धकारी वंश के नायक हुए ॥
चाहिए तो वे कहे यश-गान उस कर्तार का।
क्या उचित है आपको फिर पूछना अधिकार का" ? ॥ ६ ॥
दुष्ट सुनते ही इसे तो लाल-पीला हो गया।
क्रोध के आवेश में सब ज्ञान उसका खो गया ॥
आँख कर अंगार सी खल द्वेष में दहने लगा।
वक्र मुख करके अधर्मी दुर्वचन कहने लगा ॥ ७ ॥
क्रोध में उन्मत्त होकर चित्त में अभिमान कर।
माथ में मारा अचानक तानपूरा तान कर ॥
तान पूरा टूटने से सैकड़ों दी गालियाँ।
रक्त-रंजित वायुजित् को देख पीटी तालियाँ ॥ ८ ॥
धार शोणित की बही, मुख लालिमा ने छा लिया।
नीच के उपदेश का फल वायुजित् ने पा लिया ॥
व्यंग से हँसता हुआ वह दुष्ट अपने घर गया।
वायुजित् का शोक से सन्तोष से मन भर गया ॥ ९ ॥
वायुजित् निर्बल न थे जो चाहते सकते सता।
थे परन्तु सुशील वे आदर्श सज्जन देवता ॥
इसलिए घर जा उन्होंने मौन हो सब दुख सहा।
दूसरे ही दिन बुलाकर दास से ऐसा कहा,—॥ १० ॥
"दो रजत मुद्रा तथा लेकर मिठाई थाल भर।
तुम कथक को दे, हमारी बात कहना, ख्याल कर—

आपने जो वायुजित् को दुर्वचन कल था कहा।
हो गया होगा कदाचित् आपका मुख कटु महा ॥ ११ ॥
"तो दया करके मिठाई थाल भर यह लीजिए।
और खाकर के सुमुख को मित्र, मीठा कीजिए ॥
मारने मे तानपूरा भी निकम्मा हो गया।
लीजिए मुद्रा इसी से फिर मँगा लेना नया" ॥ १२ ॥
दो रजत मुद्रा तथा लेकर मिठाई थाल भर।
दास देने को गया उस दुष्ट के तत्काल घर ॥
कह सुनाया सब सन्देश वायुजित् का प्रेम से।
फिर कहा,—"पूछा उन्होंने आप तो हैं क्षेम से ?" ॥ १३ ॥
सोचकर कल की कथा, आश्चर्य में होने लगा।
वेदना मन में हुई वह पातकी रोने लगा ॥
आँख से आँसू निकल कर गाल पर झडने लगे।
कण्ठ से उसके निकल ये शब्द सुन पड़ने लगे ॥ १४ ॥
"हाय ! मैंने बिना कारण वायुजित् को दुख दिया।
पर सहज ही में उन्होंने जीत आज मुझे लिया ॥
क्या रहेगा सुखी करके पुरुष खोटे काम को।
भोगना होगा मुझे इस पाप के परिणाम को" ॥ १५ ॥
कह सका इतना अधम बस कण्ठ उसका भर गया।
दौड़ता रोता हुआ वह वायुजित् के घर गया ॥
"यह महा अपराध मेरा क्षमा हे प्रभु ! कीजिए।
आ पडा अब मैं शरण में ज्ञान-भिक्षा दीजिए" ॥ १६ ॥
लोट कर पग पर क्षमा माँगी बुरे व्यवहार की।
शिष्ट के सत्संग से सुर हो गया वह नारकी ॥
युद्ध से अरि जीतना भाता न श्रेष्ठ उदार को।
किन्तु सज्जन सद्गुणों से जीतते संसार को ॥ १७ ॥

मुकरी शैली—मुकरी या मुकरनी कविता की उस शैली को कहते है जिसमें कथित बात से 'मुकर कर' दूसरी बात कही जाय। अमीर खुसरो की मुकरियाँ हिन्दी में प्रसिद्ध है।

नीति विषयक मुकरियाँ केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा रामचरित उपाध्याय ने लिखी हैं, जिनमें प्रधान अँग्रेजी (साहित्य और शिक्षा), बेकारी, खिताब, सरकारी

अफसर, बाबू, अफीम, विधवा-विवाह, सज्जन, पण्डित तथा मद्यपान आदि के विषय में हैं। यहाँ तीन उदाहरण दिए जा रहे हैं—

सरकारी अफसर—

मतलब की ही बोले बात।
राखे सदा काम की घात।
डोलै पहिनै सुन्दर समला।
क्यों सखि साजन नहिं सखि अमला ॥[1]

खिताब (सर आदि के)—

इनकी उनकी खिदमत करो।
रुपया देते देते मरो।
तब आवै मोहिं करन खराब।
क्यों सखि साजन नहीं खिताब ॥[2]

पण्डित—

परगुण को गाते रहते हैं।
दोष किसी का नहिं कहते है।
निज कुल को करते है मण्डित।
क्यों सखि सुरगण नहिं सखि पण्डित ॥[3]

मुकरी शैली का भारतेन्दु तथा रामचरित उपाध्याय ने नीति के लिए अपवाद स्वरूप ही प्रयोग किया है, यह इसके लिए अन्योक्ति या सूक्ति की भाँति उपयुक्त शैली नहीं कही जा सकती।

प्रकृति-चित्रण के साथ—संस्कृत साहित्य में प्रकृति-चित्रण के साथ नीति-कथन का उदाहरण प्रायनतः केवल भागवत में मिलता है। हिन्दी में भी इसका एकमात्र उदाहरण रामचरित मानस के किष्किंधा काण्ड के वर्षा और शरत वर्णन में मिलता है। वहाँ कवि को अभिप्रेत है प्रकृति-चित्रण पर उदाहरण तथा अन्य अलंकारों के लिए अप्रस्तुत रूप में नीति की बातें कही गई हैं। यहाँ दोनों वर्णनों से कुछ अंश देखे जा सकते हैं।

वर्षा वर्णन—

दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।

---

१ **महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग**, पृ० ६।
२ **भारतेन्दु-सुधा**, पृ० २२।
३ **कविता कौमुदी**, भाग २, पृ० २७२।

बरषहिं जलद भूमि निअराए।
जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सन्त सह जैसें।
छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई।
भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी।
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा।
सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।
हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बिवाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ।[1]

शरद् वर्णन—

उदित अगस्ति पंथ जल सोषा।
जिमि लोभहि सोषइ सन्तोषा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा।
सन्त-हृदय जस गत मद मोहा॥
... ...
पंक न रेनु सोह असि धरनी।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी।
जल संकोच बिकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना॥
... .
सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।
चक्रवाक मन दुख निसि पेखी।
जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी।[2]

प्रकृति-चित्रण के साथ नीति कथन की शैली है तो अच्छी पर इसका प्रयोग अधिक नहीं हुआ है।

---

१ मानस, ४. १४।
२ मानस, ४. १७।

अन्त में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त शैलियों में हिन्दी नीति-काव्य की प्रतिनिधि शैलियाँ केवल उपदेशात्मक, सूक्त्यात्मक तथा अन्योक्ति ही हैं। औरों का प्रयोग आनुषंगिक रूप से ही हुआ है।

(ग) अलंकार—

काव्य में अलंकारों का प्रयोग मूलतः अभिव्यक्ति की पूर्णता और शैली में सौन्दर्य एवं आकर्षण के लिए किया गया है। "वह फूल सा कोमल है" कहने में कहने वाला कोमलता की अधिक सुन्दर और पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। 'वह कोमल है' में भी कोमलता का उल्लेख है, पर 'फूल सा' न कहने से कोमलता की उतनी सफल अभिव्यक्ति नहीं है। यथार्थतः काव्य में अलंकार के प्रयोग की मूल भावना यही होनी चाहिए। पर, इसके अतिरिक्त चमत्कार के लिए, या साधन न होकर साध्य रूप मे, अलंकार-प्रयोग की प्रवृत्ति भी साहित्य में मिलती है, जिसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी नीति-काव्य में प्रमुखतः पहली प्रवृत्ति ही मिलती है। चमत्कारार्थ या साध्य रूप में अलंकार-प्रयोग के दर्शन अपवाद-स्वरूप ही कहीं-कहीं हो जाते हैं।

पीछे कहा जा चुका है कि नीति-काव्य में दो प्रकार की शैलियाँ प्रमुख रूप से मिलती है। एक शैली तो सीधे उपदेश की है, जिसमें बिना किसी उदाहरण आदि के बात कही जाती है और दूसरी सूक्ति की है, जिसमें उदाहरणों के सहारे अभिव्यक्ति को अधिक पूर्ण, आकर्षक और प्रभावशाली बना दिया जाता है। अलंकारों का स्वाभाविक, सुन्दर और काव्योचित प्रयोग सूक्त्यात्मक शैली की नीति कविता में ही है। उपदेशात्मक नीति कविता में प्रायः अलंकार मिलता ही नहीं और यदि मिलता भी है तो बहुत कम।

हिन्दी नीति-काव्य के बहुप्रचलित और प्रमुख अलंकार अन्योक्ति, अर्थान्तर-न्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति, विशेषोक्ति, काव्यलिंग, विकल्प तथा विनोक्ति हैं। यहाँ संक्षिप्त विवेचन के साथ हिन्दी नीति-काव्य से उनके उदाहरण दिए जा रहे हैं।

अन्योक्ति—हिन्दी नीति-काव्य का यह सबसे प्रचलित अलंकार है। प्रचलन के अतिरिक्त एक और दृष्टि से भी इसका नीति-काव्य में विशेष महत्व है। नीति-काव्य में उपदेश की बातें रहती हैं, और इस अलंकार का सहारा न लेने पर उपदेश की बात किसी व्यक्ति के प्रति सीधे कही जाती है, जो न तो बहुत शिष्ट ही है और न बहुत शोभन ही। इसके विपरीत अन्योक्ति रूप में कहने पर बात जिसके प्रति कहनी रहती है, उससे न कही जाकर उसके उपयुक्त उपमान या अप्रस्तुत को सम्बोधित करके कही जाती है, और केवल ध्वनि से यथार्थ व्यक्ति पर घटित होती है। इस

प्रकार इस अलंकार के आधार पर कही गई नीति या उपदेश की बात जिसके प्रति कही जाती है उसे बुरी भी नहीं लगती और प्रभाव भी डालती है।

नीति-काव्य के लिए अन्योक्ति सर्वाधिक उपयुक्त अलंकार है। इसी कारण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी आदि सभी के नीतिकारों ने न्यूनाधिक रूप से इसका प्रयोग किया है। हिन्दी में तुलसी, रहीम, वृन्द, बिहारी, वियोगीहरि, दुलारेलाल भार्गव, अमीर अली 'मीर' तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि बहुतों ने इस अलंकार का सफल प्रयोग किया है, पर, दीनदयाल गिरि इसके सम्राट् कहलाने के अधिकारी हैं। उनका अन्योक्ति-कल्पद्रुम हिन्दी नीति-काव्य मे अन्योक्ति अलंकार के प्रयोग की दृष्टि से सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

अन्योक्ति का शाब्दिक अर्थ है 'अन्य के प्रति कही गई उक्ति' अर्थात् इस अलंकार में उक्ति कही जाती है किसी और पर, किन्तु घटित होती है किसी और पर। उदाहरण के लिए दीनदयाल गिरि की एक अन्योक्ति है—

भूले अब घन तुम किते प्रथमै याको पालि।
लखत रावरी राह को सूखि गयो यहु सालि॥
सूखि गयो यहु सालि अहो अजहूँ नहिं आए।
दै दै नाहक नीर सिन्धु में सुदिन गंवाए॥
बरनै दीनदयाल कहा गरजत हौ फूले।
समय न आए काम काम कौने भ्रमि भूले॥[1]

इसमें कवि धनिक से कहना चाहता है कि ऐ धनिक जिन्हे आवश्यकता हो उन्हें दो। जो स्वयं धनी है उन्हे देना व्यर्थ है। पर वह सीधे धनी से न कहकर बादल से कहता है। इसी प्रकार बिहारी का एक दोहा है—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहंग विचारि।
बाज पराए पानि परि तू पंछीहि न मारि॥[2]

यहाँ कवि को अभिप्रेत है दुष्ट स्वामी के संकेत पर अनर्थ करने वाले सेवक को उपदेश देना, पर वह उससे न कहकर बाज (अन्य या अप्रस्तुत) से कह रहा है।

हिन्दी नीति-काव्य में अन्योक्ति के लिए चुने गए अप्रस्तुत कई प्रकार के है। उनके मुख्य वर्ग निम्न हैं—

१. पौराणिक वस्तुएँ—पारस, चिन्तामणि तथा कल्पद्रुम आदि।

२. प्राकृतिक वस्तुएँ—पानी, मेघ, वायु, सूर्य तथा चन्द्र आदि।

---

१ अन्योक्ति कल्प०, पृ० ४५।

२ बिहारी सतसई, ६६६।

३. व्यवसायी – किसान, कुलाल, चित्रकार, माली, रजक, तमोली तथा जौहरी आदि।

४. वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

५. पशु—सिंह, हाथी, घोड़ा, मृग तथा सियार आदि।

६. पक्षी—हंस, चातक, तोता, बाज, काग, कोकिल तथा शुक आदि।

७. जन्तु—चूहा, साँप तथा नेवला आदि।

८. कीड़ा—खटमल, तथा घुन आदि।

९. ऋतु—वसन्त, पावस, गर्मी तथा बरसात आदि।

१०. समय—संध्या, दोपहर तथा प्रात: आदि।

११. पेड़—अशोक, कदली तथा चन्दन आदि।

१२. फूल—कमल, चम्पा तथा केतकी आदि।

१३. बाजा—मृदंग, ढोल तथा वंशी आदि।

१४. नदी—गंगा, कर्मनाशा तथा यमुना आदि।

अर्थान्तरन्यास—अर्थान्तरन्यास का अर्थ है 'अर्थान्तर' (अर्थात अन्य अर्थ) का 'न्यास' (अर्थात् रखना)। इस अलंकार में एक अर्थ (सामान्य या विशेष) के समर्थन के लिए दूसरा अर्थ (विशेष या सामान्य) रखा जाता है। हिन्दी नीति-काव्य में इसका प्रयोग प्राय: हुआ है। कुछ उदाहरण है—

सामान्य का विशेष से समर्थन—

छोटेन सों सोहै बड़े कहि रहीम यह रेख।
महसन को हय बाँधियत लै दमरी की मेख॥[1]
बड़े न हूजै गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़ो न जाय॥[2]
झूठे ही करिये जतन कारज बिगरै नाहि।
कपट पुरुष ज्यों खेत पर देखत मृग भज जाहि॥[3]

विशेष का सामान्य से समर्थन—

कौन बड़ाई जलधि मिलि गंग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहिं घटी, पर घर गए रहीम॥[4]

१ रहीम दोहा०, ५९।
२ बिहारी सत०, ६३५।
३ वृन्द सत०, ३७२।
४ रहीम दोहा०, ४४।

कीजै गमन सुमानसर यह दुखदायक ताल।
हंस वंस अवतंस हो मौन गहो इहि काल॥
मौन गहो इहि काल काक बल खल या ठावें।
अति कठोर बर जोर सोर चहुँ ओर मचावें॥
बरनै दीनदयाल इन्हें तजि सुख सों जीजै।
सठ संगति अति भीति भूलि तहँ गमन न कीजै॥[1]

हिन्दी नीति-काव्य मे अर्थान्तरन्यास का प्रयोग 'सामान्य का विशेष से समर्थन' रूप में ही विशेष हुआ है। विशेष का सामान्य से समर्थन कम मिलता है।

उदाहरण--उदाहरण अलंकार में कोई सामान्य बात या वाक्य कहकर "ज्यों" या "जैसे" आदि शब्दों के साथ, उसका कोई विशेष उदाहरण देकर समता या एकता दिखाई जाती है। नीति-काव्य का यह भी बहुप्रयुक्त अलंकार है। कुछ उदाहरण हैं—

अनुचित उचित रहीम लघु करहिं बड़न के जोर।
ज्यों ससि के संजोग ते पचवत आग चकोर॥[2]
रहिमन यों सुख होत है बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत॥[3]
मिलै जो सरलहि सरल ह्वै कुटिल न सहज बिहाइ।
सो सहेतु ज्यों बक्रगति व्याल न बिलै समाइ॥[4]
बुरो बुराई जो तजै तो चित खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि गनै लोग उतपात॥[5]

इसके विपरीत विशेष कह कर सामान्य से भी समता दिखाने की प्रवृत्ति कुछ कवियों में मिलती है—

बूंद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे॥[6]

दृष्टान्त—इस अलंकार में कोई सामान्य बात कह कर दृष्टान्त देते हैं, पर, उदाहरण की भाँति ज्यों, जैसे, यों आदि वाचक शब्द नहीं रखते, साथ ही अर्थान्तर-

---

१ **अन्योक्ति कल्प०**, पृ० १७।
२ **रहीम दोहा०**, ५।
३ **वही**, २२६।
४ **तुलसी दोहा०**, ३३४।
५ **बिहारी सत०**, ६५३।
६ **मानस**, ४. १६. २।

न्यास की भाँति एक वाक्य का दूसरे से समर्थन भी नहीं करते। केवल दोनों में समता का भाव रहता है। नीति-काव्य में दृष्टान्त के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं—

दुसह दुराज प्रजानि को क्यों न बढ़ै अति द्वन्द।
अधिक अंधेरो जग करै मिलि मावस रवि चन्द ॥[1]
रहिमन अँसुआ नेन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ॥[2]
सन्त न छाँड़ै सन्तई, जै कोटिक मिलें असन्त।
चन्दन भुवँगा बैठिया सीतलता न तजन्त ॥[3]
रज्जब जग जलता मिलै साधू सीतल अंग।
चंदन विष व्यापै नही जो कोटिक भिदै भुवंग ॥[4]

प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है प्रति वस्तु या प्रत्येक वाक्यार्थ के प्रति उपमा। इसमें उपमेय और उपमान के पृथक-पृथक दो वाक्यों में एक ही समान धर्म शब्द भेद द्वारा कहते है। हिन्दी नीति-काव्य का यह भी सुपरिचित अलंकार है। उदाहरण है—

चटक न छाँडत घटत हू सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु परै रँग्यो चोल रंग चीर ॥[5]
कंटक करि करि परत गिरि साखा सहस खजूरि।
मरहिं कुनृप करि करि कुनय सो कुचालि भवभूरि ॥[6]

लोकोक्ति—किसी भी प्रसंग में किसी लोकोक्ति के प्रयोग से लोकोक्ति अलंकार होता है। कुछ उदाहरण है—

दीबो अवसर को भलो जासो सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम ॥[7]
ता बिन होय न काज सिध, जासौं लागी बात।
गुरु बिन होत न चौथ व्रत, दूलह बिना बरात ॥[1]

---

१ बिहारी सत०, ६३२।
२ रहीम दोहा०, १७२।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५१।
४ रज्जब जी की बानी, पृ० ७६।
५ बिहारी सत०, ६१६।
६ तुलसी दोहा०, ५१४।
७ वृन्द सत०, १८।

अग्रदास तथा प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी नीति कविता में इस अलंकार का सबसे अधिक प्रयोग किया है। अग्रदास की प्रत्येक कुण्डलिया एक लोकोक्ति से आरम्भ हुई है और अन्त में भी वही लोकोक्ति आई है—

अन्धा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहत गुरु शिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने॥
बुरो विप्र लौ रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नींच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै॥
अग्रजीव अधा तलो, बँधे सो करै उपाय।
अन्धा बाटे जेवरी पीछे बाछा खाय॥[२]

प्रतापनारायण मिश्र की "अनूठी कहावतें" की भी प्रत्येक कविता के अन्त में एक-एक लोकोक्ति हैं—

जिहि सन पावहु कछु गुन ज्ञान।
तेहि आगे न बनो बुधिमान॥
न तु वह धरिहि तुम्हार कुनाँव।
मेरी बिल्ली मुझी से म्याँव॥[३]

विशेषोक्ति—ऐसी उक्ति जिसमे कारण रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न विशेषोक्ति है। नीति-काव्य में इसका भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण है—

रहिमन कबहुँ बड़ैन के नाहिं गर्व को लेस।
भार धरै संसार को तऊ कहावत सेस॥[४]
कोऊ दूर न करि सकै विधि के उलटे अंक।
उदधि पिता तउ चन्द को धोय न सको कलंक॥[५]
सरस्वति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै बिन खरचै घटि जात॥[६]

---

१ वृन्द सत०, ६८३।
२ सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिट्रेचर, बुक २, पृ० ३०२।
३ अनूठी कहावतें, पृ० १२।
४ रहीम दोहा०, १७८।
५ वृन्द सत०, ३०६।
६ वही, ६०६।

काव्यलिंग—इस शब्द में लिंग का अर्थ 'कारण' है। काव्यलिंग अलंकार में किसी बात को कह कर उसका ज्ञापक कारण कहा जाता है। उदाहरण है—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात है या पाए बौराय॥[1]
पर जन सौ सो मन करै परिहरि हरि सों प्रीति।
भूठे सों मानै हरष अहो जगत विपरीत॥[2]

विकल्प—जहाँ इस प्रकार वर्णन हो कि यह होगा या वह, विकल्प अलंकार होता है। नीति-काव्य से कुछ उदाहरण है—

ऊँची जाति पपीहरा पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घनश्याम सो कै दुख सहै सरीर॥[3]
साधु कहावन कठिन है लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़ै तौ चाखै प्रेम रस गिरै तो चकनाचूर॥[4]
द्वै ही गति है बड़ेन की कुसुम मालती भाय।
कै सब के सिर पर रहै कै बन माँहि बिलाय॥[5]

बिनोक्ति—जहाँ बिनु, रहित, शून्य, बिना, हीन तथा रिक्त आदि शब्दो के द्वारा एक के बिना दूसरे का शोभित या अशोभित होना कहा जाय, बिनोक्ति अलंकार होता है। कुछ उदाहरण हैं—

(क) किसी के बिना अशोभित होना—

ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिनु हिरदो सूनो।
कुल सूनो बिनु पुत्र पत्र बिन तरुवर सूनो॥
गज सूनो इक दन्त ललित बिन सायर सूनो।
विप्र सुनो बिन बेद, वृक्ष बिनु पुहुप बिहूनो॥
हरिनाम भजन बिनु संत, अरु घटा बिनु सूनी दामिनी।
बैताल कहै विक्रम सूनो, पति बिनु सूनी कामिनी॥[6]

---

१ बिहारी सत०, ६५१।
२ वृन्द सत०, ७००।
३ तुलसी (नीति छन्द०)।
४ कबीर (वही)।
५ वृन्द सत०, ४७५।
६ बैताल, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४००।

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी ॥[1]

(ख) किसी के बिना शोभित होना—

रोग बिना यह गात ज्यों तम विहीन निसि होय।
लाज बिना गनिका सुत्यो निलज्जता बिनु जोय ॥[2]

इन प्रमुख अलंकारों के अतिरिक्त और बहुत से अलंकारों के भी हिन्दी नीति-काव्य में यत्र-तत्र प्रयोग मिलते है। यहाँ कुछ प्रधान के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

परिकरांकुर—

दीन हीन जानै कहा सेइ राज-दरबार।
उनकै तौ आधार बस दीन बन्धु कै द्वार ॥[3]
कलपि कलपि भूखन मरति तुव सन्तति अभिराम।
कहा जानि धार्‌यो जननि, अन्नपूरणा नाम ॥[4]

परिसंख्या—

पावस ही में धनुष अब, सरित-तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग नौरस ही में बीर ॥[5]
शुचि में गलानि बसै प्राप्ति में हानि बसै।
जय में हारि सुन्दरता में छबि छीनता ॥
रोग बसै भोग में, संयोग में वियोग बसै।
गुण में गरब बसें सेवा माहिं दीनता ॥[6]

सार—

रहिमन बे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ॥[7]

कारणमाला—

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह विश्राम ॥[8]

---

१ तुलसी (नीति छन्द०)।
२ नीति छन्द०।
३ वियोगी हरि, नव सतसई सार, पृ० २६६।
४ वही, पृ० २४६।
५ वियोगी हरि, नव सतसई सार, पृ० २७२।
६ बनारसी दास, (नीति छन्द०)।
७ रहीम दोहा०, २४०।
८ तुलसी (नीति छन्द०)।

एकावली—

सोभति सो न सभा जहँ बृद्ध न, बृद्ध न ते जुपढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न हियँ जिन माहीं॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो तु बसै छल छाँही॥[1]

विभावना—

बिना कहे हूँ सत पुरुष पर की पूरे आस।
कौन कहत है सूर्य को घर-घर करत प्रकास॥[2]

विरोधाभास—

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
बारे उजियारो लगें, बढ़े अँधेरो होय॥[3]

विषम—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों त्यों उज्जल होय॥[4]

यथासख्य—

ह्वेय भले को सुत बुरो भलो बुरो के होय।
दीपक के काजल प्रकट कमल कीच ते जोय॥[5]

मिथ्याध्यवसित—

खल बचननि की मधुरई चाखि साँप निज श्रोन।
रोम रोम पुलकित भए कहत मोद गहि मौन॥[6]

विधि—

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।[7]

रूपक—

जगु जलनिधि जल मोह महात्रस्ना तरंग धर।
तट दुहु, दिसि मदमान लोभ अज्ञान भवँर भर।

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, ४५०।
३ रहीम दोहा० ८२।
४ बिहारी सत०, १८३।
५ वृन्द, नव सतसई सार, पृ० १८९।
६ मतिराम, नव सतसई सार, पृ० १६१।
७ मैथिलीशरण गुप्त, (नीति छन्द०)।

काम क्रोध अति जंतु गहि करवर छलबोरहिं ।
मन विलास बह पवन कलुष बवंडर झकझोरहिं ।
लै विषम सत्रु तेहि माँझ पर कहि नरहरि केहि सँभरइ ।
पुरुषोत्तम परम कृपाल बिन एहि अवत्थ को उद्धरइ ।।[1]

व्यतिरेक—

सत हृदय नवनीत समाना ।
कहा कविन पै कहत न जाना ।
निज परिताप द्रवै नवनीता ।
पर दुख द्रवै सुसंत पुनीता ।।[2]

दीपक—

यह रहीम निजसंग लै जनमत जगतन कोय ।
बैर प्रीति अभ्यास जस होत होत ही होय ।।[3]

मुद्रा—

सुबुध बीच परिदुहुन को हरत कलह रस पूर ।
करत देहरी दीप ज्यों घर आंगन तम दूर ।।[4]

यमक—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय ।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय ।।[5]
रहिमन अपने पेट सों बहुत कह्यौ समुझाय ।
जो तू अनखाए रहे तोसों को अनखाय ।।[6]

श्लेष—(क) शब्द—

चरण धरत चिन्ता करत चितवत चारहुँ ओर ।
सुवरण को देखत फिरें कवि, व्यभिचारी, चोर ।[7]
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।
बारे उजियारो लगे बढ़े अँधेरो होय ।।[8]

---

१ नरहरि, अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २६४ ।
२ तुलसी, नीति छन्द० ।
३ रहीम दोहा०, १५८ ।
४ वृन्द, नव सतसई सार, पृ० १८७ ।
५ बिहारी सत०, ६५१ ।
६ रहीम दोहा०, १६९ ।
७ नीति छन्द० ।
८ रहीम, नव सतसई सार, पृ० ४३ ।

(ख) **अर्थ**—

पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम ॥[1]

लाटानुप्रास—

पराधीन जो जनु, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जौ जनु नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु ॥[2]

वृत्यनुप्रास—

ससि सुकेस साइस सलिल मान सनेह रहीम।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात है घटत जटत घटि सीम।[3]

(घ) 'छन्द'—

काव्य का प्राण तो उसका मूल भाव है पर शरीर की भाँति उसके बाह्य उपकरणों का भी महत्व कम नहीं है। इन बाह्य उपकरणों में छन्द का स्थान प्रमुख है। एक ही भाव दो भिन्न छन्दों में यदि बाँधा जाय तो एक में यदि वह खिल उठता है तो दूसरे में उसके सौन्दर्य में कमी आ जाती है। यही कारण है कि भारत में बहुत पहले से छन्द की महता स्वीकार की गई है और इसे वेदांगों में स्थान दिया गया है।

अन्य बहुत सी परम्पराओं की भाँति हमारी छन्द परम्परा भी वेदों तक जाती है। प्राचीन साहित्य में वैदिक और लौकिक छन्दों के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक छन्द वर्ण प्रधान थे। लौकिक छन्द से अर्थ उन छन्दों का लिया जाता है जो वेदों में नहीं प्रयुक्त हुए है, पर संस्कृत साहित्य मे जिनके प्रयोग मिलते है। वैदिक छन्दों से ही विकसित होने के कारण इनमें भी वर्ण की प्रधानता है। मात्रिक छन्दों की मूल परम्परा प्राकृत साहित्य से आरम्भ होती है। प्राकृत से ही प्रभावित होने के कारण बाद के संस्कृत साहित्य के भी कुछ छन्द मात्रिकता की ओर झुक गए। प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों में मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। हिन्दी ने अपना जीवन-रस संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों से ही लिया है अतः इसमें मात्रिक और वार्णिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। मध्ययुगीन साहित्य अपेक्षाकृत प्राकृत अपभ्रंश से अधिक निकट था और परम्परागत छन्दों को ही उसने अपनाया। अतः उसमें मात्रिक छन्दों की प्रधानता है पर आधुनिक युग में संस्कृत के प्रभाव के कारण वर्णवृत्तों की संख्या में वृद्धि हो गई है।

---

१ नीति छन्द०।
२ वीर सत०, पृ० ४८।
३ रहीम दोहा०, २७३।

हिन्दी नीति-काव्य के प्रधान छन्द दोहा, कुण्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, कवित्त, चौपाई तथा बरवै हैं। यहाँ इन पर विचार किया जा रहा है।

दोहा—

दोहा हिन्दी नीति-काव्य का सबसे प्रिय और प्रचलित छन्द है। अपभ्रंश में भी नीति और उपदेश के क्षेत्र में प्रायः इसी का एकाधिकार सा रहा है। दोहे का प्राचीनतम प्रयोग कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के प्राकृत छन्दों में मिलता है। कुछ विद्वान इस भाग को प्रक्षिप्त मानते हैं। कुछ भी हो इतना तो कहा ही जा सकता है कि ८वीं शती से पहले इसका प्रयोग होने लगा था। सिद्धों के दोहाकोष से भी यह बात सिद्ध हो जाती है।

दोहे के दूहा, दुहा तथा दोहरा आदि नाम भी मिलते हैं। दोहा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। नरोत्तमदास स्वामी इसका सम्बन्ध द्विधा से मानते हैं।[1] द्विधा का अर्थ वे दो प्रकार अर्थात् दो पंक्तियाँ मानते हैं। श्री पी० डी० गुणे ने इसे संस्कृत शब्द 'दोधक' से संबद्ध माना है।[2] कुछ मतों से दोहा दो (सं० द्वि०) + हा (प्रत्यय) से बना है।[3] कुछ अन्य विद्वान इसे संस्कृत द्विपद्यक या 'द्विपदिक' से भी व्युत्पन्न होने का अनुमान लगाते हैं। अधिक वैज्ञानिक व्युत्पत्ति संस्कृत 'द्विपथक' से ज्ञात होती है। 'द्विपथक' से 'द्विपथा' 'दुवहअ' और फिर दोहा इसके विकास की दशा हो सकती है। 'दुवहअ' रूप 'वृत्तजाति समुच्चय' तथा स्वयंभू छन्द आदि ग्रन्थों में मिलता भी है।

दोहा छन्द के मुक्तकों तथा प्रबन्धों सभी में अतिप्रचलित होने का कारण है इसकी उपयुक्तता। बहुत छोटे छन्द भावों को ठीक ढंग से व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त होते हैं और बहुत बड़े छन्दों में भाव इतने बिखर जाते हैं कि संक्षिप्तता रहित होने से उनकी चुभने की सारी तेजी समाप्त हो जाती है। 'दोहा' न तो श्री आदि की भाँति बहुत छोटा होता है और न सवैया या घनाक्षरी की भाँति बहुत बड़ा। दोहे की सामासिकता पर ही रीझकर रहीम ने कहा था—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिटि कूदि कढ़ि जाहिं॥[4]

पर साथ ही दोहा लिखना कठिन भी है, विशेषतः मुक्तकों में जहाँ पूरे भाव को उसी में भरना रहता है। रहीम ने इसी ओर लक्ष्य करके कहा है—

---

१ हिन्दुस्तानी, १९३३।
२ भविसयत्त कहा, सं० पी० डी० गुणे, १९२३ की भूमिका।
३ हिन्दी शब्दसागर।
४ रहीम दोहा०, १०१।

रूप कथा पद चारु पट कंचन दोहा लाल।
ज्यों ज्यों निरखत सूक्ष्म गति मोल रहीम बिसाल ॥[1]

अर्थात् दोहा लाल आदि की भाँति ऐसा होना चाहिए कि ज्यों-ज्यों देखा जाय उसकी खूबियाँ अधिकाधिक दिखाई देती जाँय और यह तभी सम्भव है जब सागर को गागर में भरा जाय।

इस प्रकार दोहा एक ओर तो बहुत सुन्दर और आकर्षक छन्द है पर दूसरी ओर लिखने में बहुत कठिन भी है।

हिन्दी नीति-काव्य में कबीर तथा दादू आदि सन्त कवियों ने अपनी नीति-साखियों में, रहीम, तुलसी, जमाल तथा हरिऔध आदि ने अपनी दोहावलियों एवं तुलसी, बिहारी, वृन्द, मतिराम, भूपति, विक्रमासाह, रामसहाय, रसनिधि, रामचरित्र उपाध्याय, वियोगी हरि आदि ने अपनी सतसइयों में इसी का प्रयोग किया है।

दोहा एक मात्रिक छन्द है। इसमें २४, २४ मात्राओं के दो चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में १३ और ११ मात्राओं के बाद यति का नियम है। इस प्रकार इसमें कुल ४८ मात्राएँ होती हैं और जहाँ तक अक्षरों का प्रश्न है कम से कम २४ और अधिक से अधिक ४६ अक्षर हो सकते है। यदि थोड़ी और सूक्ष्मता में उतरें तो दोहे के पहले और तीसरे अर्थात् विषम चरणों के आदि में जगण नहीं होना चाहिए और अन्त में गुरु लघु अवश्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ—

रहिमन विपदाहू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय ॥[2]

दोहे में पहले और तीसरे चरण की बनावट दो प्रकार की होती है। एक विषमकलात्मक और दूसरी समकलात्मक। विषमकलात्मक में आरम्भ में 'ISI' या 'SS' या 'III' होता है। इसकी बनावट ३ + ३ + २ + ३ + २ = १३ होती है।

नीति-काव्य में इसके उदाहरण भी मिलते हैं—

मूरख सुत तें बरु सुता, दोनों नाहिं समान।[3]

समकलात्मक में आदि में 'IIS' या 'SS' या 'III' रहता है। उदाहरण—

जैसी संगति कीजिये, तस लहिए परिनाम।[4]

---

१ रहीम दोहा०, २४७।
२ वही, २३९।
३ ब्रज सत०, पृ० ५६।
४ वही, पृ० १९३।

एकादश कलात्मक सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों की बनावट भी दो प्रकार की मिलती है। एक तो ४+४+३ और दूसरी ३+३+२+३। उदाहरण हैं—

१ रहिमन सो न कछू गनै, जासों लागे नैन।[1]

२ वरु रहीम कानन भलो, बास करिय फल भोग।[2]

आचार्यों ने पहले और दूसरे चरण के आरम्भ में जगण का आना दोष माना है, विशेषतः जब काव्य नरकाव्य हो। हिन्दी नीति-काव्य में इसके उदाहरण हैं यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है।

कहाँ सुदामा वापुरो कृष्ण मिताई जोग।[3]

इस प्रकार के दोहे नीति ही नहीं, और भी मुक्तक या प्रबन्ध काव्यों में बहुत कम मिलते हैं। पर, यह इसलिए नहीं कि दोष जानकर लोगों ने छोड़ दिए हैं, बल्कि इसलिए कि इसकी गति में वह स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं है जो इसके न रहने पर दोहे में आता है। जिस दोहे मे यह दोष हो उसे आचार्यों ने 'चंडालिनी' नाम दिया है। कुछ आचार्यों ने और गहराई में जाकर इस दोष को कम करने के लिए यह नियम बनाया है कि यह दोष पूर्णतया तब घटित होता है जब जगण एक शब्द में आवे। ऊपर के उदाहरण में 'कहाँ सु' में जगण है पर यह एक शब्द नहीं है अतः दोष कम हो गया है, फिर भी इसे त्याज्य तो कहा ही जायगा। इस दोष के शुद्ध उदाहरण के लिए एक अज्ञात कवि का दोहा लिया जा सकता है—

कहै न मन की बात अरुभेद न अपनौ देय।
सुबात मधुरी बोल कै जीति सबन कौ लेय॥[4]

इसकी दूसरी पंक्ति मे सुबात शब्द जगण का उदाहरण है।

दोहे के अन्त में गुरु लघु से इतर भी यदि कुछ आवे तो दोष माना जाता है। कबीर में यह दोष मिल जाता है। उदाहरण है—

सुखिया सब संसार है खाये अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै॥[5]

इसमें अन्त में गुरु गुरु है।

---

१ रहीम दो०, २४२।

२ वही, २५३।

३ वही, ६६।

४ नीति छन्द ०।

५ कबीर ग्रन्थ, पृ० ११।

मात्रा-स्खलन दोष भी नीति के दोहों में कहीं-कहीं मिल जाते हैं। ऊपर का उदाहरण इसी श्रेणी का है।

अपभ्रंश के प्रसंग में दोहे का विवेचन करते हुए याकोबी ने इसके पश्चिमी और पूर्वी दो भेद किए हैं। हिन्दी में इस प्रकार के तो भेद नहीं किए गए है पर गुरु लघु के प्रयोग के अनुसार भेद हैं। दोहे में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चारों चरणों में ४८ मात्राएँ होती हैं। अब यदि दोनों में २० गुरु (४० मात्राएँ) तथा आठ लघु आवें तब भी ४८ पूरा होने से दोहा हो जायगा और यदि १९ गुरु (३८ मात्राएँ) और १० लघु आवें तब भी दोहा पूरा हो जायगा। इसी प्रकार लघु गुरु की अधिकता और न्यूनता के आधार पर इसके बहुत से भेद किए जा सकते हैं। पिंगलाचार्यों ने इनमें से प्रधान २३ को स्वीकार किया है जिनके नाम और मात्राएँ इस प्रकार है[1]—

भ्रमर (२२ग+४ल), सुभ्रामर (२१ग + ६ल), शरभ (२०ग + ८ल), श्येन (१९ग+१०ल), मंडूक (१८ग+१२ल), मर्कट (१७ग + १४ल), करभ (१६ग + १६ल), नर (१५ग+१८ल), हंस (१४ग + २०ल), मदुकल (१३ग + २२ल), पयोधर (१२ग + २४ल), चल (११ग + २६ल), बानर (१०ग+२८ल), त्रिकल (९ग+३०ल), कच्छप (८ग+३२ल), मच्छ (७ग+३४ल), शार्दूल (६ग+३६ल) अहिवर (५ग = ३८ल), व्याल (३ग + ४०ल), विडाल (३ग + ४२ल), श्वान (२ग+ ४४ल), उंदुर (१ग+४६ल) तथा सर्प (४८ल)।

इनमें बहुतों के उदाहरण नीति-काव्य में मिल जाते हैं।

त्रिकल—

आलस तजि रतनावली जथा समय करि काज।
अबको करिबो अबहि करि तबहि पुरै सुष साज ॥[2]

मदुकल—

तुलसी चातक देत सिख सुनहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजियों बिना बारिधर-धार ॥[3]

पयोधर—

केवल गुन ही तें न जस चहिये भाग-सहाय।
फूलत-फलत न देखिये मँहगो पान बिकाय ॥[4]

---

१ प्राकृत पैंगलम में दिए गए २३ नामों में इससे साधारण भिन्नता है।

२ रत्न०, १०१।

३ तुलसी दो०, ३०४।

४ ब्रज सत०, पृ० ४०।

कुण्डलिया—कुण्डलिया एक मिश्र छन्द है। रत्नशेखर सूरि के छन्द कोष तथा प्राकृत पैंगलम के अनुसार कुण्डलिया में पहले दोहा और फिर उल्लाला होना चाहिए। पुरानी कुण्डलिया इसी ढंग की मिलती है। पृथ्वीराज रासो में भी कुण्डलिया का यही रूप है। पर बाद के हिन्दी साहित्य में इसके रूप में परिवर्तन आ गया और उल्लाला के स्थान पर रोला रखा जाने लगा। हिन्दी नीति-काव्य में कुण्डलिया का यही रूप प्रचलित है। इसमें २४, २४ मात्राओं के छः पद होते हैं। आरम्भ में दो पदों का दोहा और फिर चार पदों का रोला। दोहे का अन्तिम चरण या उसका अन्तिम अंश रोले के प्रथम पद का प्रथम चरण या उसका आरम्भि अंश होता है। साथ ही रोले के अन्तिम पद का अन्तिम अंश वही होता है जो दोहे के प्रथम पद का प्रथम अंश। इस प्रकार एक घेरा या कुण्डल बन जाता है। इसी कारण इसे कुण्डलिया (सं० कुण्डलिका) नाम दिया गया है। एक उदाहरण से इसका कुण्डलीवत् रूप स्पष्ट हो जायगा—

जग को घन तुम देत हौ, गँजि कै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे **तापर परे पखान**॥
तापर परे पखान बानि यह कौन तिहारी।
सरित सरोवर सिन्धु तजे इन तुमें निहारी॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिए यहि खग को।
कह्यो रावरी आस जन्म भरि तजि सब **जग को**॥

यहाँ **पहले** छन्द दोहे का अन्तिम चरण 'तापर परे पखान' है फिर दूसरे छन्द रोले का यही आरम्भ हो गया। फिर रोले के अन्त में 'जग को' आया है। यही दोहों के आरम्भ में भी है। वृत्त पूरा हो जाता है। यह जो शब्द या शब्द-समूह दो बार आकर वृत्त पूरा करते है इन्हे 'सिंहावलोकन' या 'मुक्त-पद-ग्राह्य-यमक' कहते हैं।

यह तो रहा नियम और कुण्डलिया नाम को देखते हुए यही उचित है, पर प्रयोग में इसके कई रूप हो गए है। कुछ लोग केवल दोहे के अन्त मे और रोले के आरम्भ में ही सिंहावलोकन रखते है, तो कुछ लोग केवल दोहे के आरम्भ में तथा रोले के अन्त में।

हिन्दी के पिंगलाचार्यो ने कुण्डलिया के भेद नही किए है। इसका प्रधान कारण सम्भवतः यह है कि हिन्दी में प्रायः इसका एक ही रूप[१] अधिक प्रचलित रहा है। राजस्थानी साहित्य में कई प्रकार की कुण्डलियाँ मिलती हैं, जिनमें प्रधान छः हैं। इनमें कुछ के तो नाम भी अलग हैं—'झड़-उलट', 'कुण्डलियो' तथा 'राजवट

---

१ यों अल्प प्रचलित रूप कई हैं।

कुण्डलिया' आदि। इनमें दोहा तो प्रत्येक में रहता है पर रोला के स्थान पर कुछ में अरुण आदि अन्य छन्द भी प्रयोग में आते हैं।

हिन्दी नीति-काव्य में प्रयोग की दृष्टि से कुण्डलिया के कई भेद मिलते हैं। पहला भेद तो शुद्ध कुण्डलिया का है जिसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। कुछ कुण्डलिया इसी रूप में होते हुए भी इससे कुछ भिन्न मिलती हैं। ऊपर की उद्धृत कुण्डलिया में अन्त में तथा आरम्भ में 'जग को' की आवृत्ति हुई है। कभी-कभी एक ही शब्द की आवृत्ति होती है--

प्रथम पंक्ति—**भूले** अब घन ! तुम कितै प्रथमै याको पालि।
अन्तिम पंक्ति—समै न आए काम काम कीनै भ्रमि **भूले**।

कभी-कभी यह आवृत्ति एक दो शब्द की न होकर पूरे चरण की भी हो जाती है पर क्रम उलट कर—

प्रथम पंक्ति—**सांई अवसर के परे** को न सहै दुख कन्द।
अन्तिम पंक्ति—को न करै घटि काम **परै अवसर के सांई**॥

नीति-साहित्य में कुछ ऐसी कुण्डलियों के भी उदाहरण मिल जाते हैं, जिनमे आदि और अन्त की आवृत्ति नहीं मिलती। गिरधर की एक प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

साई बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकस्यप कंश को गयउ दुहुन को राज॥
गयउ दुहुन को राज बाप बेटा में बिगरी।
दुस्मन दावागीर हँसै महि मण्डल नगरी॥
कह गिरधर कविराय युगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने **पाई**॥

यहाँ आरम्भ में "सांई" और अन्त में "पाई" आया है। नहीं कहा जा सकता कि गिरिधर (या उनकी स्त्री) ने यह अपवाद स्वरूप इस प्रकार का छन्द क्यों लिखा ? प्रायः उनकी कुण्डलियाँ ऐसी हैं, जिनमें नियमों का उल्लंघन नहीं हुआ है। साथ ही तुक या भाव की कोई कठिनता रहती तो वह भी बात समझ में आती। यहाँ तो पाई के स्थान पर "सांई" भी आसानी से किया जा सकता है—"पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौन सांई।" न तो छन्द में कोई गड़बड़ी होती और न भाव में। दो ही सम्भावनाएँ हो सकती हैं। या तो रचयिता ने जानबूझ कर नियम का उल्लंघन किया, या फिर उसने "साई" ही लिखा था, पाई पाठान्तर है। खैर जब तक इनका पाठ-निर्णय नहीं हो जाता यह निर्णय तो देना उचित नहीं अतः इसे कुण्डलिया का

एक प्रयुक्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। हरदीन त्रिपाठी ने "सामान्य नीति काव्य' में भी इस प्रकार[1] की कुण्डलियाँ लिखी हैं।

अग्रदास ने भी नीति की कुण्डलियाँ लिखी है। उनका स्वरूप कुछ और भी भिन्न है। एक उदाहरण लीजिए—

अंधा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहात गुरुशिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने।
बुरो विप्र लौं रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै।
अग्र जीव अन्धा तलो बँधै सो बुरे उपाय।
अन्धा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।

अग्रदास की सभी कुण्डलियाँ इसी प्रकार की हैं। यह कुण्डलिया प्रसिद्ध कुण्डलियाँ छन्द से पूर्ण तथा भिन्न है। उसमें छः पंक्तियाँ होती हैं तो इसमें ७ हैं। उसमें १४४ मात्राएँ होती हैं तो इसमें १६८ मात्राएँ हैं। उसमें प्रथम पंक्ति का आरम्भ और अन्तिम का अन्त एक होता है और दूसरी पंक्ति का अन्तिम चरण और तीसरी का प्रथम चरण एक होता है तो इसमें पहली पंक्ति और अन्तिम पंक्ति पूर्णतया एक है तथा पहली पंक्ति का दूसरा चरण दूसरी पंक्ति का पहला चरण है। इस प्रकार कुण्डलीवत् स्वरूप का इसमें बिल्कुल पता नहीं है। साथ ही दोहा के बाद रोला न होकर यहाँ रोला के बाद दोहा है।

हिन्दी नीति-साहित्य में गिरिधर, दीनदयाल, अग्रदास, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा हरदीन त्रिपाठी आदि की कुण्डलियाँ अधिक सुन्दर बन पड़ी है।

छप्पय—छप्पय का भी नीति-काव्य में प्रयोग हुआ है यद्यपि यह वीर रस के अधिक उपयुक्त है। नरहरि तथा बैताल आदि ने छप्पय ही लिखे है। इसमें कुल छः पद (षटपद) होते हैं अतः इसका नाम छप्पय है। पृथ्वीराज रासो में छप्पय छन्द को 'कवित्त' कहा गया है। रूप दीप पिंगल के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले इसका नाम छप्पय न होकर 'कवित्त' ही था। छंदोऽनुशासनम् तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में इसका नाम 'वत्थु' या 'वत्थुवयण' भी मिलता है।

छप्पय में २४, २४ मात्राओं के रोला के चार पद होते हैं और अन्त में उल्लाला के दो पद होते हैं। उल्लाला में कभी तो २६ और कभी २८ मात्राएँ होती हैं। २६ मात्राओं के होने पर छप्पय में कुल १४८ मात्राएँ होंगी और २८ मात्रा के

---

१ सा० नी० काव्य, ३३।

होने पर १५२। लघु और गुरु के आधार पर इसके अजय, विजय, शेष, बल, ताटंक तथा वर्ण आदि ७१ भेद होते हैं।

हिन्दी नीति-काव्य में १५२ मात्रा के छप्पय ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। बैताल का एक छप्पय है—

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू।
बाभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै।
अरु बे नियाव राजा मरै तबै नींद भरि सोइये।
बैताल कहै बिक्रम सुनो एते मरै न रोइए॥[1]

छप्पय के ७१ भेदों की दृष्टि से यह 'शेष' नामक छप्पय है, जिसमें ४६ गुरु ६० लघु और १०६ वर्ण होते है। छप्पय के ७१ भेदों में अन्य बहुतों के उदाहरण भी हिन्दी-नीति काव्य में मिल जाते है।

१४८ मात्रा के अल्प प्रचलित छप्पय का भी उदाहरण देखा जा सकता है—

अग्नि ताहि जल होत सिन्धु सरिता तिहि छन में।
मेरु स्वल्प पाखान सिंह हरिना तिहि बन में।
पुष्पमाल सम होत ताहि अति विषधर व्याला।
अमृत सम ह्वै जात ताहि विष विषम कराला।
नीति ग्रन्थ मत देखिकै श्री शिव सम्पति कवि कहै।
सकल लोक मोहन करन शील जासु तन मे रहै॥[2]

छप्पय के ७१ भेदों की दृष्टि से यह शलभ छप्पय है जिसमें ११० वर्ण, ३८ गुरु तथा ७२ लघु होते हैं।

सोरठा—सोरठा दोहे का ही एक रूप है। किसी भी दोहे को उलट कर सोरठा बनाया जा सकता है। सौराष्ट्र में दोहे का यह उलटा रूप ही प्रचलित था अतः उसी के आधार पर उसका 'सोरठा' नाम पड़ा। इसके सम चरणों के अन्त में जगण का निषेध है। दोहे की भाँति लघु गुरु के आधार पर इसके भी २३ भेद किए जा सकते हैं, यद्यपि इसका अधिक प्रचलन न होने के कारण दोहे के भेदों की भाँति भेदों के नामकरण का प्रयास नहीं किया गया है। यों वे ही नाम इसके भी रखे जा सकते हैं। सोरठा छन्द का प्रयोग अपभ्रंश में भी मिलता है और हिन्दी में

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३६६।
२ वही, २, पृ० १३८-६।

चन्दबरदायी से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों द्वारा यह प्रयुक्त हुआ है। नीति-काव्य में रहीम, जान तथा भगवानदीन के सोरठे अच्छे हैं। रहीम का एक सोरठा है—

ओछे को सतसंग, रहिमन तजहुँ अंगार ज्यों।
तातो जारै अंग, सीरो पर कारो लगै ॥[1]

सवैया—सवैया प्रमुखतः शृङ्गार रस के उपयुक्त छन्द है, पर नीति के लिए भी कुछ लोगों ने इसका प्रयोग किया है। सवैया का उल्लेख प्राकृत पैंगलम से पूर्व किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसके नाम की व्युत्पत्ति संस्कृत 'सपाद' से ज्ञात होती है पर 'सपाद' से इसका क्या सम्बन्ध है स्पष्ट नहीं है। सवैया मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के होते हैं, पर अधिक प्रचलन वर्णिक का ही है।

वार्णिक सवैयों से मदिरा, किरीट, मत्तगयन्द चित्रपदा, मल्लिका, माधवी, दुर्मिल तथा कमला ये आठ भेद प्रसिद्ध हैं। देव ने मंजरी, ललित, सुधा और अलसा नाम के चार और सवैयों का आविष्कार किया था। इनमें कुछ तो सगण, कुछ भगण और कुछ जगण पर आधारित हैं। हिन्दी नीति-काव्य में इनमें से बहुतों के प्रयोग मिलते हैं। दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

मत्तगयन्द (सात भगण, दो गुरु)—

ज्ञान घटै ठग चोर की संगति मान घटै पर गेह के जाए।
पाप घटै कछु पुन्य किए अरु रोग घटै कछु औषध खाए।
प्रीत घटै कछु माँगन तें अरु नीर घटै रितु ग्रीषम आए।
नारि प्रसंग तें जोर घटै जमत्रास घटै हरि के गुन गाए ॥[2]

मदिरा (सात भगया, एक गुरु)—

साँप सुशील, दयायुत नाहर, काक पवित्र औ साँचो जुवारी।
पावक सीतल, पाहन कोमल रैन अमावस की उजियारी।
कायर धीर, सती गनिका, मत वारो कहा मतवारो अनारी।
मोतियराम बिचारि कहै नहि देखी सुनी नरनाह की यारी ॥[3]

नीति के सवैयों में स्खलन भी मिलते हैं। ऊपर उद्धृत सवैया में अन्तिम पंक्ति में देखी मे 'खी' को 'खि' मानने पर ही यह शुद्ध है। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति में मतवारो में 'रो' को 'र' या ह्रस्व ओ के साथ मानने पर ही इसका रूप शुद्ध कहा जा सकता है।

---

१ रहिमन विलास, पृ० २८।
२ कविता कौमुदी, पृ० ५१८।
३ वही।

कवित्त—'कवित्त' शब्द का सम्बन्ध 'कविता' शब्द से है। यह नाम पहले 'छप्पय' का था पर मध्ययुग में एक नए छन्द को यह नाम दे दिया गया। इसे मुक्तक या घनाक्षरी भी कहते हैं। इसमें ३१, ३२ या ३३ वर्ण होते हैं। इसके ९ भेद होते हैं, जिनमें अधिक प्रसिद्ध मनहरण तथा रूप घनाक्षरी हैं। हिन्दी नीति-काव्य में मनहरण का ही प्रयोग अधिक मिलता है। इसमें १६, १५ के विराम से ३१ वर्ण होते हैं तथा अन्त में गुरु होता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

चाहौ धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि,
सुजस सहूर जुत रैयत कों लालियौ।
तोड़ादार घोड़ादार बीरनि सों प्रीति करि,
साहस सों जीति जंग खेत तें न चालियौ।
सालियौ उदंडनि कों दंडिन कों दीजौ दंड,
करिकें घमंड घाव दीन पै न घालियौ।
बिन्ती छत्रसाल करै होय जो नरेस देस,
रैहै न कलेस लेस मेरो कह्यौ पालियौ।[1]

चौपाई—चौपाई का प्रधान प्रयोग हिन्दी के पद्मावत, रामायण तथा कृष्णायन आदि प्रबन्ध-काव्यों में हुआ है। इन प्रबन्ध-काव्यों में ही कहीं-कहीं इस छन्द में नीति और उपदेश की बातें भी वर्णित हैं। प्रायः लोग दो पंक्ति को ही चौपाई समझते है। जैसे—

छुद्र नदीं भरि चली तोराई।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥[2]

पर यथार्थतः यह आधी चौपाई या अर्द्धाली है। पूरी चौपाई में चार पंक्ति होती हैं—

बरषहिं जलद भूमि निअराए।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए।
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के बचन सत सह जैसे॥[3]

इन चार पंक्तियों या पाइयों के कारण ही इसका नाम चौपाई है। चौपाई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती है। चौपाई के अन्त में जगण तथा तगण का निषेध है। चन्दबरदायी से लेकर आधुनिक काल तक चौपाई का हिन्दी में प्रयोग हुआ

---

१ **छत्रसाल ग्रन्थावली**, पृ० ७४।
२ **मानस**, ४.१४.३।
३ **वही**, ४.१४.२।

है। ऊपर तुलसी की नीति-चौपाई उद्धृत है। जायसी का भी एक उदाहरण लिया जा सकता है—

पेम सुनत मन भूलु न राजा।
कठिन पेम सिर देउ तौ छाजा।
पेम फाँद जो परा न छूटा॥
जीउ दीन्ह वहु फाँद न टूटा॥[1]

बरवै—बरवै मूलतः लोक-साहित्य का छन्द है। अवध में आज भी होली आदि के अवसर पर बरवै कहे जाते हैं। 'बरवै' शब्द की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। साहित्य में रहीम ने इसका पहले-पहल प्रयोग किया था। हिन्दी नीति-काव्य में भी इसका प्रयोग हुआ है। आधुनिक नीतिकार कवि महेशचन्द्र प्रसाद ने अपनी पूरी 'स्वदेश-सतसई' इसी छन्द में लिखी है।

बरवै छन्द में दो पंक्तियाँ होती है और प्रत्येक पक्ति में दो-दो चरण, इस प्रकार कुल चार चरण होते है। इनमें विपम अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में बारह-बारह और सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणों में सात-सात मात्राएँ होती हैं। दो उदाहरण है—

एकहि वस्तु कहूँ पर हँस कहुँ रोय।
भाग-फेर ते सुख-दुख पावत सोय॥
पिसत कहूँ खल मों मोती सुकुमार।
कहूँ ताज की सोभा करत अपार॥[2]

बरवै छन्द के अन्त में जगण (।ऽ।) अच्छा लगता है। ऊपर उदाहरण स्वरूप दिए बरवै जगणांत ही है। हिन्दी नीति-काव्य के प्रायः सभी बरवै ऐसे ही हैं। अपवादस्वरूप बहुत ही कम बरबों के अन्त में तगण (ऽऽ।) मिलता है। एक तगणान्त उदाहरण देखा जा सकता है—

मरन सबै कहँ निहचै कला कै आज।
देश-धर्म पै मरतो धरता ताज॥[3]

प्रमुख रूप से उपर्युक्त आठ—दोहा, कुण्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, कवित्त, चौपाई तथा बरवै—छन्दों का ही हिन्दी नीति साहित्य में प्रयोग हुआ है अतः ये हिन्दी नीति-साहित्य के प्रतिनिधि छन्द हैं। पर, इनके अतिरिक्त अन्य बहुत

---

१ जायसी ग्रन्थ०, पृ० १२४।
२ स्वदेश सत०, पृ० ५०।
३ वही, पृ० ८।

से प्राचीन और नवीन छन्दों में भी नीति और उपदेश की बातें मिल जाती हैं। यहाँ उनमें से कुछ प्रमुख का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया जा रहा है।

तोमर—यह १० मात्राओं के चार पदों का छन्द है। प्रत्येक पद के अन्त में गुरु लघु होता है—

पति देइ जो अति दुःख।
मन मानि लीजै सुक्ख॥
सब जगत जानि अमित्र।
पति जानि केवल मित्र॥[1]

विजात—चार पदों का मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक पद में १४ मात्राएँ होती हैं और पदों के आरम्भ में लघु का विधान है—

दाता अलह रहमान रे।
जिन दियो है जिय दान रे॥
बिसरहु न रैन बिहान रे।
यो देत सिष कबि जान रे॥[2]

चौपई—चार पदों का मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक पद में १५ मात्राएँ और पदान्त में गुरु लघु होता है—

सन्त कहै सुनि रसना बात।
जो बिन बोलें रह्यो न जात॥
तौ तू लै करता को नाम।
और छाड़ि दै सिगरे काम॥[3]

पदपादाकुलक—चार पदों का मात्रिक छन्द जिसके प्रत्येक पद में १६ मात्राएँ होती हैं और आदि में द्विकल अवश्य रहता है पर त्रिकल कदापि नहीं रहता—

जिहिं नाम लये सब काज सरैं।
जप तें जम काहे कौ ढील करैं॥
धन ते जु निरंजन नाम करै।
पल में अघ कोटक होहिं परैं॥[4]

---

१ राम चन्द्रिका, ६. १२।

२ जान, सुधासिष।

३ जान, सत्तनावा।

४ जान, बुद्धिदायक। जान की हस्तलिखित पोथी में इस छन्द का 'मोदक' नाम दिया गया है पर यथार्थतः यह मोदक नहीं है। मोदक में चार भगण होते हैं।

रूपमाला—यह २४-२४ मात्राओं के चार पदों का छन्द है। प्रत्येक पद में अन्त में गुरु लघु तथा १४ मात्राओं के बाद विराम आना आवश्यक है—

धन्य साधू-सन्त युग के, धन्य धर्माचार।
धन्य निर्धन से धनिक का, पशु सरिस व्यवहार॥
धन्य है नारी जनों का धैर्य कलि महराज।
धन्य हो तुम क्या न आती तुम्हें कुछ भी लाज॥[1]

रोला—यह २४ मात्राओं के चार पदों का छन्द है जिसमें ११ और १३ के बीच में यति होती है—

दुखड़ा रोवें सती और असती सुख पावें।
अज्ञ बनें धनवान बिज्ञ भूखों मर जावें॥
दुर्जन मक्खन चखें, सुजन हैं सत्तू खाते।
तो भी हे जगदीश, नहीं तुम तनिक लजाते॥[2]

गीतिका—यह २६-२६ मात्राओं के चार पदों का छन्द है। इसके प्रत्येक पद के अन्त में लघु गुरु होता है तथा विराम १४ मात्राओं के बाद आता है—

विश्व का व्यवहार सारा स्वार्थ की है गीतिका।
नहीं मानवता, दया या स्नेह की है रीति का॥
दूर इससे जो रहे वह ही दुखों से दूर है।
और जो नजदीक है वह तो सुखों से दूर है॥[3]

हरिगीतिका—यह २८-२८ मात्राओं के चार पदों का छन्द है जिसमें १६ मात्रा के बाद यति होती है और अन्त में लघु गुरु होता है—

है कार्य ऐसा कौन सा साधे न जिसको एकता ?
देती नहीं अद्भुत अलौकिक शक्ति किसको एकता ?
दो एक एकादश हुए, किसने नहीं देखे सुने।
हाँ शून्य के भी योग से हैं अंक होते दस गुने॥[4]

बीर—यह ३१-३१ मात्राओं के चार पदों का छन्द है जिसमें १६ मात्रा पर यति होती है और अन्त में गुरु लघु आता है—

---

१ नीति छन्द०।
२ सरस्वती भाग १७, संख्या १, ईश्वरता—रामचरित उपाध्याय।
३ नीति छन्द०।
४ भारत भारती पृ० १५०।

चन्दन चन्द उशीर हिमोपल हिम-रजनी भी और कपूर ।
सब मिलकर भी नहीं करेंगे मानव-हृदय-ताप को दूर ।।
पर सपूत जिस कुल में होगा उसका समय आप ही आप ।
पलट जायगा यश फैलेगा मिट जावेगा सब सन्ताप ।।[1]

इसे मात्रिक सवैया भी कहते है ।

त्वरित गति—दस-दस अक्षरों के चार पदों का एक छन्द । इसमें नगण, जगण, नगण और अन्त मे गुरु होता है—

नित पंथहि चलिए । दुख सुख का दलु दलिए ।
तन मन से वहु पति को । तब लहिए सुभगति को ।।[2]

चन्द्रवर्त्म—१२-१२ अक्षरों के चार पदों का छन्द जिसके प्रत्येक पद में रगण, नगण, भगण तथा सगण होते हैं—

राजनीति मत तत्व समुझिये ।
देस काल गुनि युद्ध अरुझिये ।
मित्रिमित्र अरि को गुण गहिये ।
लोक लोक अपलोक न बहिये ।[3]

भुजगप्रयात— १२-१२ अक्षरों के चार पदों का छन्द जिसके प्रत्येक पद में ४ यगण होते हैं—

यहै लोक एकै सदा साधि जानै ।
बली बेनु ज्यों आपु ही ईश मानै ।
करै साधना एक परलोक ही को ।
हरिश्चन्द्र जैसे गये दै मही को ।।[4]

निशिपालिका—१५-१५ अक्षरों के चार पदों का छन्द । प्रत्येक पद में भगण, जगण, सगण, नगण और रगण होते हैं—

गान बिन मान बिन हास बिन जीवहीं ।
तप्त नहिं खाय जल सीत नहिं पीवहीं ।
तेल तजि खेल तजि खाट तजि सोवहीं ।
सीत जल न्हाय नहिं उष्ण जल जोवहीं ।।[5]

---

१ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० २६६ ।
२ रामचन्द्रिका, ९. १३ ।
३ वही, १७. २७ ।
४ वही, १७. २१ ।
५ वही, ९. १८ ।

पद—पर में आरम्भ में एक छोटी 'टेक' होती है और उसके बाद टेक की अपेक्षा लम्बी पंक्तियाँ होती है। प्रायः टेक और अन्य पंक्तियों का तुक एक होता है। यदि टेक में पूरे पद का मुख्य भाव निहित हो तो अधिक अच्छा माना जाता है।

धीरे धीरे धीरे मन धीरे ही सब कुछ होय।
धीरे राज धीरे काज धीरे योग धीरे ध्यान
धीरे सुख समाज जोय।

× ×

तानसेन कहे सुनो शाह अकबर एतो बड़ो राज
एती बड़ी बादशाही धीरे ही ते पाई सोय।[1]

सन्तों ने भी उपदेशात्मक पद लिखे है।

लोकगीत—लोकगीतों के लय पर भी बहुत से नीति के छन्द मिलते हैं। पंडित शिव सम्पति सुजान शर्मा के 'पचरा-प्रकाश' से उदाहरण लिया जा सकता है—

छैला जिनि करु देहियाँ के गुमनवाँ न।
यामें नली-नली सब जोरी॥
देखत हौ जो काली गोरी।
पाँचों तत्वन थोरी थोरी॥
ब्रह्मा करिके मिश्रित विरचे जिव भवनवाँ न।[2]

उर्दू बह्र—आधुनिक युग मे उर्दू बह्रों का भी हिन्दी कविता मे पर्याप्त और कई रूपों में प्रयोग हुआ है। हरिऔध जी का एक 'छपद' है—

उमंगों भरा दिल किसी का न टूटे।
पलट जाँय पाँसे मगर जुग न फूटे॥
कभी संग निज संगियों का न छूटे।
हमारा चलन घर हमारा न लूटे॥
सगों से सगे कर न लेवें किनारा।
फटे दिल मगर घर न फूटे हमारा॥[3]

उन्हीं का एक चौपदा है—

धन विभव की बात क्या जिनके बड़े।
रज बराबर थे समझते राज को॥

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २४०।
२ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० १३५।
३ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १२७।

है तरस आता उन्हीं के लाड़िले।
हैं तरसते एक मूठी नाज को॥[1]

शेर रूप में भी प्रयोग मिलते हैं—

बुरा भी आदमी ही है, किसी कारण से ऐसा है।
न क्यों कारण को उस काटो घृणित वह किस वजह से है॥[2]



१ चुभते चौपदे, पृ० १०१।
२ नीति छन्द०।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हिन्दी नीति-काव्य का अध्ययन किया गया है। यों तो प्रबन्ध में बीच-बीच में यथास्थान निष्कर्षस्वरूप बातें कही गई हैं, पर यहाँ अन्त में पूरे अध्ययन को दृष्टि में रखते हुए कुछ निष्कर्ष दिये जा सकते हैं।

हिन्दी के नीति-काव्य में भाव एवं कला दोनों ही दृष्टियों से मौलिक उद्भावनायें कम ही हैं। हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य ही नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, जिसके प्रधान स्तम्भ रहीम, तुलसी, वृन्द, दीनदयाल तथा गिरिधर हैं, और सभी हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों, विशेषतः संस्कृत के बहुत ऋणी हैं। सन्त कवियों की साखियाँ तथा कुछ आधुनिक कवियों के नीति अंश इसके अपवाद अवश्य हैं, जिनमें नीति-पाँति, धर्माडम्बर, राष्ट्रीयता, श्रम तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य आधुनिक विषयों से सम्बद्ध नीति की बातें मौलिक हैं, पर इनकी संख्या अत्यल्प है और साथ ही ये विषय सामान्य नीति विषयों में गौण स्थान रखते हैं, प्रमुख नहीं। इसके अतिरिक्त जिन के कवि भी हिन्दी नीति-काव्य के प्रतिनिधि कवि नहीं हैं। अतएव यह निष्कर्ष निकालने में हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि हिन्दी का नीति साहित्य प्रमुखतः अपने पूर्ववर्ती साहित्यों, विशेषतः संस्कृत के नीति के कवियों के अनुभवों पर ही आश्रित है। पर, इसके लिए हम हिन्दी के नीति के कवियों को अमौलिक या परानुभवी होने का दोषी नहीं ठहरा सकते। सच पूछा जाय तो भारतीय समाज में नीति के प्रधान विषयों के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से ही कुछ बँधे-बँधाये दृष्टिकोण चले आ रहे हैं और वे आज भी लगभग उसी रूप एवं अंश में मान्य हैं। इनमें बहुत से तो आज भी रूप से विश्व के सभी सभ्य राष्ट्रों में मान्य हैं। इधर नवीन आर्थिक व्यवस्था और तदनुकूल जीवन-दर्शन तथा पश्चिम के सम्पर्क से हमारे दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं, पर उनकी बहुत कम ही उपलब्धियाँ इतनी निश्चित हो सकी हैं, जो धर्म, व्यवहार या अन्य विषयक नीतियों के रूप में हमारे जीवन पर छा सकें। ऐसी स्थिति में नीति के सामान्य विषयों के सम्बन्ध में हिन्दी के नीतिकारों के लिए संस्कृत आदि के कवियों का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं रहा है।

नीति साहित्य की बातें परम्परा से आते हुए अनुभवों पर आधारित हैं और इसी कारण जीवन के लिए बड़ी ही उपयोगी हैं, पर उनको जीवन में उतारने के लिए बड़ी ही सावधानी एवं सतर्कता की आवश्यकता है। पीछे धर्म, व्यवहार तथा राज्य-

व्यवस्था विषयक नीतियों में ऐसी बहुत सी बातें मिली हैं, जो एक दूसरे की विरोधी हैं। इनमें कुछ तो असत्य हो सकती हैं और ऐसी बातों का निराकरण यथास्थान कर दिया गया है, पर अन्य बहुत सी ऐसी हैं जो विरोधी होते हुए भी अपने-अपने स्थानों पर सत्य हैं। ऐसी नीतियों का अंधानुकरण न करके परिस्थिति, स्थान, काल तथा व्यक्ति के सन्दर्भ में इन्हें समझकर अनुसरण करना श्रेयस्कर होता है। कुछ बातें नये वातावरण में पुरानी भी हो सकती हैं और उनका अनुसरण करने में भी विवेक अपेक्षित है। संसार में शायद ही कोई ऐसा सिद्धान्त हो, जिसका अंधानुकरण लाभकर हो। नीति में कही गई सभी बातों के सम्बन्ध में इसका ध्यान रखना चाहिये और इस दृष्टि से नीति में बतलाई गई बातों को लचीली समझना चाहिये।

नीति-काव्य में जितने भी सिद्धान्त अपनाये गये हैं, बहुमत के आधार पर। उनके अपवाद मिल सकते हैं, पर उन अपवादों के आधार पर उन सिद्धान्तों का असत्य कहना समीचीन नहीं।

कला की दृष्टि से हिन्दी का नीति साहित्य बहुत ही सफल है, इसी कारण यह इतना लोकप्रिय है। इसमें भाषा, शैली, अलंकरण विधान तथा छन्द सभी ऐसे रखे गये हैं जो अभिव्यक्ति को पूर्णता पर पहुँचाकर प्रभविष्णुता में सहायक हो सकें।

अन्त में इतना और जोड़ देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य सम्बन्धी हमारे संस्कारों के कदाचित् अत्यधिक सुसंस्कृत और नूतन हो जाने के कारण अब इस रूप में नीति-काव्य के विकास की सम्भावना बहुत कम रह गई है। कहना अप्रासंगिक न होगा कि नीति-काव्य-धारा ने यदि कोई नूतन रूप नहीं अपनाया तो उसे मात्र इतिहास की चीज रह जाना पड़ेगा।